श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१	श्रीमान् सेठ भवरीलाल जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२	,, वर्णीसघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,, मित्रसैन नाहरसिह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,, दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,, केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,, सेठ गैदामल दगडूशाह जी जैन,	सनावद
१४	,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,, मत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,, बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,, विशालचन्द जी जैन रईस,	सहारनपुर
२०	,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसघी,	जयपुर
२२	,, मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,, बा० गिरनारीलाल चिरजीलाल जी जैन,	,,
२५	,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	,,

२६	श्रीमान् सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,, सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बडौत
२८	,, गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर,	कानपुर
३०	,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	श्रीमती संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी,	,,
३२	श्रीमान् नेमिचन्द जी जैन, रुडकी प्रेस,	रुडकी
३३	,, झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,, रोशनलाल के० सी० जैन,	,,
३५	,, मोल्हडमल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	,,
३६	,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	श्रीमती माता जी धनवती देवी जैन, राजागंज,	इटावा
४०	श्रीमान् ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"	रुडकी
४१	,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन,	चिलकाना
४२	,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन,	,,
४३	,, हुकमचंद मोतीचंद जैन,	सुलतानपुर
४४	,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४६	श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी	सुलतानपुर
४७	श्रीमान् ※ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४८	,, ※ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा,	झूमरीतिलैया
४९	,, ※ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या,	जयपुर
५०	,, ※ बा० दयाराम जी जैन आर एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
५१	,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
५२	,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामोंके पहले ※ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये है, शेष आने है तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है ।

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान ।
मै वह हूं जो है भगवान, जो मै हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

खि दु:ख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
सुनजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मै जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

•••ㅇOㅇ•••

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरो पर निम्नांकित पद्धतियो मे भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोतावो द्वारा सामूहिक रूपमे ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रो द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमे एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषो द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओ द्वारा ।

पञ्चास्तिकाय प्रवचन चतुर्थ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

"अजीवाधिकार"

खधा य खधदेसा खधपदेसा य होति परमाणू ।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥७४॥

अजीवाधिकारमें पुद्गलद्रव्यका वर्णन व आत्मप्रयोजन—इस ग्रन्थमें पूर्व रंगके बाद जो मुख्य वक्तव्य था जीवास्तिकायका, उसका वर्णन किया । अब उस ही जीवास्तिकायमें शुद्ध सुदृढ़ स्थिति करनेके लिए जिन पदार्थोंसे हमे हटना है उन पदार्थोंका वर्णन इस अजीवाधिकारमे किया जा रहा है । अजीव वह है जो जीव नही है । जीव वह है जो मेरे द्वारा मेरेमे सहज अनुभव होता है । उस अजीव तत्त्वके, उस अजीव अस्तिकायके चार भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश । कालद्रव्य अस्तिकायमे नही है, लेकिन वह भी अजीव है । उनमेसे पुद्गल द्रव्यास्तिकायके वर्णनमे यह पहिली गाथा है । पुद्गलद्रव्य स्कध, स्कधदेश, स्कधप्रदेश और परमाणु—इस प्रकार चार भेद वाले है । इनका सक्षेपमे अर्थ है जो भी एकप्रदेशी पुद्गल है परमाणु वह तो है और उससे बढकर जो अनेक परमाणुवोका पुञ्ज है, किन्तु किसी विवक्षित स्कधके आधेसे आधा है कमसे कम, उसका नाम स्कध प्रदेश है, और जो विवक्षित स्कंध से आधा है उसका नाम है स्कधदेश, और जो स्कध विवक्षित है वह स्कध है ।

भौतिकवादमे पृथ्वीका लक्षण—इस प्रसगमे कुछ दार्शनिकोने चार चीजे मानी है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु । जो कुछ भी ये दृश्यमान है वे सब इन चारोमे शामिल है । उनमे जो कुछ भी मैटर है, दृश्य हो अथवा न हो, किसी प्रकार इन्द्रियसे ज्ञात हो वे सब चार प्रकारके है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु । वनस्पतिका शरीर भी पृथ्वी है उस दर्शनमे ।

जा पिण्डरूप हो, जिसमे गध हो वे सब पृथ्वीकाय है, यह उनका पृथ्वीका लक्षण है। वनस्पतिकाय पिण्डरूप है, इसमे गध है, ये सब दृश्य है। मनुष्यका शरीर, पशु-पक्षियोका शरीर ये सब पृथ्वी है। कभी जलमे बास आने लगती है, सड गया जल, गध आती है तो वह गध जलकी नही है, किन्तु उस जलसे जो और पृथ्वी मिली हुई है वह सड गयी है उसकी गध है। व्यवस्था अपनी सीमामे यह भी अच्छी है।

भौतिकवादमे जल, अग्नि, वायु तत्त्वका लक्षण—जलका लक्षण है जिसमे रस हो। किसी पृथ्वीका टुकडा खाकर, फल वनस्पति खाकर रसका स्वाद आता है तो जो रस है वह तो जल है और जिसमे गध है वह पृथ्वी है। अग्नि तत्त्वमे रूप रहता है। जो रूप है वह अग्नि तत्त्व चीज है और वायुमे स्पर्श रहता है। जिसमे स्पर्श हो वह वायु है। सब कुछ दृश्य और अदृश्य इन चारोमे गर्भित हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। और इसी कारण दुनिया मे केवल चार ही तत्त्व है, ५वी चीज कुछ नही है।

भौतिकवादमे प्रयोजन—यह चार्वाक या चारुवाक दर्शनकी चीज चल रही है। चारु मायने मीठा, वाक मायने बोलना, जो बहुत मीठा बोले उसका नाम चारुवाक है। भला बतलावो ये वचन किसे पसद न होगे ? जहाँ कहा कि दुनियामे केवल ४ चीजें है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। जीव, आत्मा कुछ नही है। ये चारो मिलकर एक ऐसी बिजली चलती है कि इसमे जानने जैसी कला आ जाती है, और जब यह बिखर जायेंगे तब वह भी कुछ न रहेगा। इसलिए जब तक यह जीवपना है तब तक खूब खावो, पीवो, चाहे कर्जा भी लेना पडे, खाने-पीनेमे कसर न रखो, खूब आराम भोगो। खूब इसे शरीरको पुष्ट करो, खूब मौज करो। ऐसी बाते आप लोगोको सुहाती है कि नही ? शायद न सुहाती हो, पर जिन्हे ये वचन सुनावेंगे उन्हे बडे प्रिय लगेंगे। तो ऐसे सुन्दर मीठा बोलने वालेको चारुवाक कहते है। लेकिन तर्क शास्त्रपर जरा कसकर तो निरखो।

जातिकी लक्षणपद्धति—जातिका लक्षण वही सही है जहाँ जो लक्षण अपनी समग्र जातिकी व्यक्तियोमे तो रहे और उसके अतिरिक्त अन्यमे न रहे। क्या कोई सदृशता ऐसी है जो इन चारोमे पायी जाय। एक तो यह खोज कीजिए। दूसरे यह देखिये कि पृथ्वी, जल तो नही बन जाता, कभी जल वायु तो नही बन जाता, कभी वायु जल तो नही बन जाता, कभी पृथ्वी आग तो नही बन जाती। अगर बन जाय तो फिर ये चारो अलग-अलग जातिके ठहरे। जो पदार्थ जिस तत्त्वमे है वह पदार्थ कभी भी अपनी जातिको छोडकर अन्य रूप नही बन सकता। लेकिन दिखनेमे तो यह सब कुछ आ रहा है। पृथ्वी आग बन जाती है, जल हवा बन जाता, हवा पानी बन जाती। इस कारण चारो स्वतन्त्र तत्त्व नही है। वर्तमान सीमाके लिए तो किसीको भी जाति बना सकते। गेहू भी पचासो जातिके होते है। मनुष्य भी हजारो

जातिके होते है । अपनी सीमामे आने प्रयोजनके लिए जातिका कुछ भी लक्षण बना लो सकुचित, लेकिन मूल जाति, मूल लक्षण तो नही होगा जो सबमे व्यापे और उन्हे छोडकर अन्यमे न व्यापे । और साथ ही उन व्यक्तियोमे अपने आपमे अदल-बदल तो हो जाय, मगर अन्यसे अदल-बदल न करे । जातिका मूल लक्षण ऐसा ही होगा ।

पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुके कायकी पौद्गलिकता—ये चारोके चारो रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है । ऐसा नही है कि पृथ्वीमे केवल गध हो, जलमे केवल रस हो, अग्निमे केवल रूप हो और वायुमे केवल स्पर्श हो । यद्यपि शीघ्रतासे जो कुछ ग्रहणमे आता है वह इस ही प्रकार प्राय. आता है, लेकिन पृथ्वीमे गधके अलावा स्पर्श भी नजर आता है, रस और रूप भी नजर आता है । जिसमे प्रत्यक्षसे दूसरा कोई नही ज्ञात होता है वहाँ भी शेप गुण है । हवामे स्पर्श है तो रूप, रस और गध भी है । अग्निमे रूप है तो रस, गध और स्पर्श भी है । जलमे रस है तो गध, रूप, स्पर्श भी है । जहाँ इन चारो गुणोमे एक भी गुण पाया जाय वहाँ चार ही रहते है । ये चारो चीजे एक पुद्गल जातिमे गर्भित होती है । पुद्गलका यह लक्षण है कि जो मिलकर बडा हो जाय और बिखरकर हल्का हो जाय उसे पुद्गल कहते है, देखो यह लक्षण इन चारोमे घटित हो जाता है । पृथ्वीके स्कध भी मिलकर बडे हो जाते है और बिखरकर सूक्ष्म हो जाते है, ऐसे ही जल, अग्नि और वायुमे भी वही पद्धति है । ये चारो पुद्गल जातिमे है और इसी कारण जल वायु बने, वायु जलका रूप रख ले, ये सब परिवर्तन हो सकते है । जातिके जातिमे परिवर्तन हुआ करते है, विजातीय रूपसे परिवर्तन नही होता । यो ये सब एक पुद्गल जातिमे आते है ।

पृथिव्यादि तत्त्वोका परस्पर व्यक्तिपरिवर्तन—एक अनाज जौ होता है, उससे बहुत हवा बनती है । यद्यपि वह पशुवोके खानेकी चीज है, पर बहुतसे मनुष्य भी उसे खाते है । वह जो चार्वाकदर्शनमें पृथ्वी है । जौ खा लेनेपर हवा बहुत बनती है और हवा खिरती भी है । पेटमे गुडगुडाहट हो, नीचे ऊपर पेटमे आवे जावे तब यह मनुष्य उसमे पीडा मानता है । वह वायु खिरती है, तो उस जौ के दानेमे यदि स्पर्श न होता तो उस दानेमे कभी यह वायुके रूपमे यह स्पर्श न आ सकता था याने जल वायु न बन पाती । जगलमे बास खडे रहते है, उनकी रगडसे स्वय ही उनमे आग पैदा हो जाती है । तो उनमे यदि रूप तत्त्व न होता, अग्नितत्त्व न भरा होता तो यह अग्नि कहाँसे प्रकट होती ? चन्द्रकान्तमणिसे जल ढलने लगता है और आजके वैज्ञानिक तो जलसे हवा, हवासे जल यह प्रकट आविष्कृत कर दिया करते है तो ये जातिया स्वतत्र नहीं है ।

जीवतत्त्वकी महाभूतोसे विभक्तता—अब जीवतत्त्वपर दृष्टि दो तो विदित हो जायगा कि यह जीव इन चारोके सघर्षसे उत्पन्न नही होता है । ये चारो ज्ञानरहित है । ज्ञानरहित ४ क्या अनन्त जुड जायें तो भी ज्ञानरहित अनन्तके प्रयोगसे ज्ञान वाली वस्तु उत्पन्न नही हो

सकती। यह ज्ञान वाली वस्तु, जीवतत्त्व इन चारोसे पृथक् है।

अजीवोमें पुद्गलद्रव्यके प्रथम वर्णनका प्रयोजन—इन अजीव पदार्थोंमे सर्वप्रथम वर्णन पुद्गलद्रव्यका इसलिए करते है कि हम आपकी पहिचान अधिकतर पुद्गलके साथ है। धर्म अधर्म आदिकके तो कोई नाम भी नही जानते होगे। कुछ ही लोग समझते हैं। आकाश कालकी तो चर्चा ही क्या करे ? इनसे कुछ सुधार बिगाड नही होता। हमारा काम तो सब पुद्गलके आश्रयसे चल रहा है और इस समय जितना सुख अथवा दु ख माना है वह सब पुद्गलद्रव्यके कारण माना है। पुद्गलद्रव्यके आलम्बनसे जितने भी परिणमन होते है वे सब क्लेशरूप होते है। उस क्लेशरूप परिणामनके कल्पनावश दो भाग कर दिए है—एक सुख और एक दुःख। दोनो ही वस्तुत॰ क्लेश है। वह सुख क्या सुख है जिसके बाद फिर दु.ख हो ? अज्ञानी लोग मोहमे रागमे बँधे पडे है और कुछ विषयोंके साधन पुण्यानुकूल मिल गए है तो उनमे मस्त हो रहे है, अपना बडप्पन महसूस करते है। परवस्तुवोंके प्रति व्यामोह करके अपनेको लोग सुखी मानते है, किन्तु इस सुखके बाद एकदम अचानक विपरीत दशा आयगी। उसमे यह बडा दु ख अनुभव करेगा और जितना सुख माना था उससे कई गुणा दु खी होना पडेगा। इस सुखके फलमे निकट भविष्यमे दु'खी होगे नियमसे और भविष्यमे दुःखी होंगे, इतनी ही बात नही किन्तु वर्तमानमे भी जब यह मोही सुख अनुभव कर रहा है तो वह क्षोभपरिणामको लिए हुए रहा करता है। यह क्षोभ ही क्लेश है। तो हमारे सुधार बिगाडमे इन पुद्गलोका सम्बन्ध और असम्बन्ध कारण पडता है, इस कारण जीवतत्त्वके बाद पुद्गलद्रव्यका वर्णन किया जाता है।

कायप्रकारोके वर्णनका प्रयोजन तात्कालिक भेदप्रदर्शन—जाति अपेक्षा चारुवाको ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार भेद किए है। उस दृष्टिसे कायके भेद किए जायें तो ६ होते है——पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, बनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी से जैसे जल, अग्नि वायु नही मिलते जुलते हैं, इनका भेद प्रकट नजर आता है ऐसे ही त्रस-काय और वनस्पतिकायका भी प्रकट भेद नजर आ रहा है। क्या पेडका शरीर व हमारा शरीर एक ही प्रकारका है ? उनमे फर्क है, अगोपाङ्गका फर्क है, कोमल नरमका फर्क है, इसमे हड्डी है उसमे नही। अनेक तरहके भेद है। तो इस दृष्टिसे ये ६ भेद हुआ करते है। और यदि मिलाना है एक मानना है तो एक माननेके भी अनेक उपाय बन सकते है और वैसे तो ऐसा निरखने लगो कि यह आदमी उल्टा पेड है। पेडोमे ऊपर शाखायें होती हैं और नीचे जडें होती है। पेड नीचेकी जडोसे जल हवा इत्यादि खीचकर आहार करते हैं और इस मनुष्यकी शाखायें ये पैर और हाथ है और यह शिर जड है। इस जडसे अर्थात् मुखसे अन्न जलका आहार करता है। तो किसीको किसीमे मिलाना है, एक करना है तो चलो पेडको

और आदमीको भी एक किया जा सकता है। फर्क इतना है कि पेड सीधा है और आदमी उल्टा है तो यो अटपट कुछ एकता करनेकी बात और है, पर सही-सही मायनेमे विवेकपूर्वक भेद किया जाय तो मूल तो सब पुद्गल है। ये छहो काय सभी पुद्गल है, पर इनका परस्पर मे तात्कालिक भेद समझमे आये उस दृष्टिसे ये ६ भेद है।

पुद्गलके पिण्डरूपमे प्रकार—ये पुद्गल कभी स्कधरूपसे परिणमते है और कभी स्कध देश पर्यायसे परिणमते है, कभी स्कध प्रदेश पर्यायसे परिणमते है और कभी परमाणुरूप से ही इस-लोकमे ठहरा करते है, इन चार विकल्पोके सिवाय अन्य गति पुद्गल कायकी नही है। भेद करनेके कुछ प्रयोजन हुआ करते है। और जो प्रयोजन रखकर भेद किया जाता है उसके अनुसार भेद होता है। यह प्रयोजन केवल पुद्गल द्रव्यसे अपनेको हटाने और आत्म-तत्त्वमे लगनेका है। हटानेकी बात सीधी एक व्यक्ति व पिण्डरूपसे हुआ करती है। हटनेका जब लक्ष्य होता है तो जिससे हटना है उसे पिण्डरूपमे, व्यक्तिरूपमे निरखा जाता है। हटो जी, इसे हटावो। कोई चीज बेस्वादकी बन गयी है, मानो खीर कडुवी हो गयी है, विरस हो गई है इस कारणसे वह अनिष्ट हो गयी। मगर जिस समय कोई उसके प्रति यो बोलता है कि इसे हटावो, तो उस समूचेको पिण्डरूपमे निरखकर कहता है। यद्यपि प्रयोजन विरसता का है मगर क्या यो कहते है कि इसकी विरसता हटावो। वह तो समूचे उस पिंडको ही कहता है कि इसे हटावो। तो पुद्गलद्रव्यसे हमे हटना है तब हम वहाँ एक पिंडरूपसे तक रहे है। इस कारण ये चार भेद पिण्डके भेदसे किये गए है। जो पूर्णपिंड है वह स्कध है और जो उसका आधा है वह स्कधदेश है। उसका आधा बने तो स्कध प्रदेश है। अब इसके बीच मे भी उन्हे समझ लो और एकप्रदेशी परमाणुमात्र रह जाय तो वह परमाणु कहलाता है।

परमाणुमे द्रव्यत्वकी यथार्थता—यद्यपि वस्तुतः एक परमाणु ही पुद्गलद्रव्य है, क्योकि एक कहते उसे है जिसमे कोई भी परिणमन जिस पूरेमे होना ही पड़े और जिससे बाहर कभी न हो, वह एक चीज होती है। जैसे कोई कपड़ेका एक छोर जल रहा है, बाकी अभी नही जल रहा है तो वह कपडा एक नही है। एक वही होता है कि उस ही समयमे वह परिणमन जितने पूरेमे होना ही पडता है। इस दृष्टिसे एक पुद्गल परमाणु ही वास्तवमे द्रव्य है। जो कुछ भी होगा वह उस ही समयमे पूरेमे होगा ही। जैसे कि आत्मा एकप्रदेशी है, हम आप सब एक-एक है, किन्तु जब विचार सुख दुःख राग ज्ञान जो कुछ भी परिणमन होता है उस कालमे वह परिणमन इस पूरे समग्र आत्मामे होता है और इससे बाहर कही अन्य जगह नही होता। ऐसे ही इस पुद्गलमे परिणमन जहाँ ही पूरा हो और जिससे बाहर कभी न हो वह एक है। यो वस्तुतः पुद्गलद्रव्य तो परमाणु ही है, किन्तु जो पूरे और गले अर्थात् जिसमे पूरण और गलनका स्वभाव है उसे पुद्गल कहते है। इस पुद्गलत्वकी दृष्टिमे रखकर

ये सभी स्कध पुद्गल कहलाते है और इसे उपचारसे पुद्गल कहा जाता है। जीवोमे ऐसा नही होता कि कोई जीव मिलकर एक बन जाय। अन्य द्रव्यमे भी ऐसा नही होता कि वे बहुतसे मिलकर एक बन जायें, किन्तु पुद्गलमे यह बात पायी जाती है कि वे बहुतसे मिलकर एक पिण्ड बन जाते है। यो पिण्डकी दृष्टिसे ये चार प्रकारके विकल्प किए गये।

पौद्गलिक प्रकरणसे प्राप्तव्य शिक्षा—इस प्रकरणको पढकर हमे इतनी शिक्षा लेनी है कि ये सभी तत्त्व पुद्गल हेय है। उपादेयभूत अनन्त आनन्दमय शुद्ध जीवास्तिकायसे इन सबका विलक्षण स्वरूप है, इनसे मेरा हित नही, ये सब पृथक् है, ऐसा जानकर उनकी उपेक्षा करके एक निज शुद्ध जीवास्तिकायमे उपयोग लगाना चाहिए और यह उपयोग लग सकेगा शुद्ध जाननमात्र स्वरूपको उपयोगमे लगानेसे। हम इन पुद्गलद्रव्योकी उपेक्षा करें और ज्ञानमात्र निज जीवास्तिकायमे उपयोगी बनें।

खध सयलसमत्थ तस्स दु अद्ध भणति देसोत्ति।
अद्धद्ध च पदेसो परमाणु चेव अविभागी ॥७५॥

चतुर्विध पुद्गलोका संक्षिप्त स्वरूप—इस गाथामे पुद्गल द्रव्यके जो पहिले चार भेद किए गये थे उनका स्वरूप है। अनन्त परमाणुवोका मिलकर जो पिण्ड होता है अथवा जो विवक्षित पिण्ड होता है उसे स्कध कहते है और उस पुद्गल स्कधका आधा भाग स्कध देश कहलाता है और उस स्कध देशसे भी जो आधा भाग है वह स्कध प्रदेश कहलाता है और जिसका दूसरा भाग न हो सके उसका नाम पुद्गल परमाणु है।

परमाणुवोके संघातका कारण—मूलमे तो पुद्गल परमाणु है जो कि स्वतत्र एक पुद्गलद्रव्य है और वह एकप्रदेशी है। सभी पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, इस कारण पुद्गल परमाणुमे भी उसमे उत्पाद हो, व्यय हो, ध्रौव्य हो, यह तो बन गया। पदार्थमे छह साधारण गुण है अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व। इन गुणोके कारण जैसी सभी द्रव्योकी व्यवस्था है वैसे ही पुद्गलकी व्यवस्था है। पदार्थमे यह शक्ति पडी है कि वह पदार्थ है तथा वह अपने रूपसे है, पररूपसे नही। तीसरी बात—यह पदार्थ सदैव परिणमता रहता है। चौथी बात—वह अपने ही गुणोमे परिणमता है परके गुणोमे नही परिणमता। ५वी बात अपने प्रदेश रखता है, चाहे कितने ही प्रदेश हो और छठवी बात—किसी न किसी ज्ञानके द्वारा यह प्रमेय है। इन ६ साधारण गुणोके कारण जैसे अन्य पदार्थ परिणमते रहते है, बने रहते है, ऐसे ही ये पुद्गल परमाणु भी परिणमते रहते हैं, और बने रहते है। इन ६ साधारण गुणोमे ऐसा कोई गुण नही नजर आया जिससे यह अवस्था बने कि कुछ परमाणु मिलकर स्कध बन जाते हैं। स्कध बननेका कारण यह साधारण गुण नही है स्कध होनेका कारण है, योग्य स्निग्ध और रूक्ष परिणमन। कैसी प्राकृतिकता है कि कोई पर-

माणु स्निग्ध है, कोई रूक्ष है, उसमे २ गुण अधिक हो तो वे परमाणु परस्परमे बँध जाते है ।

बन्धन—लकडियोका गट्ठा बाँध दिया, वह बधना क्या बधना है ? वहाँ तो वे प्रकट न्यारी-न्यारी है । बधी हुई हालतमे भी उन्हे गिन लो । घासका बधा हुआ गट्ठा है वह बधना क्या बन्धना है ? यद्यपि घास इस तरह मिली हुई है कि आप उसे गिन नही सकते फिर भी वह बधना क्या बधना है ? दूध और पानी एक भी मिल जायें तो भी वे अलग-अलग है । यन्त्रो द्वारा उन्हे अलग-अलग जान लिया जाता है । वह दूध और पानीका बधना भी क्या बधना है ? बन्धन तो परमाणु परमाणुवोका है । स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण जो परमाणुवोमे बन्धन होता है वह ऐसा विकट बन्धन होता है कि जो हीन गुण वाले परमाणु है वे अपने गुण परिणमनको छोडकर जो कि पहिले था दूसरेके अनुरूप परिणम जाता है । जैसे कोई परमाणु २२ डिग्रीका स्निग्ध है और कोई परमाणु २० डिग्रीका रूक्ष है, अब इन दोनोका बन्धन होनेसे जो भी पिड बनेगा वह साराका सारा स्निग्ध परिणमन वाला बनेगा, इसका नाम है बन्धन । ऐसा अन्य पदार्थमे कही नही है कि कोई पदार्थ किसी पदार्थसे मिल गया तो उस बधनके कारण कोई पदार्थ बिल्कुल अपना रूप ही बदल दे । यहाँ परमाणुवोका स्कंध बन जाता है । तो अणुवोसे स्कध बन जाय यह मिलनेसे हुआ करता है ।

स्कन्धकी उत्पत्ति—स्कन्धकी उत्पत्ति सघातसे होती है, पर कही स्कधोमे ऐसा भी हो जाता है कि कुछ परमाणु विघट रहे है और कुछ मिल रहे है तो इस स्थितिमे भी स्कध बनता है इसे कहते है भेदसघात याने उभय । सघातसे भी स्कध होता है और भेदसघातसे भी स्कध होता है, पर भेदसे स्कध नही होता है, क्योकि भेदमे अलग ही अलग करनेकी बात है । अब जब तक एक परमाणु है तब तक परमाणु है, जहाँ २ परमाणु मिले तो उसका नाम स्कधप्रदेश हो गया । आगे स्कन्धदेश फिर स्कन्ध भी हो जाता है ।

पुद्गलोकी चतुर्विधताका एक लोकदृष्टान्त—अब कोई भी विवक्षित पदार्थको दृष्टान्त मे ले लो । चौकी, कपडा, घडा कुछ भी दृष्टान्तमे ले लो, वह अनन्त परमाणुवोको मिलकर स्कध बना हुआ है । वह तो है स्कध और जब बिखर-बिखरकर वह आधा रह जाय, आधे परमाणु अलग हो जायें तो उसका नाम होता है स्कधदेश । अब स्कधदेशसे ऊपर और उस समस्त स्कधसे नीचे बीचमे जितने भी स्थान होगे वे सब स्कध कहलायेंगे । अब उस आधे स्कधसे विघटकर उसका भी आधा रह जाय तब उसका नाम है स्कधप्रदेश । इस स्कधप्रदेशसे ऊपर और स्कधदेशसे नीचे जितनी भी उस पिण्डकी हालतें है वे सब स्कधदेश कहलायेंगे और स्कधप्रदेशसे नीचे एक परमाणुसे ऊपर जितने भी विकल्प होगे वे सब स्कधप्रदेश होंगे ।

गणनात्मक पद्धतिसे पुद्गलोका एक दृष्टान्त—पुद्गलके इन भेदोको समझनेके लिये एक दृष्टान्त लो । जैसे कोई १६ परमाणुवोका पिण्ड रूप स्कध है यह स्कध आँखो दिख

सकता है क्या ? वह तो दूरबीनसे देखनेपर भी नजर न आयेगा । दूरबीनसे देखनेपर अनन्त परमाणुवोंका पिण्ड ही नजर आ पायगा । अच्छा तो गणनासे ऊपर असंख्याते परमाणुवोका पिण्ड हो तो नजर आयगा क्या ? वह भी नजर न आयगा । अनन्त परमाणुवोका पिण्ड दृष्टिगोचर हुआ करता है, पर दृष्टान्तमे १६ परमाणुवोका पिण्ड लिया जाय जल्दी हिसाब लगे इसलिए । तो १६ परमाणुवोका पिण्ड स्कध कहलाया और एक-एक परमाणु उसमेसे खिरे और जब तक ६ परमाणुवोका पिण्ड रहे तब तक वह स्कध है । ८ परमाणुवोका पिण्ड होने पर वे स्कधदेश हो जाते है । अब उसमे भी एक-एक परमाणु जुदा हो और जब इसके ५ परमाणुवोका पिण्ड रहे तब तक वे सब विकल्प स्कन्धदेश कहलाते है । जब ४ परमाणुवोका पिण्ड हो जाय तो उसका नाम स्कन्धप्रदेश है । सो दो अणुवोंके पिण्ड तक स्कधप्रदेश कहलाते है । पर परमाणु अविकारी होते है ।

पदार्थकी अविभागिता—जो अविभागी हो वह एक सत् कहलाता है । जैसे हम आप एक-एक जीव है ये सब अविभागी है । ऐसा न होगा कि इसका जीव आधा तो यहाँ रहे और आधा कही दूसरी जगह चला जाय । समुद्घात अवस्थामे आत्माके प्रदेश शरीरका आधार न छोडकर बाहर भी फैल जाते है, लेकिन शरीरसे लेकर बाहर जहाँ तक भी फैला है तहाँ तक वे सब द्रव्य एक अखण्ड रहा करते है । कोई छिपकलीकी लडते-लडते पूछ कट जाय तो पूछ बाहर तडफती है और देहका आधा भाग बाहर तडफता है । इसका कारण है कि अभी वेदना की वजहसे पूछ तक उसके प्रदेश पडे है, लेकिन ऐसा नही है कि कुछ प्रदेश पूछमे है, कुछ प्रदेश शरीरमे है और बीचमे कुछ नही है । अरे उस शरीरसे लेकर पूछ तक बराबर उस आत्माके प्रदेश है । यह जीव अविभागी है, इसका दूसरा विभाग नही होता । जिसके दो भाग हो जायँ वह एक पदार्थ नही है । वह दो पदार्थ मिलकर एक पिण्ड हुआ था ।

एककी अविभागिता—कोई भी हिसाब अत्यन्त मूलमे अविभागी रहा करता है । जैसे गिनतीमे सबसे पहिला अक है एक, वह एक अविभागी है, एकका आधा नही होता । व्यवहार मे लोग एक रुपयेको आधा रुपया कहते है, पर उस आधेका अर्थ रुपयाका आधा नही है, किन्तु ५० पैसोका समूह है । वह एक फलित होनेसे जल्दी जबानपर यही चढा है—आधा रुपया । जो एक होता है वह एक कभी आधा नही हो सकता । तो जैसे इस रकममे मूलद्रव्य मे चीज है एक पैसा तो एक पैसेका आधा नहीं हो सकता और हो जाय तो अभी मूल नही रहा । छदाम दमडी या जो भी हो, जो भी मूलमे एक अविभाग होगा वह एक ही रहेगा, उसका आधा नही हुआ करता है । तो द्रव्यमे भी जो द्रव्य होगा वह अखण्ड है, अखण्डके विभाग नही हो सकते । यह सब कथन बनाया हुआ नही है, कोई कही गोष्ठी करके प्रस्ताव किया हुआ नही है, कुछ कल्पना किया हुआ नही है । पदार्थ जैसा अवस्थित है उस पदार्थका

उस रूपसे रखनेका यह प्रयत्न है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अपने प्रदेशोको, गुणोको, पर्यायो को लिए हुए अपनेमे अविभागी रहा करता है। यह परमाणु पुद्गलद्रव्य है।

लोकोंका भिन्न रुचित्व—किन्ही पुरुषोको पुद्गलद्रव्यकी चर्चा बहुत सुहाती है और आत्मद्रव्यकी चर्चा नही सुहाती है और किन्ही पुरुषोको आत्मचर्चा सुहाती है, पुद्गलकी चर्चा नही सुहाती है। इस धर्मके प्रकरणमे कुछ ऐसा लग रहा होगा अनेक भाइयोको कि यह रूखा है। जब जीवकी बातें चलती थी तो वे ही बातें ६ महीने तक चली, वही गुणपर्याय, वही जीवकी चीज, भेदविज्ञानकी बात रोज-रोज कहते गये है, थोडा कुछ शैलीमे अन्तर है, लेकिन वे बाते ६ महीने रुचिकर हुईं, और यह पुद्गलद्रव्यकी चर्चा है, यह रूखी मालूम हो रही है, लेकिन जिनको अन्तस्तत्त्वमे रुचि नही है, ऐसे बड़े-बडे लोग, वैज्ञानिक लोग जो बडा आविष्कार करते है, रेडियो, बेतारके तार, राकेट, एटम आदि सूक्ष्म आविष्कार करते है तो उनकी तो प्रेक्टिकल उसमे पुद्गलकी चर्चा है और उसमे वे बड़े प्रसन्न होते है, अपनेको बड़ा सफल समझते है, रात-दिन चित्त उसीमे रहता है। उस पुद्गलकी चर्चामे उनका मन खूब लगता है और उनके अतिरिक्त शेष जीव भी सूक्ष्म पुद्गलकी चर्चा चाहे न जानें, किन्तु पुद्गलके प्रसंगमे उनका बडा मान रखा करता है। आत्मचर्चाके मननमे मन कहाँ रमा करता है ? किन्तु जो अध्यात्मरुचिके पुरुष है उनकी इस आत्माकी चर्चामे, आत्माके ज्ञान द्वारा स्पर्श करनेमे, इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके निकट पहुचनेमे चूकि रागद्वेष मोहका भार हट जाता है थोड़े कालके लिए इस कारण एक विलक्षण आनदानुभव हुआ करता है। फिर भी हमे जिन पदार्थोंसे हटना है उन पदार्थोंका बोध किये बिना वह स्पष्टता नही आती कि हम भली प्रकार सुदृढ स्थितिसे उनसे हट जायें। इस कारण जीवास्तिकायके सिवाय अन्य तत्वोका भी वर्णन करना आवश्यक है।

पुद्गल वर्णनमे अल्पसे महानकी ओर—अब जिस तरह एक स्कधसे लेकर परमाणु तक समझनेके लिये एक पद्धति बतायी थी, अब जरा परमाणुसे लेकर स्कंध तक भी समझने की पद्धति देखिये एक परमाणु है अविभागी वह तो अणु है और दो परमाणुओंके सघातका जब मेल होता है तो वह द्वयणुक स्कंध कहलाता है। बहुतसे द्वयणुक, त्र्यणुक सभी तरहके स्कध हैं और उनमे उनके स्निग्ध रूक्ष गुणोमे उनकी शक्तियोमे हीनाधिकता होती रहती है, और जब योग्य सम्बन्ध मिल जाय तो वे बँध जाते हैं।

द्व्यधिक गुणोके बन्धनके कारणका एक अनुमान—दो अधिक गुण वाले परमाणु ही क्यो बँधते हैं ? इस सम्बधमे स्पष्ट कारण तो देखनेमे नही आया, पर कुछ युक्ति और अंदाज इस प्रकारका किया जा सकता है कि जहा लोकमे हम यह देखते हैं कि दो पुरुषोका सम्बन्ध मिलना होती है तो उन दो पुरुषोमे अधिक अन्तर न होना चाहिए प्रकृतिका। जैसे एक बहुत

सच बोलता हो और एक बहुत झूठ बोलता हो तो क्या उनका मित्रत्व सम्बध रह सकता है ? तो यह नही हो सकता है, क्योंकि बहुत अधिक अन्तर होनेसे निकटता नही आ सकती। अच्छा यदि बिल्कुल समान हो, यदि रंच भी फर्क न हो, ऐसी स्थिति हो तो वहाँ पर भी मित्रता नहीं होती। बिल्कुल समान स्थितिमे ? बिल्कुल समान स्थितिमे ऐसी परिस्थिति बन जाती है कि वह अपने घरका, वह अपने घरका। सम्बन्ध न बढ सकेगा। यदि अधिक अन्तरमे भी सम्बन्ध नही बनता, बिल्कुल समानमे भी सम्बन्ध नही बनता तो निष्कर्ष यह निकला कि कमसे कम अन्तर हो वहाँ सम्बन्ध बन सकता है, यह एक थोडी सी खोज है, युक्ति है। तो उन परमाणुवोमे दोनोमे कमसे कम अन्तर रहना चाहिए और वह कमसे कम अन्तर उतना रहना चाहिए कि उसका मिलाप होनेके बाद जो गुणोंका टटोल हुआ उसका पूर्ण आधा-आधा भाग देखनेको मिले। वह अतर दोका ही सम्भव है। यह एक कुछ थोडासा समझनेके लिए कहा है। असलियत क्या है ? वह तो उन परमाणुवोकी ऐसी प्राकृतिकता है। तीन परमाणुवोका मिलकर त्र्यणुक स्कन्ध होता है। इस तरह लगाते जाइए अनन्त परमाणुवो तक, वह स्कध है तो जैसे सघात सघात होकर अनेक स्कध बन जाते है ऐसे ही भेदसघात मिलावके द्वारा भी स्कन्ध बन जाते है।

पुद्गलोकी विस्तृत चर्चाका प्रयोजन—पुद्गलोकी इतनी विस्तृत चर्चा करनेका प्रयोजन इतना ही है कि हम यह जान जाये कि उपादेय तो हमारे लिए हमारा आत्मतत्त्व है, उस आत्मतत्त्वसे भिन्न ये सब पुद्गलद्रव्य है। इनमे लगनेसे, उपयोग देनेसे कोई प्रयोजन नही है, प्रत्युत जितना आलम्बन इस पुद्गलका रहेगा उतने ही यहाँ विकार है और इसके क्लेश है। निकट भव्य जीव इन सबसे पूर्णरूपसे नाता तोडकर अपने आपके केवल स्वरूपमे समस्त शक्ति लगाकर लग जाया करते है और वे ही सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं। कर्मबन्धन भी वहाँ ही टूटता है और वे मुक्ति पदको प्राप्त करते है। समस्त पुद्गलोंसे भिन्न यह मैं अमूर्त निरञ्जन ज्ञानमात्र, प्रतिभासात्मक आत्मतत्त्व हू—इस प्रकार भिन्न रूपसे अपने आपके आत्माका परिज्ञान कर लेना, यही उन सब पुद्गलोके वर्णनका प्रयोजन है। इन परतत्त्वोंके वर्णनके समय हम उनसे निवृत्त होनेकी पद्धतिसे अपने आपकी झाकी लेते रहे, इस ओर मुडते हुए अपने आपमे प्रसन्न रहा करें, यही एक हितके लिए कर्तव्य है। हम बाह्य पुद्गलोंके प्रसंगसे उनकी किसी परिणतिको निरखकर भीतरमे विषाद न करें, किंकर्तव्यविमूढ न बन जायें, जो है सो है, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति बनायें इस ही मे शान्तिका मार्ग मिलेगा।

वादरसुहुमगदाण खधाण पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्क जेहिं णिप्पण्ण ॥७६॥

स्कन्धमें पुद्गलत्वका व्यवहार—वादर और सूक्ष्म इन दो प्रकारोमे और प्रभेदोंमे

प्राप्त हुए स्कन्धोको ये पुद्गल है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। स्कन्धोमे पुद्गलका व्यपदेश व्यवहारसे है। जिन स्कन्धोके द्वारा ये समस्त तीनो लोक निष्पन्न हुए है ये स्कन्ध ६ प्रकारके हैं। इस गाथामे यह बताया है कि पुद्गलके जो दो प्रकार किए गए है—परमाणु और स्कन्ध, उनमे परमाणु तो सही सीधा पुद्गल द्रव्य है, किन्तु स्कन्ध जो परमाणुवोमे मेलसे बनता है उसमे स्कन्धपना व्यवहारसे कहा गया है।

परमाणुमे पुद्गलत्व—पुद्गलका अर्थ है पूरण और गलन स्वभाव वाला। पुद्गलका अर्थ पूरण है और गलनका अर्थ गलन है। परमाणुमे पाये जाने वाले स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंके द्वारा उनमे ही जो वृद्धि-हानि चलती है उन वृद्धि-हानियोसे पूरण और गलन होता रहता है और उनमे स्कन्धकी व्यक्तियोका आविर्भाव होता है तथा स्कधकी व्यक्तियोका तिरोभाव होता है। इस कारण उनमे भी पूरण गलन होता है। यो परमाणु पुद्गल कहलाते है। यहाँ एक विशेष बात यह दिखायी है कि पुद्गलका तो अर्थ पूरण और गलका अर्थ गलन है, और पूरण गलन स्कधोमे सम्भव है। मिल गए तो पूरण हो गया और बिखर गए तो गलन हो गया। प्रत्येक पुद्गलमे पूरण गलन होता है।

परमाणुमे पूरण गलन—यहाँ यह बतलाते है कि मूलमे वास्तविक पूरण गलन तो पुद्गलमे होता। कैसे ? पुद्गल पुद्गल न्यारे-न्यारे है, उनका मिलान हो गया, पूरण हो गया अथवा उनका बिछुडना हो गया, एक-एक परमाणु रह गये, गलन हो गया। तो इस प्रकारसे स्कध बननेकी शक्तिका आविर्भाव होता है और स्कन्धकी व्यक्तिका तिरोभाव होता है। इस कारण पुद्गलमे पूरण और गलन बन गया। एक तो दृष्टि यह है और दूसरी दृष्टि यह बतायी है कि पुद्गलमे एक-एक परमाणुवोमे स्पर्श, रस, गध और वर्ण गुण है, परमाणुमे ४ मे से कोई दोका स्पर्श रहा करता है एक साथ। स्निग्ध रूक्ष शीत उष्णमे इन चारमे दो रहा करते है—स्निग्ध रूक्षमे एक और शीत उष्णमे एक। पुद्गलमे हलका भारी कोमल कठोर ये नही है, ये स्कंधोमे ही समाये है। और ५ प्रकारके रसोमे से एक रस खट्टा, मीठा, कडुवा, तीखा, कषैला इनमेसे कोई एक—यो तीन गुण हुए, तीन पर्यायें हुईं। गधमे से एक गध, वर्णमे एक वर्ण, इस तरह परमाणुमे एक साथ ५ गुणपर्याये होती है तो उन पर्यायोमें वृद्धि-हानि निरन्तर चलती रहती है, उसको पट्स्थानपतित वृद्धि-हानि कहते है। इनसे उसमें पूरण गलन विदित कर लिया जाता है।

पदार्थके गुणपरिणमनोंमे प्रतिसमय हानि-वृद्धि—किसी भी चीजमें वृद्धि हमें मालूम पडी तब जाना कि वृद्धि हुई है, पर मालूम करनेसे पहिले जो विदित भी न हो सके उस सीमा में तो वृद्धि है। जैसे कोई बालक ७ वर्षका है, और बढ़कर जब ८ [illegible] वर्ष बाद मालूम पडता है कि यह ४ अगुल बढ़ गया है, पर उसकी वृद्धि रोज-रोज हो रही

है, घटे-घटेमें हो रही है, मिनट-मिनटमें हो रही है, प्रति सैकेण्ड हो रही है, और सच्ची तो समय-समयपर हो रही है। यदि प्रति समय उसकी वृद्धि न होती तो एक वर्ष बाद भी वृद्धि नही हो सकती। ऐसे ही उसके साथ हानि भी चल रही है। तो यों वृद्धि और हानि उन गुणोमें निरन्तर चलती रहती है। उन गुणविशेषोंसे कभी उनमें पूरण होता है, कभी गलन होता है।

पूरण गलनका प्रायोगिक आधार—यहां एक शंका रखी जा सकती है कि ऐसा पूरण गलन तो सभी पदार्थोंमें है। जीवमें ज्ञानादिक जितने गुण हैं उन गुणोंमें भी वृद्धि-हानि प्रति समय चलती है। ज्ञान बढ़े, ज्ञान घटे, इस बढ़ाव-घटावमें और रूपमें किसी बढ़ा दिया, घटा दिया, इसी प्रकार इस मूर्तिक गुणकी वृद्धि हानि होती रहती है। सूक्ष्मकी वृद्धि-हानिमें जो अन्तर है वह अन्तर पुद्गलकी ओर तो पूरण गलनके लिए झुकता है, किन्तु जीवमें पूरण गलनका परिणमन नही होता है। तो यों पूरण गलन स्वभाव होनेसे पुद्गल परमाणु वास्तव में पुद्गल है, किन्तु स्कंध अनेक पुद्गलके मिलकर एक पर्याय होनेसे पुद्गलसे अभिन्न ही तो है, परमाणुवोंसे जुदा भी नही है, वह स्कंधदशा इस कारण स्कंध पुद्गल कहलाता है और वह व्यवहारनयसे पुद्गल कहलाता है।

पुद्गलत्वका निर्णय व व्यवहार—जैसे शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे ज्ञान, दर्शन इसका शुद्ध प्राण है—ज्ञान दर्शन चैतन्यप्राण करके यह जीव जीवित है, इसलिए जीव वास्तवमें चैतन्यभावसे रखनेके कारण जीव है, और इस दृष्टिसे तो जो सिद्ध भगवान हैं वे ही जीव कहलाते हैं व्यक्त रूपसे, क्योंकि वे निर्लेप और शुद्ध प्राणोंपर जीवित रहते हैं। किन्तु व्यवहारमें फिर आयु आदिक जो अशुद्ध प्राण है, दश प्राण है उन १० प्राणोंमें जो जीवित होते हुए रहते है वे जीव है और फिर गुणस्थान मार्गणा आदिक अनेक विस्तार हो जाते हैं तो उसमें जीवत्व व्यवहारसे कहियेगा और सिद्धमें जीवत्व निश्चयसे कहियेगा। लोकव्यवहारसे हम जिन पर्यायोको, ससारी जीवोको जीव कह रहे है उनमे भी स्वभावत वे शुद्ध चैतन्यप्राण रहते है। ऐसे ही व्यवहारसे हम पुद्गल कहते है स्कन्धको। स्कन्धस्थितिमे परमाणुवोका सत्त्व परमाणुवोका निजस्वरूप फिर भी एक शुद्ध स्थितिके कारण वस्तुत है, फिर भी इस अशुद्ध स्थितिमे एक प्रकट मिलानको व्यवहारमे स्कन्धपुद्गल कहा जाता है।

पुद्गलोके अवगमका प्रयोजन भेदविज्ञान—पुद्गलादिक पदार्थो सम्बन्धी ये सब बातें भेदविज्ञानके काममे आती है। इन सबको जानकर यदि भेदविज्ञानका लक्ष्य नही चलता है तो हम इतना ज्ञान करके भी न ज्ञान करनेकी तरह रहे, क्योकि ज्ञानका प्रयोजन है आनन्द। जिसको शुद्ध आत्मीय आनन्द प्रकट हो ऐसी जानन परिणतिको वास्तवमे ज्ञान कहते है। ये पुद्गल, ये सूक्ष्म, ये बादर अनेक प्रकारके स्कधोसे यह मैं आत्मा भिन्न हू और केवल अमूर्त

ज्ञानानन्द स्वरूप हूं। जब भावात्मक निजस्वरूपपर दृष्टि पहुंचेगी तब इसका आनन्द प्रकट होगा और तब इस स्पष्टरूपसे विदित होगा कि इस मेरे स्वरूपके अतिरिक्त अन्य जितने भी समागम हैं वे सब भिन्न हैं।

वादरवादर तथा वादर स्कन्ध—अब इन पुद्गलोको ६ प्रकारके रूपोमे दिखा रहे है। ये सब स्कंध ६ प्रकारके है—वादरवादर, वादर, वादरसूक्ष्म, सूक्ष्मवादर, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। जो पिंड ऐसे हैं कि छिद जायें और फिर अपने आप जुडनेमें असमर्थ हैं वे सब वादरवादर कहलाते है। जैसे काठ पत्थर इत्यादि छिन्न होकर टुकड़े होकर फिर ये अपने आप नही जुड सकते। जैसे कि घी तेल दूध पानी ये अलग कर दिये जाये, छिन्न हो जाये और फिर मिल जायेंगे, तो ये अपने आप जुड जाते है और ये ऐसे मिल जाते है कि फिर इनमे विभाग नही कर सकते कि इतना यह दूध है और इतना यह पानी है। तो वादरवादर स्कध वे हैं कि जो छिद जानेपर, अलग हो जानेपर स्वय न जुड सकते हो और वादर वे कहलाते है कि छिद जानेपर जुदा हो जानेपर स्वय सधानमे समर्थ है, स्वय फिर पिण्ड रूप बननेमे समर्थ है। जैसे दूध, घी, तेल, रस आदिक।

वादरसूक्ष्म स्कंध—वादरसूक्ष्म वे है कि जो स्कधरूपसे अवलोकनमे तो आते है, दिखते है, समझमे आते है, पर छेदन-भेदन और ग्रहण करनेमें नही आते है। जैसे छाया समझमे आ रही है यह है छाया, पर उसे उठाकर कोई जेबमे धर सकता है क्या? या उस छायाके दो हिस्से करके कोई अलग-अलग कर सकता है क्या? तो न छेदन हुआ, न भेदन हुआ, न ग्रहण हुआ, मगर स्थूल रूपसे उपलब्धिमे आ रहा है। धूप है, छाया है, अधकार है ये सब वादरसूक्ष्म कहलाते है।

सूक्ष्मवादर स्कन्ध—सूक्ष्मवादर वह है कि जो सूक्ष्म होनेपर भी स्थूलरूपसे उपलब्धि मे आता है। जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द सुननेमें आ रहे तो इनकी आप उपलब्धि तो कर लेते, किन्तु उन छाया, धूप वगैरासे भी ये शब्द सूक्ष्म है। रसका स्वाद आ गया, पर असलमे वह रस सूक्ष्म है इस छाया और धूप वगैराकी अपेक्षा भी। जिसे मुहमे चबाते हैं वह रस नही है, वह तो पिड है, वादरवादर है। रस तो वह है जो स्वादमे आया जो जिह्वाइन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है वह रस है, और देखो यह रस छाया आताप आदिकसे भी सूक्ष्म है। जैसे हम इन इन्द्रियोमे स्पष्ट कैसे बतायें कि यह जिह्वा है? असली जिह्वा याने रसना। जो स्वाद बतानेका काम करती है उसको कोई देख सकता है क्या? कोई जिह्वा निकालकर कहे कि लो यह है असली जीभ तो वह असली जीभ नही है। जो चीज पकड़नेमे आये वह तो स्पर्श वाली चीज हुई। रस ग्रहण करने वाली चीज नही है। जो चाम है, पिंड है वह तो स्पर्श है। नासिकामें बतावो वास्तविक नासिका नजर आती है क्या? जिस नासिकाको पक-

डकर आप बतावोगे वह वास्तविक नासिका नही है, वह तो स्पर्श है। पकडनेमे तो स्कध आयगा तो जैसे इन इन्द्रियोमे रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये सब गुप्त पडे हुए हैं, समझमे आते हुए भी हम आप उनका विश्लेपण नही कर सकते। जैसे रसनाइन्द्रिय स्वादका काम करती है, ऐसे ही घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके काम है, पर उन सभी इन्द्रियोंके द्वारा जो गम्य विषय है वह विषय, सूक्ष्म वादर है। स्थूल रूपसे उपलब्धिमे आकर भी अनुपलब्ध है।

सूक्ष्म व सूक्ष्मसूक्ष्म स्कन्ध—सूक्ष्म वह है जो सूक्ष्म है और इन्द्रियो द्वारा उपलब्धिमे नही आता। जैसे कर्मवर्गणायें। कर्मवर्गणायें सूक्ष्म है और न किसी भी इन्द्रियसे ज्ञानमे आती है। तो स्थूल तो है ही नही, उपलब्धिमे भी नही आती अत्यत सूक्ष्म हैं। आगम और युक्तियो से गम्य है, और सूक्ष्मसूक्ष्म वर्गणावोसे नीचे गलन होकर कम पिण्ड वाले वनकर सूक्ष्म चले जाते है द्विगुणित स्कध तक। दो परमाणुवोंसे मिलकर जो स्कध वना है वह सूक्ष्म-सूक्ष्म है। ये ६ भेद स्कधके किए गये हैं, ये भेद केवल स्कन्धके हैं।

लोककी षट्स्कन्धनिष्पन्नता—पुद्गलके इन ६ प्रकारोंके स्कधोंसे निष्पन्न यह लोक है। इसको किसी पुरुषने धारण नही किया है, न यह किसी विशेप पुरुपका वनाया हुआ है। कुछ लोग कहते है इन्हे किसीने धारण कर रक्खा है तब तो यह पृथ्वी वनी है। वहुतसे लोग कहते है कि इस पृथ्वीको शेषनागने धारण किया है, कोई लोग मानते है कि यह पृथ्वी कोई कीलीपर टिकी हुई है। चाहे किसीने इस पृथ्वीको धारण किया हो, न किया हो, पर कुछ अन्दाज तो हो ही जायगा इन वातोसे भी कि यह पिण्डरूप चीज है, इसकी भी सीमा होगी। वादरवादर है यह पृथ्वी जो कि वहुत बडी है। पूरी पृथ्वीपर अपन जा भी नही सकते, लेकिन यह पिण्डरूप है, इसलिए इसका अन्त जरूर है। चाहे कितने ही वडे विस्तारकी पृथ्वी है, पर किसी न किसी जगह उस पृथ्वीका अन्त है। केवल एक ओर ही नही, चारो ओर अन्त है। चाहे उसे कोई गोल माने, चाहे कोई चौकोर माने।

स्कन्धोकी सादिसान्तता—जैनसिद्धान्तमे पृथ्वीको चौकोर कहा गया है थालीकी तरह नही, थालीकी तरह तो द्वीपसमुद्रकी रचना है, पर यह पहिली पृथ्वी एक मोटी बर्फीकी तरह चौकोर है, इसके ६ पाले है—ऊपर नीचेके दो और चारो दिशावोंके चार। ऐसी-ऐसी ये पृथ्विया ७ है। इन सातो पृथ्वियोमे नरककी रचना है। ऊपरकी इस पहिली पृथिवीमे पहिले नरककी रचना है। जिसके ऊपर हम आप लोग चलते है, इस पृथ्वीके तीन भाग हैं। नीचेके भागमे तो नारकियोका निवास है, दो भाग हैं ऊपर, जिनमे भवनवासी और व्यतर देवोंके निवास है, इसके ऊपरी तलपर हम आप रहा करते है। तो इस पृथ्वीका अन्त अवश्य है।

पृथ्वीका आधार—पृथ्वीके वादरवादरपना सिद्ध होनेपर यह शका होगी कि ये सधे किस तरह है ? तो इन समस्त पृथिव्योंके चारो ओर ५ दिशावोमे तीन वातवलय हैं। ये

वातवलय तीनो लोकके अन्तमे भी है और इन समस्त पृथ्वियोके पाचो ओर भी है। उन वातवलयोपर ये समस्त पृथ्वियाँ सधी है। वे वातवलय इतने दृढ़ है कि जिनपर ये महास्कध अनादिसे ही इसी तरह चले आ रहे है। उन्ही वातवलयोका नाम शेषनाग रख लीजिए। शेप जो नाग है उसके आधारपर पृथ्वी है अर्थात् नागमे तीन शब्द है—न अ ग, ग मायने जो चले, गच्छति इति ग, जो चले सो ग है, न गच्छति इति अग, जो न चले सो अग न अग अर्थात् जो चले नही ऐसा नही अर्थात् चले सो नाग, मायने जो निरन्तर चले सो नाग अर्थात् हवा, नाम मायने हैं हवा। जो शेष हवा है उसे कहते है शेषनाग। हवा जो लोकके अन्तमे, पृथ्वीके अतमे, अपनेमे निरन्तर चलती रहती है उसे शेषनाग कहते हैं। हम आप सभी लोगो के काममें आने वाली है यह हवा उन हवाओसे बची हुई अर्थात् लोकके अन्तमे शेष रूपसे पडी हुई हवाका नाम शेषनाग है।

प्रलयमें विध्वंसताका अभाव—कुछ लोग इसका प्रलय मानते है। यह है और सब एक दिन इसका प्रलय हो जायगा, कुछ भी न रहेगा, केवल एक आसमान रहेगा। ये स्कध, ये पुद्गल ६ प्रकारके है, ये कहाँ जायेंगे जब प्रलय हो जायगा। प्रलयके मायने एक विध्वस है, और विध्वसका अर्थ यह है कि जो सही शकल है, ढगका आकार है वह बिगड गया। यह ही इस विध्वसका अर्थ है या सत्तासे बिल्कुल नष्ट हो जाय उसका नाम विध्वस है ? ये सब बिगड जायेंगे इसका नाम विध्वस है, प्रलय है। और प्रलयकी बात तो केवल भरत और ऐरावत क्षेत्रमे है, आर्यखण्डमे है जो जगह सारी जमीनके सामने एक बिन्दुकी तरह है। इन स्कधोका कभी अभाव न होगा।

लोककी अकृत्रिमता—इसी प्रकार कुछ लोग समझते है कि यह लोक किया जाता है। जैसे प्रलय नही होता इसी प्रकार इसका उत्पाद भी नही होता। जो सत् है उसका कभी लोप नही होता, ऐसे ही जो असत् है उसका कभी उत्पाद नही होता। इस लोकको किसीने किया नही है, न कोई धारे हुए है, किन्तु यह स्वय सिद्ध अनादिसे ऐसा ही व्यवस्थित है। क्षेत्रकी अपेक्षा यह २४३ घनराजू प्रमाण है, और स्कंधोकी अपेक्षा यह सारा लोक ६ प्रकार के स्कंधोंसे भरा है, परमाणुवोसे भरा है, और सर्वस्कधोको एक रूप लिया जाय तो उसे कहते है महास्कध। उसका ही नाम लोक है। सभी जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल पदार्थोंका जो जोड है, योग है, पिण्ड है वह लोक है। आकाश लोकके भीतर भी है और लोकके बाहर भी है। इसी प्रकार यह समग्र लोक जो पिण्डरूपसे देखा गया है वह इन ६ प्रकारके स्कन्धो से बना हुआ है, और उसका मूल कारण परमाणु है।

परमाणुकी द्विविधता—परमाणुके सम्बधमे भी दार्शनिकोने दो भेद किए है— कारण परमाणु और कार्यपरमाणु। जैसे परमात्मतत्त्वके दो प्रकार है—कारणपरमात्मतत्त्व और

कार्यपरमात्मतत्त्व। ससारी जीवोके ससार अवस्थामे जब हम उनके स्वभावपर दृष्टि देते हैं तो समझमे आता है कि ससार होकर भी इसमे कारणपरमात्मतत्त्व शाश्वत है, और जब यह परमात्मा बन गया, कार्यपरमात्मा हो गया उस कार्यपरमात्माके होते हुए भी जिस स्वभावकी व्यक्ति कार्यपरमात्मा निरन्तर बनती चली जा रही है वह कारणपरमात्मतत्त्व है, ऐसे ही इन स्कधोकी स्थितिमे कारणपरमाणुकी बात झट समझमे आती है। इसमे एक-एक परमाणु है और वे परमाणु मिलकर स्कध बने है तो इसका कारणभूत परमाणु हैं, और वे परमाणु मिलकर बने है तो इसका कारणभूत परमाणु है। और जब यह परमाणुरूपमे व्यक्त हो जाता है केवल परमाणु रह गया उस समय भी कारणपरमाणुरूपता और कार्यपरमाणुरूपता बराबर बनी हुई है।

लोकके अवगमका लाभ——इन परमाणु और स्कधोका जोड ये सब मिलकर जो पिण्ड है वह जितनेमे है सो यह एक लोक है। इस लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नही बचा जहाँ इस जीवने अनन्त बार जन्म मरण न किया हो। उसका कारण है अपने स्वरूपका अज्ञान। देखो लोकविस्तारका विशद अवगम उत्तम धर्मध्यानका कारण है। इस कारण लोकका अवगम करना भी ध्यान व वैराग्यका कारण है। अब हम अधिकाधिक यत्न अपने स्वरूपकी ओर मुडनेका करें, जिसके प्रतापसे यह ससारभ्रमण मिटे और मुक्ति प्राप्त हो।

सव्वेसिं खधाण जो अतो त वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥

परमाणुका स्वरूप——इस गाथामे परमाणुकी परिभाषा बतायी गयी है। समस्त स्कधोका जो अतिम भेद है, अन्तिम विभाग है उसको परमाणु कहते हैं। वह परमाणु अविनाशी है और शब्दरहित है। जैसे कर्मस्कधोका जहाँ विनाश है उसे शुद्ध आत्मा कहते हैं, ऐसे ही ६ प्रकारके स्कधोका जहाँ अन्त है ऐसा जो भेद है उसे परमाणु कहते हैं।

परमाणुकी शुद्धता——भैया! शुद्धताकी दृष्टिसे जैसे सिद्ध भगवन्त है ऐसे ही परमाणु शुद्ध है, किन्तु हम सब कर्मोंके प्रेरे आकुलतासे भरे जन्म मरणकी पद्धतिमे लगे दुखी जीव है, उस दुखको मिटाना है तो जो दुखरहित शुद्ध स्थिति है वह सिद्ध भगवानमे है, इसलिए हम आपके लिए सिद्ध भगवानकी महत्ता है, पूज्यता है, किन्तु वस्तुस्वरूपकी दृष्टिमे कोई ऐसा है नही अन्तर, जिससे यह विदित हो कि सिद्ध श्रेष्ठ है व अणु निकृष्ट है। कदाचित् हम सब जीवोसे अलग कोई निर्णेता होता तो वह यह बताता कि जैसे परमाणु शुद्ध है तैसे ही शुद्ध सिद्ध है। जैसी सिद्धकी महत्ता है तैसी महत्ता परमाणुकी है। सिद्ध भगवानमे सिद्ध जैसा प्रताप है, तो परमाणुमे परमाणु जैसा प्रताप है। एक समयमे १४ राजू गमन हो जाना यह और किसके सम्भव है? स्कधोमे नही होता। १४ राजू कितना बडा क्षेत्र है और वे सारे

प्रदेश भी क्रमसे ही तो छुवे गए होगे। परमाणु नीचेसे ऊपर तक १४ राजू पहुचते है। लेकिन वे इतनी शीघ्रतासे छुवे हुए होगे कि एक ही समयमे १४ राजू गमन हो गया।

परमाणुकी सामायिक गतिपर प्रकाश—परमाणुकी सामायिक गतिके सम्बधमे मोटी बात तो कुछ समझमे यह आ जायगी कि जैसे कोई एक पुरुप ६ घटेमे ६ मील चलता है तो क्या कोई पुरुष ६ मील एक घटामे चलने वाला नही मिल सकता ? रास्ता उतना ही है, वह ६ घटेमे चला, यह एक घटेमे चला और ६ मीलका रास्ता कोई पुरुष दौडकर जाय तो सम्भव है कि १५ मिनटमे भी ६ मील रास्ता जा सकता है और कोई यंत्र तो एक मिनटमे भी ६ मील जा सकता है, ऐसे ही कोई स्कध घटेमे १४ राजू पहुचे, ये परमाणु एक समयमे १४ राजू पहुच जाते है। ऐसा यह शुद्ध परमाणुका प्रताप है।

परमाणुकी शाश्वतता—यह परमाणु शाश्वत है। जैसे कि परमात्मा टकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभावसे एक द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे अविनाशी है इस ही प्रकार यह परमाणु भी पुद्गलपनेसे अविनाशी है। स्कधोका बिखरना हो जाता है। इनका विनाश समझमे आता है, पर स्कधोकी स्थिति हो तो, स्कधोसे विलग हो गया हो तो, परमाणुकी शाश्वतता सदैव रहती है। यह परमाणु नित्य है।

परमाणुकी मूर्तिमयता व अशब्दता—यह परमाणु अशब्द है। यद्यपि परमाणुमे रूप भी नजर नही आता पर परमाणु रूप सहित है। यदि रूप सहित न होता तो स्कधकी स्थितिमे भी इसमे रूक्ष व्यक्त न होता। परमाणुमे रस, गध, स्पर्श आदि है, पर शब्द परमाणुमे नही है। शब्द एक परिणति है, पर्याय है और वे भाषावर्गणाके स्कधोकी परिणति है। जैसे शुद्ध जीव पदार्थ निश्चयसे स्वसम्वेदन ज्ञानका विषय होनेपर भी शब्दरूप नही होता, शब्दविषयक नही होता, वह जीवद्रव्य अशब्द है, इसी प्रकार परमाणु भी स्कन्धरूप परिणतिका कारणभूत है। स्कधोंसे ही तो शब्दकी उत्पत्ति हुई है और स्कधोके मूल परमाणु ही तो है। फिर भी शब्द पर्यायरूप परिणमन परमाणुका नही होता। परमाणुमे शब्दपरिणति प्रकट नही होती, इस कारणसे परमाणु शब्दरहित है।

परमाणुकी अद्वैतता—यह परमाणु एक है, केवल है, असहाय है, स्वय है, परिपूर्ण है। जैसे कि शुद्ध आत्मद्रव्य समस्त परपदार्थोंके लेपसे रहित केवल चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व परकी उपाधिसे रहित होनेसे एक है, असहाय है, एक ही स्वरूप है, परिपूर्ण है। इस ही प्रकार यह परमाणु भी अन्य परमाणुकी उपाधि न रहनेसे अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमे परिपूर्ण एकप्रदेशी एक अणुमात्र रहनेके कारण केवल है, असहाय है, एक है। परमाणु अचेतन है, इस कारण उसकी पूजा हम लोगोके चित्तमे नही समाती, लेकिन द्रव्यके नाते तो जैसी शुद्धता सिद्ध भगवानमे है वैसी ही शुद्धता परमाणुमे है। पर हमारा प्रयोजन

सिद्ध भगवतके ध्यानसे निकलता है। हाँ परमाणुके ध्यानसे भी ध्यानकी शुक्लता आती है, किन्तु पूर्व समयमे तो हमे सिद्ध भगवानका ध्यान ही सहाय है। श्रेणीमे पहुचे हुए मुनिजन चाहे सिद्ध भगवानका ध्यान करें, चाहे परमाणुका ध्यान करें, उनका ध्यान वीतराग है, निर्दोष है, वे कुछ भी विचार करते हो निरीह बनकर शुक्लध्यान उत्पन्न कर लेते हैं।

परमाणुके अवगमका उपकार—परमाणु निज स्वरूप मात्र है, अत्यन्त सूक्ष्म है, अविभागी है, ऐसे परमाणुके स्वरूपकी समझ भी इन्द्रियोके विषयोको प्रोत्साहन नही देती। जैसे स्कधोका विचार करके रसकी उत्सुकता, स्पर्शकी उत्सुकता, देखनेकी उत्सुकता, ऐसे इन्द्रिय विषयोकी उत्सुकता बनती है क्या परमाणुका ध्यान करके, परमाणुकी चर्चामे परमाणुके मननमे किसी इन्द्रियविषयको भी प्रोत्साहन मिला है, यह परमाणु अविभागी है। जैसे परमात्मद्रव्यनिश्चयसे लोकप्रमाण असख्यातप्रदेशी होनेपर भी अखण्ड द्रव्यकी दृष्टिसे उनमे क्या विभाग होगा, सभी आत्मावोमे वे केवल केवल सभी परमात्मद्रव्य अविभागी हैं, उनका विभाग नही होता, टुकडा नही होता, आधा आत्मा कही हो, आधा कही हो, ऐसा टुकडा नही बनता। तो जैसे परमात्मद्रव्य अविभागी है, ऐसे ही परमाणु द्रव्य भी निरश होनेसे अविभागी है।

परमाणुका मौलिक रूप—यह परमाणु मूर्तिमान है। यह आत्मद्रव्य मूर्तिमय नही है। अमूर्त परमात्मद्रव्यसे विलक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाली जो मूर्ति है, उस मूर्तिके द्वारा यह परमाणु निष्पन्न है, यह मूर्तरूप है, इस कारण यह परमाणु मूर्तिमय है। यह सारा लोक, ये सारे दृश्यमान स्कध जिस मूलतत्त्वसे बने है उसपर दृष्टि दो तो यह स्कधमयता सब इस दृष्टिसे विघट जाती है। इतनी बडी यह भीत खडी है। इस भीतका निर्माण किस मूलसे हुआ है ? वह परमाणु। तो इन स्कधोमे जो परमाणु है, एक एक है, ऐसे परमाणुवोपर दृष्टि डालो तो ये सब दृष्टिमे बिखर जायेंगे और सारहीनसे प्रतीत होंगे। हम कुछ भी जाने, उसके मूल तत्त्वपर दृष्टि बनायें तो ये रागद्वेष टिक नही सकते। घरके परिजन जो भ्रमके कारण सब कुछ बन बैठे है, जिनके पीछे अपना सर्वस्व न्यौछावर किया जा रहा है।

मायाके अन्त परमार्थका दर्शन—भैया ! ये सब दृश्यमान क्या है ? उनका मूल तत्त्व निरखिये। वे है तीनके पिण्ड। ज्ञानादिक गुणोके पिण्ड और कार्माणवर्गणाके पिण्ड और औदारिक वर्गणाके पिण्ड—इन तीनोका पिण्डोला ससारी है, ये दोनो तो पौद्गलिक है कार्माण और औदारिकवर्गणा। एक जीव चेतन है। चेतनमे मूल तो है चैतन्यस्वभाव, किन्तु जो इसमे रागद्वेष विषयकषायोका विस्तार बना है यह मायारूप है। पुद्गलस्कधोकी तरह सा मिला-जुला यह ऐसा रूप है। इसमे मूल तो एक चैतन्य स्वभाव है जिसका फिर यह इतना विकार और विस्तार बना है। ऐसे ही इन वर्गणावोमे मूलभूत परमाणु है जिसका सचय होकर इतना विस्तार और विकार बन गया हे तो जो बाह्यतत्त्व ह, कारणभूत है। उस

पर दृष्टि जानेपर रागद्वेषकी वृद्धि नही होती । यो निरखनेपर निर्णय हो जायगा कि अब उस कुटुम्बमे क्या मिल गया ? इस ज्ञाताकी निधिमे क्या आ रहा ? सब माया है, सब बिखर गया । केवल एक चैतन्य और परमाणु--ये दो तत्त्व ही नजर आने लगे । इतना लम्वा चौडा यह दो डेढ मनके वजनका यह सब कुछ ओझल हो गया, बिखर गया । अब इस ज्ञानी की दृष्टिमे केवल चैतन्य और परमाणु ही रह गया ।

ज्ञानकी ज्ञानक्रियाशीलता--यह ज्ञान जाने बिना तो रहता नही, इसे कहाँ रख दोगे, कहाँ ले जावोगे, कहाँ फेंकोगे, कहाँ छिपावोगे ? जैसे उज्ज्वल रत्नकी आभा कहाँ छिपेगी, वह अन्दर चमकती ही रहेगी, कितने ही कपडोका आवरण उसपर डाल दो, ऐसे ही यह ज्ञान कहाँ छुपेगा ? यह अतः जानन बना ही रहेगा । तो यह ज्ञान जाने बिना रह नही सकता । जाननेमे तो सब आता ही है । हाँ कभी एक आत्मध्यानका पुरुषार्थ करें तो बाह्यतत्त्वो का विकल्प न रहकर वहाँ केवल निजस्वरूप रहता है जाननमे, पर चलो निज ही सही, जाननमे तो कुछ रहा । जाननमे कुछ नही रहे, ऐसी स्थिति ज्ञानकी कभी नही हो सकती, और फिर यह आत्मस्वरूपका जानन सदा नही रहता और सदा रहता है तो इसके साथ-साथ अन्य पदार्थोंका भी जानन रहता है, और वह वीतराग स्थितिमे । हम आपके कभी-कभी आत्मज्ञान भी होता है, और अब तो प्रायः परपदार्थोंका ज्ञान करते रहते है । यह ज्ञान जानन बिना रह नही सकता तब इस ज्ञानका मुह बद क्यो करते, इसका श्वास रोकते, क्यो इसका गला घोटते ? जानने दो इस ज्ञानको, जो कुछ जानता है, जानने दो, फैलने दो, तुम तो एक परिस्थिति बदल दो। जिसको भी यह ज्ञान जानता है उसके मूल स्वरूपको जानने लगो । इसमे जो मूल है, सहज तत्त्व है उसको जाननेमे लग जाये तो उस ज्ञानसे हमे अनर्थ न मिलेगा, कुछ अर्थ ही होगा ।

पुद्गलके भेदविज्ञानका इन्द्रियोपभोग्यसे विरक्ति करानेका प्रयोजन--ये लौकिक जन स्कधोमे इतने आसक्त हो रहे है कि सदा अपने स्वार्थसाधनाकी बात सोचा करते है । ऐसे लौकिक जन इस मिथ्यारोगका, मोहरोगका निवारण कैसे कर सकेंगे ? उन्हे जिससे विरक्त करना है उसका सही स्वरूप बताना आवश्यक है । केवल जीव जीवकी चर्चासे ही ग्रन्थ भरे हुए हो, अजीवतत्त्वकी बात उनमे नही आ पायी हो तो उसमे कर्तव्यकी निश्चयता परिपूर्णरूप मे नही आ पाती । और फिर उन अचेतन तत्त्वोकी भी जो उनका शुद्ध विकास है उस शुद्ध विकासकी चर्चा होती है तो उसमे रागद्वेष क्या ? अभी किसी स्कधकी चर्चा की जाने लगे, सिनेमा, होटल, वाहन, देश-विदेश आदिकी चर्चा चलने लगे तो प्रकृत्या वहाँ रागद्वेष चलने लगेंगे । उनमे यह छटनी होने लगेगी कि यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, पर जहाँ एक इस शुद्ध परमाणुकी चर्चा चल रही है उसमे कही रागद्वेष उत्पन्न होते रहते है क्या ? कौनसा परमाणु

आपको रुच रहा और कौनसा परमाणु आपको बुरा लग रहा ? अरे रुचने और न रुचनेका व्यवहार इन परमाणुवोमे नही चल रहा है। वह तो ज्ञानका विषयभूत है। तो उस शुद्ध परमाणुकी चर्चामे भी राग विरोधका अवसर नही होता। उस ही परमाणुकी बात इस गाथा मे कही जा रही है।

परमाणुकी अविभागिता––समस्त उक्त स्कधपर्यायोके भेद भेदसे जो अन्तमे उत्पन्न होने वाला भाव है वह परमाणु है। जैसे कि इस मनुष्यपर्यायमे भेद कर-करके कि यह शरीर मै नही हू, कर्म मैं नही हू, रागादिक मै नही हू, विकल्प तरग मैं नही हू, ज्ञान द्वारा भेद कर-करके और इस ज्ञान भेदभावनाके बलसे इसको प्रकट भी भेद हो जाय, जुदा हो जाय तो ऐसे भेदके फलमे जो अन्तिम विभाग होगा वह शुद्ध परमात्मद्रव्य है। वह अन्तिम विभाग क्या ? केवल जैसा यह ज्ञानादिक गुणोका पुञ्ज केवल निज रूप है वही मात्र रह जाय, ऐसे ही इन स्कधोमें अन्तिम विभाग परमाणु कहलाता है, इसका फिर और विभाग नही होता। यह अविभागी है और विभागरहित एकप्रदेशी होनेसे यह एक कहलाता है।

परमाणुकी अविनाशिता––जैसे चेतन चेतनरूपसे कभी नष्ट होगा क्या ? नही। यह चेतन निगोद जैसी निकृष्ट दशामें भी रह आया, पर इसकी चेतनता कभी नष्ट नही हुई। ऐसे ही यह पुद्गल परमाणु अमूर्त तत्त्व है और व्यक्त मूर्तिताको भी प्राप्त हो गया, स्कधोके रूपमें आ गया, फिर भी क्या पदार्थत्वके रूपसे इसका क्या विनाश हुआ है ? जो स्वरूप है, जो ढग पद्धति है वह वही ही रही, उसका विनाश नही हुआ, अतएव वह नित्य है। मूर्ति नाम कहलाता है रूप, रस, गध, स्पर्शवान होनेका। यह परमाणु यद्यपि प्रकट रूपमें न किसी रूपरूप है, न किसी रसरूप है, न गधरूप है, न स्पर्शरूप है तब भी इसकी शक्ति है और इसकी पर्याय भी कोई न कोई अन्त अव्यक्त व्यक्त रहती ही है, ऐसी मूर्तिताको यह परमाणु कभी नही छोडता, अकेला रह गया, कार्यपरमाणु बन गया, फिर भी मूर्तिता कही नही जाती।

परमाणुकी अशब्दता––शब्द परमाणुका गुण नही है, रूप आदि तो गुण है। गुण उसे कहते है कि जो शाश्वत रहे और जिसका कोई न कोई परिणमन प्रतिसमय रहा करे। शब्दमें यह बात नही है। परमाणुमे शब्द शाश्वत रहे और फिर उस शब्दकी कोई न कोई पर्याय सदैव व्यक्त रहे, ये दोनो ही बातें नही है। न तो शब्द शाश्वत रहते है, जब व्यक्त हो तब हो और शब्द गुण माना जाय तो उस शब्दगुणकी परिणति भी सदैव नही रह सकती। शब्द गुण ही नही है। परमाणुमे शब्दगुणका अभाव होनेसे शब्दरूप गुणपरिणमन भी परमाणुमे असभव है। शब्द तो स्कधरूप द्रव्यपर्याय है। परमाणु शब्दरहित है। स्कधोके सयोग और वियोगका निमित्त पाकर भाषावर्गणा जातिके जो पुद्गल स्कध है वे शब्द रूप परिणम जाते है। उनका यह शब्दरूप परिणमन प्रदेशपरिणमन है, गुणपरिणमन नही है। भाषावर्गणा

का भी कोई अणु एक अणुके रूपमे रह जाय तो भी वह शब्दरूप नही परिणम सकता। प्रत्येक परमाणु शब्दरहित है।

परमाणुमे शब्दकारणताका भी अभाव—शब्दरहितपनेका निषेध इस गाथामे इसलिए किया गया कि स्थूलरूपसे कुछ लोग इन शब्दोके बारेमे सोच सकते है कि ये दिखते तो है नही, कोई पिण्डरूप तो हैं नही, तो शायद ये शब्द ही परमाणुके रूप होगे, उनकी सूक्ष्मताके कारण और अदृश्यताके कारण ऐसी दृष्टि किसी स्थूल बुद्धिमे हो सकती है। अतः प्रथम ही निषेध किया गया है कि परमाणु शब्दरहित है, और शब्दरहित क्या, शब्दका कारण भी नही है। परमाणुसे शब्दकी उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार इन स्कधोमे जो शुद्ध मूल तत्त्व है वह मूलतत्त्व ऐसा निर्दोष है यही है वास्तविक पुद्गल द्रव्य परमाणु। अब इस ही परमाणुके सम्बधमे आगे और विशेष वर्णन होगा।

आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु।
सो रोओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

परमाणुकी मूर्तता, एकप्रदेशिता व स्कन्धकारणता—परमाणु आदेशमात्रसे मूर्तिक है, अर्थात् वह आँखो नही दिखता, किन्तु आगम और युक्तियोसे परमाणुमे मूर्तिकता सिद्ध होती है। यदि परमाणुमे मूर्तिकता न होती तो अनन्त परमाणु मिलकर भी जो स्कन्ध होते है-उनका मूर्तरूप नही बन सकता था। परमाणुमे मूर्त गुण है ऐसा कहनेसे कही यह अर्थ न लेना कि परमाणु एक पदार्थ है और उसमे मूर्त गुण रहा करते है। मूर्त गुण याने स्पर्श, रस, गध, वर्ण ये वास्तवमे परमाणुसे पृथक् नही है। केवल सज्ञा आदिकके निमित्तसे इसमे भेद किया जाता है। यह परमाणु एकप्रदेशी है। एकप्रदेशीका अर्थ यह है कि वही तो परमाणु की आदि है और वही परमाणुका अन्त है और वही परमाणुका मध्य है, याने परमाणु आदि मध्य अन्तसे रहित है, वही एकप्रदेशी कहलाता है। यदि किसीका आदि है और अन्त है चाहे वह निकट ही निकट हो तो वह एकप्रदेशी न होगा। कमसे कम द्विप्रदेशी हो तो आदि और अन्त सिद्ध होगा और तीन प्रदेशी हो सूची रूपमे तो उसमे मध्य सिद्ध होगा, किन्तु यह परमाणु तो एकप्रदेशी है। इसका वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। इस ही तरह द्रव्य और गुणमे प्रदेशकी पृथक्ता न होनेसे जो ही परमाणुका प्रदेश है वही रूप, रस, गध और स्पर्शका प्रदेश है। यह परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि कायोका मूलभूत है, कारण है। परमाणु पृथक् हो और पृथ्वी, जल आदिक तत्त्व पृथक् हो ऐसा नही है।

भौतिकवादसे मूर्त गुणोका विच्छिन्न कथन—परमाणुमे ४ गुण है—रूप, रस, गध, स्पर्श। इन चार गुण वाले परमाणुवोसे जिन पिण्डोकी निष्पत्ति होती है उनमे भी ये सब चारो गुण है। यदि ऐसा माना जाय कि पृथ्वी धातुके कारणभूत परमाणुमे केवल गध गुण है,

किसी परमाणुमे गंध, रस दो गुण है, किसी परमाणुमे गंध, रस, रूप— ३ गुण है अथवा एक-एक गुण वाला परमाणु है। पृथ्वी धातुके कारणभूत परमाणुमे केवल गध है तो उसमे से तीन गुण खोज लेनेपर, अलग हटा देनेपर उन गुणोका अविभागी प्रदेश वाला परमाणु ही नष्ट हो जायगा अथवा कितना विलक्षण प्रतिपादन है कुछ दार्शनिकोका जो केवल पृथ्वीमे गध गुण ही माना, जलमे रस गुण ही माना, अग्निमे रूप गुण ही माना, वायुमे स्पर्श गुण ही माना, उनका कारणभूत परमाणु जब चार गुण वाला है तो उनका मूर्तरूप बननेपर पृथ्वी बनी तो तीन गुण खतम हो गए। यदि वे तीन गुण समाप्त हो गये तो उन गुणोका आधार परमाणु ही खतम हो गया, फिर तो यह जगत ही सूना हो जाना चाहिए। इस कारण शेष गुणोका अपकर्ष बताना युक्त नही है।

धातुचतुष्कका कारणभूत द्रव्य—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार धातुवोका कारण यह एक ही प्रकारका परमाणु है। परिणमन की विचित्रतासे किसी पिण्डमे गधगुण व्यक्त है, किसीमे रस गुण व्यक्त है, किसीमे स्पर्शगुण व्यक्त है, और किसीमे रूपगुण व्यक्त है। यह परमाणुओंके सघातसे उत्पन्न हुए स्कधोमे परिणमनकी विचित्रता है। उन गुणोमे व्यक्त और अव्यक्तपनेका तो अन्तर है, पर ऐसा नही है कि कोई परमाणु या कोई धातु, कोई गध-गुण वाली हो, कोई रसगुण वाली हो, ऐसी एक-एक गुण वाली कोई धातु नही है। ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जिन्हे चारुवाक लोग अजीव कहते है, अचेतन कहते है।

दृश्यमान सकल स्कंधोकी जीवकायरूपता—चार्वाक दर्शनमे पृथिवी आदि अचेतन ही तत्त्व हैं, चेतनका तो अभाव ही है। वे अचेतन क्या है? वे एकेन्द्रिय जीवके शरीर है। वे भी मात्र अचेतन नही है, और जितने भी जो कुछ दृश्यमान है वे सब जीवके शरीर हैं। दरी, कम्बल, चौकी, ईंट, पत्थर जो कुछ भी नजर आ रहा हो धूल, पानी, मिट्टी ये सब जीवके शरीर है। कोई सजीव शरीर है और कोई जीवरहित हो गए ऐसा शरीर है। कोई चीज उठाकर आप ऐसा बता सकते है क्या कि जो जीवका शरीर न हो, ऐसी कोई भी बात आप न बता सकेंगे। चौकी है, यह वनस्पतिकायिक जीवका शरीर है। यह दरी है, यह वनस्पति-कायिक जीवका शरीर हैं। ये पत्थर, पृथ्वीकायिक जीवके शरीर है। ये रगरोगन ये पृथ्वी-कायिक जीवके शरीर है। कौनसा दृश्यमान पदार्थ ऐसा है जो जीवका काय न हो? इसी प्रकार कुछ लोगोने सबको एक ब्रह्मरूप माना है। जीवका सम्बध हुए बिना इन दृश्यमानोका यह आकार ही नही बन सकता था। देखो इन दृश्यमान कायोके कारण जीवका आकार बना है और जीवके सम्बधके कारण इनका आकार बना है। किसी अकुरमे जीव न होता, वह वृक्षका रूप न बनता तो ये चौकी आदिक आकार कहाँसे बनते? अब यह दूसरी बात है कि जीवरहित हो जानेपर इन कायोकी कुछ भी शकल बने, पर इसमे जो मूल आकार बना है वह-

जीवके सम्बध बिना नही बन सकता था। तो यह सब कुछ जो दृष्टि है वह जीवसम्बंधित है।

पुद्गलवर्गणायें—समस्त पुद्गल वर्गणायें २३ प्रकारकी होती है। उन २३ प्रकारकी वर्गणावोमे से जीवके द्वारा ग्रहणमे आने वाली वर्गणायें ५ प्रकारकी है—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्माणवर्गणा। बाकी उन २३ भेदोमे एक तो अणुवर्गणा है और शेष बची १७ अन्य वर्गणायें है। वह सब मूलस्वरूप एक ही प्रकारके परमाणुवोका पुञ्ज है। जैसे पृथ्वी—पृथ्वी एक होनेपर भी धूल, सगरमरका पाषाण, अन्य पाषाण, हीरा, जवाहरात, सोना, चादी ये भिन्न-भिन्न रूपमें है और इनमें यह भी देखा जाता है कि यह सोना सगमरमर रूप नही बन सकता और धूल हीरा रूप नही बन सकती, लेकिन क्या यह नियम सदाकालके लिए रहेगा कि सोना कभी पत्थर रूप नही बन सकता और पत्थर कभी सोना रूप नही बन सकता ? लेकिन प्रायः चिरकाल तक उनमे ऐसा है, इस कारण वे पृथक्-पृथक् देखे जा रहे है। ऐसे ही ये वर्गणायें अति चिरकाल तक इस ही प्रकार रहती हैं, अतएव ये इतने प्रकारोमे पायी जाती है। मनकी रचना आहारवर्गणावोसे नही हो सकती, मनकी रचना मनोवर्गणावोसे ही होगी, शरीरकी रचना कार्माणवर्गणावोसे न होगी, वह आहारवर्गणावोसे होगी। जैसे आहारसे आहार पर्याप्ति होती है, आहारक बनता है तो ५ प्रकारकी वर्गणावोसे ५ प्रकारके कार्य होते है, फिर भी मूलमे सभी वर्गणावोंका कारणभूत परमाणु एक रूप है। उस एक रूप परमाणुसे यह सारा ठाट बना हुआ है।

ठाठकी अहितरूपता—यह समस्त ठाठ असार है और इस जीवमें दुर्भाव विषय कषाय इन सबकी उत्पत्ति करनेका कारणभूत है। एक एक कथानक है कि दो भाई धनोपार्जनके लिए परदेश गये। वहाँ खूब धनोपार्जन किया। जब घर आनेको हुए तो अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर दो मणि खरीद लिए। मानो वे दोनो मणि दो लाखके थे। उनको लेकर दोनो भाई चले। बडे भाईके हाथमे दोनो मणि थे। समुद्रमे से रास्ता था सो जहाजमे बैठकर चले। समुद्रके बीच बडा भाई सोचता है कि रत्न तो हमारे पास है। हमारे ही परिश्रमसे ये आये है, घर जाकर बट जायेंगे, सो ऐसा करे कि इस छोटे भाईको इसी समुद्रमे धकेल दें, फिर तो हमे दोनो मणि मिल जायेंगे। फिर थोडी देर बाद सद्बुद्धि जगी—अहो मैने कितना खोटा विचार बनाया ? इस जड वैभवके पीछे मैने अपने भाईका घात करनेका विचार किया। छोटे भाईसे बोला कि ये रत्न तुम अपने पास रक्खो, हम तो अपने पास न रक्खेंगे। छोटे भाईको वे रत्न दे दिये। कुछ देर बाद उसके मनमे आया कि ये रत्न हमारी ही बुद्धिसे कमाये गये है, बडे भाईने तो सिर्फ शारीरिक श्रम किया था। ये घर जाकर बट जायेंगे। सो ऐसा करें कि इस बडे भाईको इसी समुद्रमे ढकेल दें, सो ये रत्न हमे मिल जायेंगे। कुछ देर बाद वह भी सभाला, सोचा अहो इस जड सम्पदाके पीछे मैंने कितना खोटा

विचार बनाया ? सो भाईसे कहा—हम ये रत्न अपने पास नही रखना चाहते, आप ही अपने पास रक्खो। बडे भाईने कहा नही तुम्ही रक्खो अपने पास। दोनोंमे सलाह हुई कि इन्हे किसी तरह घर तक ले चलो फिर मा के पास रख देंगे। जब घर पहुचे तो माँ को वे रत्न दे दिये। कुछ दिन बाद माँ सोचती है कि ये रत्न तो लाखो रुपयेके है। ये तो लडके छीन लेंगे सो ऐसा करे कि कुछ खिलाकर किसी तरहसे इन लडकोको मार डालें तो ये रत्न हमे मिल जायेंगे। वह भी सभली, सोचा ओह ! जिन लडकोसे हमे बडा प्यार है उन्ही लडकोको इस जड़ सम्पदाके कारण मार डालनेका विचार बनाया। सो लडकोंसे कहा कि हम ये रत्न अपने पास न रक्खेंगे। माँ ने उन रत्नोको फेंक दिया। किसीने न उठाया तो लडकोंने कहा कि ये रत्न बहिनके पास रख दो। बहिनने अपने पासके रत्न रख लिए। कुछ दिन बाद बहिन सोचती है कि ये रत्न तो कुछ दिन बादमे हमसे ले लिए जायेंगे। ये तो लाखो रुपयेके है, सो उस बहिनके मनमे उन तीनोको साफ करनेका मनमे विचार आया। फिर वह कुछ सम्हली। सोचा ओह ! इन रत्नोके पीछे मैने अपनी माँ तथा भाइयोको मार डालनेका विचार बनाया, यह कितना खोटा विचार है, सो उस बहिनने भी उन रत्नोको अपने पास रखना स्वीकार नही किया। अन्तमे यह तय हुआ कि इन्हे समुद्रमे फेंक दिया जाय। ऐसा ही किया गया तब शान्ति मिली। तो समझ लो अब इस जड सम्पदाके कारण कितनी ही हानियाँ उठानी पडती है ?

परिग्रहप्रीतिकी क्लेशरूपता—भैया ! जिसे कहते है धीरे-धीरे घाव करना और उस पर नमक छिडना, ऐसा ही क्लेश परिग्रहकी प्रीतिमे होता है, बल्कि इससे भी अधिक पीडा जड वैभवके प्यारमे होती है। इसके मूलमे देखो है क्या ? बिल्कुल व्यर्थ चीज है, जिससे हमारा कोई व्यवहार ही नही है। और जो भी व्यवहार किया जा रहा है उसके प्रयोजनका विश्लेषण किया जाय तो प्रयोजन क्या निकलेगा ? न कुछ। सारी जिन्दगी नाना विकल्पोमे गवा दी। परिजन वैभव सबमे ममता बनायी, आखिर हुआ क्या अन्तमे ? सब कुछ छोडकर चले गए। यह जीव न जाने मरकर कहाँसे कहाँ पैदा हो जाय ? यहाँसे मरकर वनस्पतिकायिक जीव बन गया तो फिर यहाँके समागम क्या काम आयेंगे ? मरकर पेड-पौधे बन गए तो खडे हुए हैं जगलमे। इस जडविभूतिमे कुछ सार मत समझो, अपना एक निर्णय शुद्ध बनावो, बुद्धिमे दोषोको न आने दो। अपनी बुद्धिको निर्मल रक्खो, इस आत्मप्रभुका घात न हो सके ऐसा उद्यम करो। ये सब ठाट तो मिट जायेंगे, पर यह आत्मा तो रहेगा। इस आत्मापर क्या गुजरेगी ? यहाँके ठाट यहाँके समागम मदद देने न पहुचेंगे। अपने किए हुए कार्योंका फल इस जीवको अकेले ही भोगना पडता है।

उपदेशमे पुद्गलप्रीतिपरिहारका प्रयोजन—यह पुद्गल द्रव्योका प्रकरण परमाणु

पुद्गल द्रव्योकी असारता समझनेके लिए पढिये, बाचिये, समझिये। इन पौद्गलिक ठाठोसे हटें और अपने शुद्ध सहज ज्ञानानन्दस्वरूप इस प्रभुकी भक्तिमे लगेंगे। इसमे तो कुछ हाथ लगेगा और इन ठाठ-बाटोमे लगनेसे जैसे कहा करते हैं, कोयलेकी दलालीमे काले हाथ, लेकिन वहाँ भी कुछ मिलता है, पर यहाँ तो कुछ भी इस जीवको नही मिलता है। केवल कल्पनाएँ बनाता है। एक बार भी समस्त परसे न्यारे ज्ञानस्वरूप इस निज आत्माका अनुभव बन जायगा तो यह जीव सदाके लिए सकटोसे छूटनेका मार्ग पा लेगा।

अकिञ्चन आत्मतत्त्वकी अनुभूतिका अनुरोध—भैया! आपके पास २४ घटेमे दो मिनट भी ऐसे फाल्तू नही है क्या कि परपरिग्रहोकी कल्पनामे अपना मन न लगाये रहे। विषय और कषायोमे ही अपना चित्त न लगाये रहे और निज अन्तस्तत्त्वकी उपासनामे लगें। अरे २४ घटेमे कुछ समय तो अपने आत्मानुभवमे लगावो, उससे ही हित होगा। यहाँके बाह्य प्रसगोमे लगकर तो किसी ने भी हित नही पाया। न वे बडे बलवान पाण्डव रहे, न रावण रहा, जो अच्छी करनी कर गए वे भी नही रहे और जो बुरी करनी कर गए वे भी नही रहे। हाँ अन्तर इतना है कि जो अच्छी करनी कर गए वे अब भी जहाँ है तहाँ सुखी है, आनन्दित है और जो बुरी करनी कर गए वे अब भी जहाँ होंगे दुखी होगे, क्लिष्ट होगे। हे आत्मप्रभु! तुझमे कही कुछ कमी है क्या, अधूरापन है क्या? अरे तू तो स्वय अपने आपमे परम आनन्दको लिए हुए है। तू अपनी दृष्टिको एकदम खोकर बाहरमे इन झूठे असार स्कधो मे इतनी तेजीसे लग रहा है। जो हाड़ मास, मज्जा, लोहू इत्यादिसे भरा हुआ यह शरीर है इसमे रति कर रहा है। अरे इन बाह्य प्रसगोमे लगकर तो तू अपना घात किये जा रहा है।

देहविरक्तिकी आवश्यकता—भैया! ध्यान देकर देखो तो सही कि इस पिण्डमे है क्या? इसमे जो एक आधारभूत जीवतत्त्व है वहाँ तक भीतर निरखकर देखो तो सही, यह ऊपर तो चिकना चाम है, ठीक है, यह चिकना चाम भी इस पसीनेके कारण है। कोई सारभूत बात नही है। इस चामके अन्दर माँस, मज्जा, लोहू, हड्डी आदि सभी अपवित्र चीजे है। यह जीव इन माँस मज्जावोमे एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धनसे बधा हुआ ठहर रहा है। कितने कष्टमे है हम आपका परमात्मतत्त्व? जो एक विशुद्ध पावन ज्ञानमूर्ति है, ज्ञान और आनन्द ही जिसका स्वरूप है, ऐसा यह शुद्ध आत्मतत्त्व इन हड्डियोमे फसा हुआ है, उसकी सुध लो। उसकी सुध तब तक नही पायी जा सकती जब तक चेतन अचेतन परिग्रहोको तू अपनेसे न्यारा न समझ लेगा। इन चेतन अचेतन परिग्रहोके लगावको तू अपना विध्वसक जब तक न समझ लेगा तब तक तू इन असार स्कधोसे हटकर अपनी ओर न आ सकेगा।

मायाजालकी निःसारता—ये समस्त दृश्यमान स्कध सब मायाजाल है। इनका विश्लेषण करें तो अन्तमे मूल तत्त्व कुछ न निकलेगा और निकलेगा तो वह परमाणु, जिससे

न व्यवहार चलता है, न जिसका ग्रहण होता है। जैसे कोई किसी आशासे सारा पहाड खोद डाले और सारा पहाड खोद चुकनेपर अन्तमे उसमे से निकले एक चूहा और कुछ न निकले तो वह सारा श्रम व्यर्थ ही तो रहा। ऐसे ही इन दृश्यमान स्कधोका कुछ विश्लेपण करें तो इसमे सार चीज क्या निकली ? वही परमाणु, जिससे किसीका रामजुहार भी नही होता। तो यहाँ न इन दृश्यमान स्कधोमे कुछ सार है और न चेतनाके पथमे हमारे व्यवहारके लिए अन्य जगह कुछ सार है। इन परमाणुवोकी विचित्रता देखो—कोई व्यक्त है, कोई अव्यक्त है।

मायासे निवृत्ति और कल्याणमें वृत्ति—कोई शका करे या प्रस्ताव रक्खे कि ऐसा अव्यक्त शब्द गुण भी मान ले, सो ऐसा नही है, परमाणुमे शब्द अव्यक्त रूपसे भी नही है, क्योकि शब्द एक प्रदेशसे उत्पन्न नही होता है, वह अनन्तप्रदेश अनन्त परमाणु वाले स्कधोसे उत्पन्न हुआ करता है। परमाणु एकप्रदेशी है, शब्द अनेकप्रदेशात्मक है। एक प्रदेशका अनेक प्रदेशात्मकताके साथ एकता नही हो सकती। यो मूर्त गुण वाले परमाणुवोंके कारण यह सारा मायामय जाल रचा खडा हुआ है। इनसे निवृत्त होनेमे और अपने सहज चैतन्यस्वरूपमे उपयुक्त होनेमे ही अपना कल्याण है।

सद्दो खधप्पभणो खधो परमाणुसगसघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

शब्दोकी स्कन्धपर्यायरूपताका वर्णन—पुद्गल द्रव्यके इस प्रकरणमे पुद्गलके परमाणु और स्कध ये प्रकार बताकर और स्कधोके पिण्डरूप अथवा प्रदेशाकार रूप भेद बताकर, अब शब्दको ये पुद्गल स्कधकी पर्याय है इस प्रकार प्रसिद्ध कर रहे हैं। पुद्गलद्रव्यमे रूप, रस, गध आदि ये चार तो गुण हुआ करते हैं। जिन गुणोका कुछ न कुछ परिणमन सदैव रहा करता है। उन गुणोकी भाँति पुद्गलमे शब्द नामका गुण नही है, किन्तु शब्द एक स्कध पर्याय है। शब्द रूपसे इन स्कधोकी परिणति हुआ करती है। शब्दोकी उत्पत्ति स्कधसे है। जब उन स्कधोंमे परस्पर सघट्टन होता है वह रगडनेकी तरहसे सघट्टन हुआ या रगडनेकी तरह से वियोग हुआ तो स्कधोंके उन सयोग और वियोगके कारण इन शब्दोकी उत्पत्ति होती है।

ध्वनिकी इन्द्रियग्राह्यता—ध्वनिका नाम शब्द है। ये शब्द भावेन्द्रियके द्वारा ज्ञानमे आते हैं, और कर्ण नामकी बाह्यइन्द्रियका आलम्बन पाकर ज्ञानमे आते हैं। ५वी इन्द्रिय है कर्णइन्द्रिय। इसका दूसरा नाम है श्रोत्रइन्द्रिय। श्रोत्रका अर्थ है जिससे सुना जाय। श्रूयते अनेन इति श्रोत्र। और कर्णका भी यही अर्थ है जिससे सुना जाय। कर्ण्यते अनेन इति कर्ण। तो एक टेढे-मेढे यत्रकी तरह इन कानोके भीतर जो एक पिंड है, जहाँ एक अत्यत कोमल पर्दा है, जिससे शब्द स्पष्ट होते है, जो पर्दा इतना कोमल है कि वह कुछ सुननेके सम्बधमे मामूली ढंगसे हिलता भी रहता है। जिसकी नकल टेपरिकार्डरमे की गई है। जब उसमे ध्वनि भरते

है तो जो हरे रगका थोडा प्रकाश रहता है वह प्रकाश हिलता रहता है तब उस टेपमें ध्वनि आती है। ऐसे ही इन कानोंके पर्दमें साधारणतया परिस्पंद होता रहता है। तो यह बाह्य श्रवणइन्द्रिय तो आलम्बन हुई और वर्णनामक भावेन्द्रियके द्वारा ज्ञान हुआ।

इन्द्रियके भेदोमें भावेन्द्रियका वर्णन—इन्द्रिया दो प्रकारकी होती है—एक भावेन्द्रिय और एक द्रव्येन्द्रिय। मरनेके बाद दूसरे जन्मस्थानपर यह जीव जाता है तो रास्तेमे विग्रहगति मे इस जीवके भावेन्द्रिय तो है, पर द्रव्येन्द्रिय नही है। और सयोगकेवली अवस्थामे भगवान के द्रव्येन्द्रिय तो है, किन्तु भावेन्द्रिय नही है। भावेन्द्रिय नाम है लब्धि और उपयोगका। जैसे इस प्रकरणमे कर्ण भावेन्द्रियकी बात चल रही है तो कर्णइन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो इसका नाम लब्धि है अर्थात् कर्णेन्द्रियके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको ढाकने वाला जो मतिज्ञानावरण है उसका क्षयोपशम होनेपर यह कर्णभावेन्द्रिय प्रकट होती है। भावेन्द्रिय लब्धिरूप और उपयोगरूप हुआ करती है। लब्धिका तो तात्पर्य यह है कि कर्णइन्द्रियसे जो हम ज्ञान कर सकते है उस ज्ञानको ढाकने वाले कर्मका क्षयोपशम होना और उपयोगका अर्थ है उस शब्दज्ञानके सम्बधमे हमारा उपयोग लगा होना। जैसे कर्णेन्द्रियके द्वारा जाननेकी योग्यता सदा रहती है, परन्तु उपयोग हो देखनेमे, उपयोग हो अन्य बातमे तो शब्द सुननेमे तो न आयेंगे। तो उपयोग भी हुआ लब्धि, और उपयोगका नाम है भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रियका वर्णन—द्रव्येन्द्रिय नाम है शरीरकी रचनाविशेषका, जिसमे आत्मप्रदेशो की रचना भी गर्भित है। द्रव्येन्द्रियमे दो बातें होती है—निर्वृत्ति और उपकरण। जहाँ ज्ञान का सिलसिला चलता है वह तो है निर्वृत्ति, उसमे भी दो बातें है—आत्मप्रदेशोकी तदाकार रचना और पुद्गलकी तदाकार रचना। उपकरणमे उस निर्वृत्तिकी रक्षा करनेके लिए, उपकार करनेके लिए जो उसके आस-पास अगल-बगल चीज होती है वह उपकरण है। जैसे कान कितने है ? किसीने असली कान देखा है क्या, जहांसे शब्द सुनाई देते है। जो खास कर्णइन्द्रिय है वह कर्णइन्द्रिय नही देखा होगा। जो ये कान दिखते है ये कर्णइन्द्रिय नही है। ये उस कर्णइन्द्रियके उपकार करने वाले उपकरण है। तो इस द्रव्येन्द्रियका निमित्त पाकर भावेन्द्रिय के द्वारा शब्दका ज्ञान होता है। भावेन्द्रिय नाम ज्ञानका है और द्रव्येन्द्रिय नाम पुद्गल रचना का है। जो ध्वनि ज्ञात होती है उसका नाम शब्द है।

शब्दकी मायारूपता—इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा मिलती है कि आखिर जिस शब्दपर लोग इतना लट्टू होते है, खाना भी छोड दे, भूखे भी रहे, पर सगीत राग ध्वनि सुननेको मिलना चाहिए। सिनेमाघर कितने भरे हुए मिलते है ? चाहे रिक्शा चलाने वाले, मजदूरी करने वाले भरपेट भी न खायें, लेकिन सिनेमाके सगीत सुननेको मिलना चाहिए। आखिर वह [illegible] है, ये शब्द क्या हैं ? इनकी असलियत मालूम हो और इनका मूल

कारण कुछ विदित हो, यह मायाजाल है, ऐसी जानकारी होनेपर शब्दोमे अनुराग हटनेका एक साहस और उत्साह मिलता है।

शब्दविधि—शब्दका यह जिक्र चल रहा है कि शब्द चीज क्या है ? यह शब्द स्वरूप से तो अनन्त परमाणुवोका एक स्कध है, कोई जोरसे कानोमे बोल दे तो ठोकर लगती है और बादमे कानोको दबाना चाहते है, तो शब्द एक स्कधरूपमे है। कभी इन काले पीले रूपोको देखकर आँखोमे ठोकर लगी क्या ? नही लगती है। गध सूंघकर कभी नाकमे ठोकर लगी क्या ? नही लगी, पर शब्द जरा जोरसे बोले जायें तो कानोमे आघात होता है ना, इससे ही यह बात सिद्ध होती है कि रूप, रस आदिक तो गुणपर्यायें है और शब्द स्कधपर्याय हैं। जैसे ये डाली, पत्थर इनका आघात हो तो चोट लगती है ना, ऐसे ही शब्दोकी भी चोट लग जाती है। यह शब्द द्रव्यपर्याय है और बहिरग साधनभूत जो महास्कध है उनके सघट्टनका निमित्त पाकर भाषावर्गणा योग्य स्कधोका शब्दरूप परिणमन होता है, और इस तरह ये स्कधसे उत्पन्न हुए है, तालू, ओठ वगैरा, ये भाषावर्गणाके स्कध नही है, ये महास्कध है। भाषावर्गणा के स्कध जिनसे शब्दपरिणमन होता है वे आँखो नही दिखते।

महास्कन्ध व भाषावर्गणास्कन्ध—यहाँ प्रसगमे ये दो तरहके स्कध कहे गये है। जो मैटर स्कध शब्दरूप परिणम जाता है उसका नाम तो है भाषावर्गणास्कध, और जिन चीजोकी टक्कर लगनेसे तालू, घटा, झालर, बाजे जिनकी टक्कर लगनेसे ये भाषावर्गणावोंके स्कध शब्द रूप परिणम जाते है, ये स्कध महास्कध नामसे कहे गये हैं। इन महास्कन्धोंके सघट्टनसे भाषा वर्गणाके स्कधोका भी अन्त सघट्टन होता है अथवा उस सघट्टनका निमित्त पाकर भाषावर्गणाये शब्दरूप परिणाम जाते है जब इन महास्कन्धोंमे परस्पर सघट्टन होता है, स्पर्श होता है, ठोकर लगती है उस समय शब्दसे रचे हुए ये अनत परमाणुमयी शब्द योग्य वर्गणायें स्वय परस्परमे एक दूसरेमे प्रवेश करके चारो तरफसे व्यापकर इस सकल लोकमे ये उदित हो रही हैं।

शब्दोत्पत्तिपद्धति—शब्दोकी उत्पत्तिका इसमे ढग बताया है। इन महास्कधोमे तो जो स्कन्ध है वे एक दूसरेमे प्रवेश करने लगते है और जब भाषावर्गणाएँ आपसमे प्रवेश करने लगती है उस समय शब्दोकी उत्पत्ति होती है। कितना सीधा तरीका बताया है, जो शब्दमे आविष्कार करने वाले है रेडियो आदिकके आविष्कार करनेका जिससे मूल मार्ग मिलता है। इस लोकमे यद्यपि ये शब्द ठसाठस भरे पडे है। यह भाषावर्गणा भरपूर पडी हुई है। लेकिन जहाँ-जहाँ बहिरङ्ग कारण सामग्री मिलती है वहाँ-वहाँ उन शब्दोका उदय होता है अर्थात् उस-उस जगह वे भाषावर्गणायें स्वय शब्दरूपसे परिणाम जाती है।

शब्दकी उत्पाद्यता व पौद्गलिकता—ये शब्द नियमसे उत्पाद्य है, इस कारण इनको स्कधसे उत्पन्न हुआ कहा है। कोई दार्शनिक लोग इन शब्दोको आकाशका गुण मानते हैं

और स्थूल बुद्धिमे यह बात थोडी देरको समा भी सकती है कि शब्द आखिर कहाँसे आते है ? न निकलते दिखते है, न इनकी कोई रचना करता है और आकाशमे ही ये शब्द सुनाई देते है। तो शब्द आकाशका गुण होना चाहिए। ऐसा कुछ प्रतिभास करनेके लिए अवकाश भी मिलता है स्थूल बुद्धिमे। लेकिन जो परीक्षणके बाद भी सिद्ध होगा, वह आगममे लिखा हुआ है कि शब्द आकाशका भी गुण नही है। आकाश अमूर्तिक है। अमूर्तिक आकाशका गुण शब्द होता तो ये अमूर्त शब्द इन इन्द्रियोके द्वारा जाने न जा सकते थे। ये पाँचो इन्द्रियाँ मूर्तिक पदार्थोंको जाना करती है। अमूर्तिक आकाशको जाननेकी सामर्थ्य इन्द्रियोमे नही हैं, इस कारण ये शब्द आकाशके गुण नही हैं।

शब्दभेदविस्तार व भाषात्मक शब्दका वर्णन—अब इन शब्दोका विस्तार निरखिये। ये शब्द दो प्रकारके होते है–एक प्रायोगिक और दूसरे वैश्रसिक। जो प्रयोगसे उत्पन्न हुए है, मेलमिलापसे संघट्टनसे क्रिया करने वाले जीवकी क्रियावोसे जो शब्द उत्पन्न होते है वे प्रायोगिक है और जो स्वयं ही उत्पन्न हुए है जिनमे क्रियाशील किसी त्रस जीवका प्रयोग नही है, जैसे मेघगर्जना आदिक ये वैश्रसिक शब्द है। अब इन शब्दोके प्रकार दूसरी तरहसे यो जानो। शब्द दो तरहके होते है–एक भाषात्मक और दूसरे अभाषातमक। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके है–एक अक्षरी और एक अनक्षरी। मनुष्य और देव तो सस्कृत प्राकृत इत्यादि अनेक भाषाये बोलते है। सारी भाषाये व्यवहारमे काम आती है। तो ये सब भाषायें अक्षरात्मक है, और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय ऐसे जीव अथवा पशु पक्षी भी जो बोलते है वे शब्द अनक्षरात्मक शब्द है। इनमे अक्षर नही है, केवल एक ध्वनिरूप है।

प्रभुकी दिव्यध्वनिका रूप—यहाँ यह भी एक विशेष बात समझनेकी है कि भगवान अरहंतदेवकी जो दिव्यध्वनि खिरती है वह भी अनक्षरात्मक है। उसमे सस्कृत प्राकृत या अन्य-अन्य बोलियोकी तरह अलग-अलग शब्द नही होते है। हम आप भाषावोका आलम्बन लेकर बोलते है या किसी भापा वाक्योकी पद्धतिसे बोलते है तो इसमे राग सिद्ध नही हुआ क्या ? रागाश हुए बिना हम इन वचनोको क्रमसे नही बोल सकते। किसी ही प्रकारका राग हो, यदि हम आपकी तरह भगवान भी किसीसे बोलते हो तो उनमे राग सिद्ध हो जाता है। भगवान तो वीतराग है, वे यदि हम लोगोकी तरह क्रमिक शब्द बोलते है तो उनमे तो राग सिद्ध हो जायगा। वे किसीके प्रश्न सुनें और उसका समाधान दें, इसमे तो राग है। अत भगवान कोई भाषा नही बोलते है।

प्रभुदेहका अतिशय—भगवान वे ही तो हैं जो कभी आदमी थे हम आप सरीखे ही, और सस्कृत प्राकृत बोलते थे, खूब बातें होती थी। जब उन्होने मुनिपद धारण न किया था, उससे पहिले जब गृहस्थीमे थे तो क्या कभी अपनी मित्रमडलीमे उनसे प्रशस्त गप्पें न हुआ

करती थी, अथवा शासन-व्यवस्थामे न लगते थे क्या या उपदेश वगैरह न किया करते थे क्या ? ये सब कुछ किया करते थे, लेकिन अब परमात्मा होनेपर ये सब खतम हो गये। वे सारीकी सारी बातें बदल गयी। शरीर भी वैसा नही रहा। निर्दोप परमौदारिक स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ उनका शरीर हो गया। इसी कारण तो कोई आगे पीछे कहीसे भी देखे तो उनका मुख दिखता है। उनका शरीर इतना पवित्र स्फटिकमणिकी तरह स्वच्छ हो गया जैसा मुख आगे से दीखता ऐसा ही चारो ओरसे दीखता है।

दिव्यध्वनिकी सर्वभाषारूपता—प्रभुकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है। इस बातको आप लोगोने पढा भी होगा। साथ ही यह भी लिखा है दशग्रष्ट महाभाषा समेत। यद्यपि उनकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है तथापि १८ महाभाषावोसे सहित है। कीडा-मकोडोकी ध्वनिमे भी अक्षर नही है। यदि इन १८ महाभाषावो सहित प्रभुकी ध्वनि न हो तब तो उनकी ध्वनि कीडा मकोडोकी जैसी ध्वनि मानी जायगी, पर ऐसा नही है। वह अनक्षरात्मक है फिर भी १८ महाभाषावो सहित है। जिसमे ७०० छोटी-छोटी भाषायें समायी हुई है। यहाँकी लौकिक भाषायें किसी तरह किसी दिन मिल-जुलकर बन गयी हो, ऐसा तो नही है।

सर्वभाषामय ध्वनिसे सर्वका लाभ—भगवानके समवशरणमे अमेरिका वाले, अंग्रेजी, चीनी, रूसी, जर्मन इत्यादि सभी जगहके लोग पहुचे होंगे। भगवान यदि हिन्दी भाषामे बोलते तो और भाषावोके जानकार तो टापते रह जाते, कुछ भी न समझ पाते। पर ऐसा नही है। भगवानकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है, उसमे कोई भाषा विशेष नही है, सर्वभाषामय है। उस दिव्यध्वनिमे ऐसा अतिशय है कि वहाँ बैठे हुए सभी भाषावोके जानकार अपनी-अपनी भाषामे अर्थ समझ जाते है। अब तो यो सुननेमे आता है कि कोई यत्र ऐसा बना है कि भाषण किसी भी भाषामे हो, मगर तुरन्त ही उसका ट्रासलेशन अन्य भाषावोमे होता रहे। भला बतलावो जहाँ इन्द्र वैज्ञानिक मौजूद है वहाँ क्या ऐसे अनुपम यत्र न होंगे ? यह दिव्यध्वनि निरक्षर शब्दमे है, भाषामे है। शब्द दो प्रकारके बताये जा रहे है ना—एक भाषात्मक और एक अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द तो ये प्रायोगिक है। अब अभाषात्मक शब्दकी बात सुनिये।

अभाषात्मक शब्दका वर्णन—अभाषात्मक शब्द जिनमे भाषा नही है वे दो प्रकारके होते है—प्रायोगिक और वैश्रसिक। एक बात और ध्यानमे देना है—भगवानकी दिव्यध्वनि तो अनक्षरभाषामय तो है, किन्तु है वैश्रसिक, प्रायोगिक नही है। भगवान तालुवोको, ओठोको हिलाकर बोलते हो ऐसा नही है। उनके सर्व अगसे एक मधुर प्रिय ध्वनि निकलती है, वह ध्वनि है अभाषात्मक। शब्द दो प्रकारके है—एक प्रायोगिक और दूसरे वैश्रसिक। प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द तो सगीतके बाजेके है। चमडेके मढे हुए बाजे हो, तारके बाजे

हो, वीणा, बांसुरी आदिके जो शब्द निकलते है वे प्रायोगिक नही है, अभापात्मक शब्द है, और मेघोकी गर्जना आदिक ये सब वैश्रसिक शब्द है। ये सब शब्द महास्कधोसे सघट्टन होनेपर भापावर्गणाके योग्य पुद्गलमे ध्वनि बन जाती है, और उस समयमे भाषावर्गणाके स्कध परस्पर एक दूसरेमे प्रवेश करते हुए शब्दरूप परिणमा करते है, इसीको ध्वनितरग कहते है। भापावर्गणा स्वय तरगित हो जाती है और यह ध्वनि इस तरग रूपसे चलती है।

शब्दविस्तारकी पद्धति—देखो भैया! शब्दका विषय भी एक महान शब्दशास्त्रको बना देगा। ये शब्द जो हम बोलते है ये कही किसीके कानोमे नही जाते, क्योकि जो हमने शब्द बोल दिये वे यदि किसी एकके कानमे चले गए तो बाकी जो २००-४०० लोग बैठे है वे उन शब्दोको सुननेसे वञ्चित रह जायेगे। यदि ऐसा होने लगे कि जिधरको मुख करके बोल रहे है उधरके ही लोग उन शब्दोको सुन पायें, पीछे बैठे हुए लोगोको वे शब्द सुनाई ही न पडें तब तो फिर वे पीछे वाले बेचारे शब्द सुननेसे वञ्चित रह जायेंगे। किन्तु ऐसा नही होता है। चारो तरफ भाषावर्गणायें है उन भाषावर्गणावोमे शब्दोका परिणमन हो जाता है। और सभी लोग अलग-अलग उन शब्दोको सुन लेते है। इन शब्दोकी स्कधसे उत्पत्ति बताने के लिए यह गाथा कही गयी है।

शब्दकी अव्यञ्ज्यता व उत्पाद्यता—शब्द पुद्गलकी पर्याय है, आकाश आदिककी पर्याय नही है। कुछ दार्शनिक लोग ऐसा मानते है कि ये शब्द सदा रेडी रहते है, बने हुए रहते है, तैयार पडे है, उन शब्दोकी उत्पत्ति नही करनी पडती, किन्तु जैसे घडा ढका है कपडे से तो घडा वहाँ मौजूद है, केवल एक कपडेका आवरण हटाना है, घडा दिख जायगा। ऐसे ही शब्द सब जगह मौजूद है, केवल एक आवरण हटाना है। तो कुछ दार्शनिक लोग शब्दो को व्यक्त करने योग्य मानते है, लेकिन शब्द व्यञ्ज्य नही है। जहाँ अन्तरग बहिरग कारण सामग्री योग्य साधन मिल जाते है वहाँ भाषावर्गणाके योग्य ये पुद्गल स्वय शब्दरूप परिणम जाते है।

शब्दकी हेयता व आत्मतत्त्वकी उपादेयता—ये शब्द मायामय है। इन मायामय शब्दोमे जो पुरुष आसक्त होते है, लीन होते है वे रागद्वेषके वश होकर कर्मबन्ध करते है, इस लोकमे भी पराधीन हो जाते है और कर्मके आधीन होकर भावी कालमे भी वे पराधीनताका दुःख सहते है। ये शब्द हेय तत्त्व है अर्थात् ये शब्द भी हेय है, ग्रहण करने योग्य नही है। यहाँ तक कि अपने अन्तरगमे जो ध्यानके लिए शब्द उत्पन्न होते है वे भी हमारे किसी न किसी रूपमे बाधक है। ऐसे इन शब्दोका भी अभाव हो जाय तब इस आत्माकी आत्मोपलब्धि होती है। ये हेय तत्त्व है, इस कारण शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय है ऐसा तात्पर्य लेना। ये बाह्य पौद्गलिक बातें ये समस्त हेय है, इनसे हटना और निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपमें

अपना उपयोग देना यही कल्याणका मार्ग है ।

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता ।
खधाण पि य कत्ता पविहत्ता कालसखाण ॥८०॥

नित्यदृष्टिमे मोहविघात—यह जगत जो कुछ दीख रहा है यह तो विघट जाता है, ओझल हो जाता है, यह सारभूत नही है । इस दृश्यमान जगतमे इसका जो मूल कारण है वह है परमाणु । उस परमाणुके स्वरूपका इसमे वर्णन है । जैसे हम अपने आपमे अपना मुख्य आधार जो एक चैतन्यशक्ति है उस चैतन्यशक्तिपर दृष्टि जाय तो रागद्वेष मोह नही ठहरता, ऐसे ही इस दृश्यमान दुनियाके कारणभूतपर दृष्टि जाय तो रागद्वेप मोह नही ठहरता ।

सृष्टिका मूल कारण—कुछ लोग इस दुनियाका कर्ता ईश्वरको मानकर उस ईश्वरको अपनी भक्ति और दृष्टि इस ध्यानसे लगाया करते है कि यह प्रभु मुझे दुःख न दे, सुख दे, सद्बुद्धि पैदा करें आदिक सारी बातोको लिए यह सारा जगत चराचर है, तो जीव और अजीवमे तो जीवमे मूल कर्ता है यह चैतन्यशक्ति और अजीवका मूल कर्ता है परमाणु । यही है सृष्टिकर्ता और ये है सब अनन्त, अतएव सभी सृष्टियोमे कोई किसी प्रकारकी बाधा नही होती ।

आत्मरक्षाके लिये नित्यतत्त्वकी दृष्टिका अनुरोध—यह परमाणु नित्य है क्योकि यह एकप्रदेशी है । एकप्रदेशीके रूपसे यह कभी नष्ट नही हो सकता । इसमे रूप आदिक सामान्य गुण हमेशा रहा ही करते है, अतएव यह नित्य है । देखिए नित्य अपने आपके स्वरूपका बोध होनेसे एक आत्मतृप्ति रहती है और अनित्य पदार्थोंसे उपेक्षाभाव जागृत होता है । आत्मा स्वय आनन्दनिधान है, क्षमाशील है । वास्तविक क्षमा तो आत्माकी यही है कि यह विषय कपायोमे न लगकर अपने आपके ज्ञान दर्शन स्वरूपकी रक्षा करे और उसे बिगडने न दे, क्षोभ न आने दे । यही है एक उत्तम क्षमा । जगतके अन्य जीवोसे प्रयोजन क्या है, इनमे राग करने से क्या सिद्धि है और विरोध करनेसे क्या सिद्धि है ? राग और विरोध जो किये जाते है वे भी स्वप्नकी तरह अपनी कल्पनाएँ है, क्षणभगुर है । जो जीव इन कल्पनाओंमे उलझ जाता है, इन क्षणभगुर घटनाओमे उलझ जाता है वह न शात रह सकता है, न अपना भावी जीवन सुधार सकता है ।

परमाणुमे अनवकाशताका अभाव—इस दृश्यमान दुनियाका कारणभूत परमाणु नित्य है और उस परमाणुमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण गुण भरे पडे हुए है । उसही प्रदेशमे स्पर्श है, उस ही प्रदेशमे रस है, गध है, वर्ण है, कोई किसीको रोकता नही है, इसलिए यहाँ अनवकाश नही है, अर्थात् यहाँ समाने को जगह न रहे ऐसी बात नही है । ऐसी ही बात अपने आत्माकी भी निरखें । इस आत्माके जिस प्रदेशमे ज्ञान है, उस ही प्रदेशमे दर्शन गुण है, उस

ही प्रदेशमे आनन्दगुण है। यह आत्मा भी इस ही तरह अनवकाश नही है। अनन्तगुणोसे यह अपने आपमे स्थान देनेमे समर्थ है।

परमाणुमें सावकाशताका अभाव—इस परमाणुमे एक ही प्रदेश है, दो आदिक नही, अतएव यह परमाणु अपने आप ही आदि, अपने आप ही मध्य और अपने आप ही अंत है, इस लिए यहाँ दूसरेका प्रवेश नही है। जरा अपने आत्मापर भी दृष्टि दो। यह आत्मा एक अखण्ड है। इस आत्मामे किसी दूसरे आत्माका प्रवेश नही है, अतएव यह भी सावकाश नही है। इस आत्माका यह ही आत्मा आदि है, यह ही मध्य है और यह ही अन्त है और यह आत्मा द्रव्यश्रुतसे तो प्रतिपाद्य होता है और भावश्रुतसे जाना जाता है। इस आत्माकी जिन जीवोने सुध नही ली वे अब भी रुलते हुए इस ससारमे चले आ रहे है।

लोकोत्तर वैभवकी उपेक्षा—अपने आपकी सुध हो जाना लोकोत्तर वैभव है। एक बार इतना साहस तो देवो कि मेरे आत्माका वैभव मात्र यह मै ही हूँ और यह तीन लोकका सारा जड वैभव यह तो धूलवत् है। जो समस्त अचेतन पदार्थोंसे समस्त परिग्रहोसे एक बार भी इस तरहसे देख लेता है कि है क्या, यह सब धूल है। अरे इस जड वैभवके कारण यदि कुछ यहाँ इज्जत भी बढी, इज्जतके लिए तो लोग धन कमाया करते है। धन कमानेका, अधिकसे अधिक सचय करनेका और प्रयोजन क्या है ? यही न कि हम भूखे न रहे, ऐसा न हो कि किसी दिन रोटी न मिले। अरे यह प्रयोजन नही है। सब जानते है कि रोटी खानेके लिए ही लोग धनकी कमाई नही करते है। लोग धनकी कमाई करके, धनका सचय करके इज्जत चाहते है। अरे जिस दुनियामे इज्जत चाहते हो वह दुनिया है क्या ? जिन लोगोमे इज्जत चाहते हो वे लोग है क्या ? हम आपकी ही तरह कर्मोंके प्रेरे वे सब भी जीव है। विपदावोसे परेशान होकर ससारमे जन्म-मरण कर रहे हैं। अरे वे सब भी मायारूप है, स्वय दुखी है, ऐसे इन जीवोने मानो कुछ यश भी गा दिया, इज्जत भी कर दिया तो इससे आपके आत्माका कौनसा सुधार हो जायगा ? यहाँके सभी जीव मोही मलिन दिखते हैं, नरक निगोद के पात्र बने हुए है।

प्रभुपूजाका प्रयोजन—भैया ! प्रभुपूजासे यही तो हम अपने आपमे भावना लायें कि हे प्रभो ! मुझे तुम अपने निकट बुला लो। यहाँ रहनेका मेरा धाम नही है। निकट बुलाने का नाम जगहके निकट नही, किन्तु जैसा तुम्हारा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप मेरा होने लगे, बन जाय, इससे ही मेरा भला है। बाकी इस दुनियामे जहाँ हम रह रहे है यह सब मायाजाल है, विनश्वर है। भिन्न है। इसमे मेरा धाम नही है, रहने योग्य स्थान नही है। जितना भगवानकी भक्ति द्वारा, ज्ञानचर्चा द्वारा, ध्यान द्वारा परपदार्थोंसे हटकर अपनी ओरका झुकाव होगा उतना ही भला है और इसी झुकावके लिए ऋषिसंतोंने पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका वर्णन

किया है ।

स्कन्धभेतृत्व—यहाँ परमाणुकी चर्चा चल रही है । परमाणुका अर्थ जो कुछ यहाँ दिखता है इन दिखने वाली चीजोमे मूलतत्त्व क्या है, असली चीज क्या है जो मिट न सके ? यह भीत तो मिट जायगी, यह शरीर तो बिखर जायगा । न मिटने वाली यहा कोई वस्तु है अथवा नही ? परमाणु है । यह परमाणु स्कधोमे पडे हुए है, किन्तु जब इन परमाणुवोमे किसीमे योग्य स्नेह न रहेगा तो इन स्कधोका भेद न हो जायगा और इससे छूट जायेंगे । जैसे कि जिस आत्मामे स्नेह नही रहता, रागद्वेष मोह परिणाम नही रहता तो वह कर्मस्कधो से अलग हो जाता है, छूट जाता है । इसी तरह इन दिखने वाले पदार्थोंमे से परमाणु भी जब अपने एक प्रदेशमे उस प्रकारका स्नेह नही रहता तो विघट जाया करता है ।

दर्शनकला—भैया ! यह सब देखनेकी कला है । जैसी किसी पुरुष अथवा महिलाको किसीको रागभावकी दृष्टि करके देखा तो उसमे स्वच्छता, सुन्दरता, साफ इस तरहकी दृष्टि बन जायगी, यह नजर आने लगेगा और जब बुद्धि काबूमे हो, रागद्वेष भाव न जग रहा हो, केवल कल्याणमात्रकी स्थिति हो तो ये शक्ल सूरत सब पुरुषो जैसी साधारण मालूम होती है । जैसे कोई मरघटमे पडी हुई खोपडी बेढब ढगकी दिखती है ऐसे ही ये सारी सूरतें बेढगी दिखेंगी । सब दृष्टिका बल है । अज्ञानभावसे कोई जीव शान्त अथवा सुखी नही हो सकता है । परपदार्थोंको अपनाना, परिग्रहोमे तीव्र ममता रखना यह घोर अज्ञानभाव है । इनमे पड कर परेशान होता है यह जीव । शरण चाहता है दूसरोसे, पर शरण मिलती नहीं है तो दु खी होता है । मेरा दु ख मिटे । अरे दु ख कैसे मिटे ? दु.ख तो तुमने ही ममतापरिणाम करके बनाया है । उस ममतापरिणामको मेट लो तो अभी सुखी हो जावोगे ।

नि.स्नेहतासे विपदाका अभाव—किसी बालकके हाथमे कोई खानेकी चीज हो तो उस बालकपर घरके या निकटके बालक टूट पडते है उस खाने वाली चीजको छीननेके लिए, वह बालक दु खी होता है । अरे बालक उस चीजको फेंक दे, पैरोसे कुचल दे, लो सारे दुःख मिट जायेंगे । अरे फेंक दिया, कुचल दिया तो फिर कोई बालक काहेको लडेगा ? ऐसे ही ये ससारी बालक अपने उपयोगमे इन सभी चीजोको पकडे हुए है, इसीलिए अनेक प्रकारके विवाद, कलह, लडाई झगडे होते रहते है । यह सारी सम्पत्ति मेरे ही घरमे आ जाय, ज्ञानमे यशमे, धनमे, व्यापारमें सभी बातोमें अनेक प्रकारके विवाद बने रहते है, झझट बने रहते है ।

मायाकी प्रीतिमे अलाभ—भैया ! सीधासा तो काम था कि धर्मके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति बनाते । जो कुछ भी आय होती उसमें धर्मका विभाग और पालनपोषणका विभाग करके अपनी आजीविका चलाते । यह कला सबमें मौजूद है, सभी गुजारा कर सकते है । बजाय यह भावना भानेके उल्टी यह भावना भाने लगे कि हमारा तो इतनेसे काम ही नही

चलता। लखपति होनेसे तो कुछ भी सिद्धि नही है, इतनेसे तो हमारा गुजारा ही नही चलता है। करोडपति होना अच्छा है। करोड़पतियोकी वान्छा देखो—वे भी तृष्णावश अपने को दुःखी अनुभव करते है। तृष्णावश उस धन वैभवकी कमाईके लिए अथक परिश्रम करते, यत्न करते, अनेक कोशिशें करते, इसीसे यह जीव सदा परेशान रहता है, रहेगा। अन्तमे किसीके पास कुछ नही। लेकिन जितना जो कुछ मिला है उतनेसे सन्तोप नही हो पाता और उतनेका भी सुख नही भोगा जा सकता है। अरे ये सब धन वैभव विनश्वर है, मायारूप है। उसमे तो यथार्थ मूल परमाणु ही तत्त्व है। यह परमाणु स्कधोका भेद करने वाला है।

स्नेहसे मायाजालकी वृद्धि—इस ही प्रकार जब इस एकप्रदेशी परमाणुमे योग्य स्नेह भाव आ जाता है, स्निग्धता आ जाती है तो यह स्कधोको बना लेता है। जैसा इस जीवमे जब बन्धनके योग्य स्नेह रहता है, रागद्वेष मोह रहता है तो यह कर्मस्कधोका कर्ता हुआ करता है। ऐसे ही यह परमाणु इन स्कधोका कर्ता बन जाया करता है। देखिये कोईसा भी विवाद हो उस विवादका प्रारम्भिक मूल अत्यन्त छोटा हुआ करता है। उस छोटे मूलके बाद विवाद होता है, वह विवाद बडे रूपमे हो जाया करता है। जैसे भाई-भाईमे लडाई। पार्टी-बन्दी, ये सब होते है, कचहरियाँ चल जाती है तो उसका भी कारण मूलमे ढूंढने चलो तो न कुछ जैसा मिलेगा। वह मौलिक कारण ऐसा होगा जो हास्यके योग्य होगा। ऐसे ही जानो कि यह जो इतना बडा विस्तार बन गया है दुनियाका, उस दुनियाके विस्तारका मूल-कारण केवल एकप्रदेशी यह परमाणु है। अथवा यह जितना जो कुछ जीवलोकका विस्तार बन गया है, इतना रागादिक भावोका विस्तार बन गया है उसका मूल कारण केवल एक अज्ञानभाव है। कौनसा कि जीवने इतना भर मान लिया इस देहके प्रति कि यह मै हूँ, इतना ही मात्र अपराध किया। इस अपराधका दण्ड, इस अपराधका विस्तार इतना बडा बन गया कि ये सारी परेशानियाँ हम आपको लग रही है।

अज्ञानविपदा—क्या यह कम विपदा है किसीको मान लिया कि यह मेरा है, किसी को मान लिया कि यह गैर है, इतनी मनमे कल्पना उठना क्या यह कम विपदा है? सारी विपदावोका यह एक मूल उपाय बना है। जीव-जीव सब एक समान है। कोई आज आपके पास आ गया, आपके घर पैदा हो गया तो उसे आप मान लेते कि यह मेरा सब कुछ है और वही मरकर किसी पडौसीके यहा उत्पन्न हो जाय और फिर वही जीव आपको दिखे तो आप उसे अपना नही मानना पसद करते है। यह विडम्बना नही है तो फिर और क्या है? आज जो जीव गैर माने जा रहे है, वही मान लो आपके घर आकर पैदा हो जावें तो आप उन्हे ही अपना सर्वस्व मान लेते है। तो यह क्या है? यह अज्ञानकी विडम्बना है कि नही? ज्ञानी जीव पास आये हुए जीवोमे भी वही झलक लेते है जो भरक सब जीवोमे किया करते

है। सर्व जीव एक चैतन्यस्वरूप है और सब मुझसे अत्यन्त जुदे है। यह तो एक सफर है। इस सफरमे कुछ समयके लिए अपनी व्यवस्था बनानेके प्रयोजनसे इन यात्रियोसे परिचय बनाया गया है ताकि हमारी यह जरासे वर्षोंकी सफर ऐसी बीते कि धर्ममार्गमे हम अग्रसर बने रहे। इसके लिए थोडा-सा यह परिचय बना हुआ है।

निरंश तत्त्वकी मार्गणा—परमाणुकी चर्चामे ऐसा ध्यान देना चाहिए कि जो कुछ यहा दिखने वाला है इसके टुकडे होते होते आखिर कोई टुकडा ऐसा बन जाता है जिसका दूसरा विभाग ही नही हो सकता, वह हाथो नही बनाया जा सकता, वह अपने आप बनेगा। वह परमाणु अपने एक प्रदेशरूपमे तो है, इस मदगतिसे चलकर दूसरे पासके आकाश प्रदेश पर पहुच जाय, इतनेमे जितना समय व्यतीत होता है उससे एक समय कहा करते है, और इस लोकाकाशपर ऐसे-ऐसे कालाणु असंख्यात है, उन कालाणुवोंके बधका विभाग वाला यह परमाणु है, बल्कि यो समझो कि परमाणु सब मापोका कारण है। छोटासे छोटा द्रव्य कितना ? एक परमाणुका। छोटासे छोटा क्षेत्र कितना ? एक परमाणु जितनेमे समा सके वह छोटासे छोटा क्षेत्र है। छोटासे छोटा काल कितना ? एक परमाणु अपने प्रदेशका अतिक्रमण जितने समय कर सके वह छोटासे छोटा समय है और छोटासे छोटा भाव क्या ? वह जैसा कि एक परमाणु, जैसे कि वह अविभक्तप्रदेशी है अथवा जघन्यगुण वाला परमाणु है। वैसे ही जघन्य भाव मिलेगा। यह परमाणु सबका मापदण्ड बना हुआ है, यही है इस सारी दुनियाका मूल कारणभूत। इसे दृष्टिमे न लेकर जो जीव इन स्कधोको ही अपना सर्वस्व समझते है उनके मोह बढने लगता है।

परेशानी और उसके दूर करनेका उपाय—यह सारा जगत मोहसे परेशान है। बडे बूढे, बच्चे बालक इन सबके यही रोग लगा है। जिसके पास बैठो वही कुछ न कुछ अपने दु:खकी कहानी सुनाने लगता है। सुखकी कहानी सुनाने वाले कम मिलेंगे और जो सब बातोसे लोकव्यवहारसे परिपूर्ण है और सुखकी कहानी भी कदाचित् सुनाने लगे तो भी उसकी अपेक्षा दु खकी कहानी कई गुणा सुनायेगा। कारण यह है कि दु ख सहा नही जाता और ऐसी स्थितिसे दुःख ही दु ख नजर आता है। जैसे एक लाखका धन हो, उसमे १ हजार घट जाय तो ९९ हजारका सुख अनुभव नही कर सकते, किन्तु उस एक हजारके नुक्सानका दुःख अनुभव करते है। ऐसी ही बात सब परिस्थितियोकी है। किसी भी परिस्थितिमे यह जीव ऐसा सन्तोप नही करता कि अब इससे आगे बढानेसे क्या लाभ है ? बढें तो आत्माके गुणोके विकासमे बढें। अपने भीतरके ज्ञानप्रकाशकी वृद्धि करें और इसका यत्न भी करें। इस ओर दृष्टि उनकी ही जाती है जिनका होनहार अच्छा है।

योग्य आचारका अनुरोध—भैया ! कुछ भी सोच ले यह जीव, कुछ भी कर ले यह

जीव । आखिर अपने किए का फल अवश्य पा लेगा यह जीव । वर्तमानमे ही देख लो, कोई सद्व्यवहार करता है तो उसे फल उसका बादमे मिल जाता है । ऐसे ही जो जीव असद्व्यवहार करता है, हिसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोमे रमता है, मिथ्यात्वका खण्डन नही कर सकता, सम्यक्त्वकी उपासना नही कर सकता वह जीव वर्तमानमे भी दु खी है और भविष्यकालमे भी दु खी होगा । आत्माका दु ख जैसे मिटे वैसा उपाय बना देना ही वास्तविक क्षमा है । अपना ही दु ख मिटा ले तो क्षमा बन जायगी । चलो न सही दूसरेके दु.खको मिटाने की बात, अपना ही दु ख मिटा लें, सही ईमानदारीसे सोचो—किस प्रकारका दु·ख लगा है और यह दु ख किस प्रकारसे मिट सकेगा ? उस उपायको कर लो, अब क्षमावान हो गए । जो भी आप उपाय करेंगे सही अपने आपको शान्त रखनेके लिए, उस उपायसे दूसरोका भी भला होगा और अपने आपका भला तो सुनिश्चित ही है ।

प्रभुताकी उपासना संकटमुक्तिका उपाय——यह जीव अपने आपके प्रभुपर ही क्रोध कर रहा है । दगा, विश्वासघात, हिंसा, झूठ, चोरी किसी प्रकारके अनेक गडबड परिणाम करके यह जीव अपने आपका घात कर रहा है । किसका ? अपनी प्रभुताका । इस आत्मामे अनन्त प्रभुता है । जिसका ज्ञानस्वभाव इतना उदार है कि सारे लोकालोकको एक दृष्टिमे जान ले । अपने आपमे विकल्प बनाकर यह जीव अपने आपकी प्रभुताका घात किए जा रहा है । इस खुदको बचावो, अपने आपकी इस प्रभुतापर कुछ क्षमाभाव तो लावो । अपने आपको व्यर्थमे क्यो सताया जा रहा है, यह शिक्षा हमे प्रभुउपासनासे मिलती है । हम प्रभुभक्तिसे अपने परिणाम ऐसे बनाएँ कि अपने आपको विषयकषायोमे न लगने दे । दूसरे जीवोको जिसमे दु ख उत्पन्न होता हो ऐसा कोई कार्य न करे । यदि ऐसा कार्य कर लिया तो इससे स्वयको भी प्रसन्नता रहेगी, दूसरे लोग भी प्रसन्न रहेगे और यही उत्तम क्षमा धारण करनेका प्रथम कदम होगा ।

परमाणुकी निरंशताका अवगम——यहाँ शुद्ध परमाणुकी चर्चा की जा रही है । जैसे निरश सिद्ध भगवानके ध्यानमे विषयकषायको अवकाश नही है, इसी प्रकार निरश परमाणुके स्वरूपके ज्ञानके समय विषयकषायका आक्रमण नही है । सिद्धकी निरशता अखण्डरूपसे है, है वे यद्यपि असख्यातप्रदेशी, किन्तु है त्रिकाल अखण्ड पदार्थ चेतनतत्त्व । परमाणु भी अखण्ड है वह भी निरश है । देखिये भगवानका भी निजमे सर्वत्र एक वही परिणमन है । जो परिणमन प्रभुके एक प्रदेशमे है वही सर्वप्रदेशोमे है । जैसे भगवान केवली एकप्रदेशमे हुए केवलज्ञानाशसे, एकसमयसे समय रूप व्यवहारकालका और सख्याका परिच्छेदक है, ज्ञायक है, उसी प्रकार परमाणु भी एक प्रदेशसे मदगतिसे अणुसे अन्य अणुपर व्यतिक्रमसे समयरूप व्यवहारकालका परिच्छेदक अर्थात् भेदक होता है ।

परमाणुमें संख्याकी प्रविभक्तता व परमाणुपरिज्ञानसे लाभ—सख्याको आठ प्रकारो मे जानिये—(१) जघन्य द्रव्यसख्या, (२) उत्कृष्ट द्रव्यसख्या, (३) जघन्य क्षेत्रसख्या, (४) उत्कृष्ट क्षेत्रसख्या, (५) जघन्य व्यवहारकालसख्या, (६) उत्कृष्ट व्यवहारकालसख्या, (७) जघन्य भावसख्या, (८) उत्कृष्ट भावसख्या। जघन्य द्रव्यसख्या तो एक परमाणुरूप है, उत्कृष्ट द्रव्यसख्या अनन्तपरमाणु पुञ्जरूप है। जघन्य क्षेत्रसख्या तो एक प्रदेशरूप है, उत्कृष्ट क्षेत्रसख्या अनन्तप्रदेशरूप है। जघन्य व्यवहारकालसख्या तो एक समयरूप है, उत्कृष्ट व्यवहारकालसख्या अनन्तसमयरूप है। परमाणुमे वर्णादिककी जो सर्वजघन्य शक्ति है वह जघन्यभावसख्या है, उस ही मे जो वर्णादिककी सर्वोत्कृष्ट शक्ति है वह उत्कृष्ट भावसख्या है। इन सख्याओका परिच्छेदक भी एक अणु है। देखिये यहाँ शुद्ध अणुकी चर्चा चल रही है। इस मायाजालका मूल अन्तस्तत्त्व यह अणु है। इसके परिज्ञानमे जो उपयोग रहता है वह उपयोग मायाजालके विषयसे दूर रहता है। पुद्गलके अवगमके प्रसगमे परमाणुका अवगम विषयोसे दूर रखता है। इस कारण भी परमाणुका परिज्ञान यहाँ उपयोगी समझा गया है और इस गाथामे परमाणुकी एकप्रदेशरूपताका प्रतिपादन किया है।

एयरसवण्णगंध दो फास सद्दकारणमसद्द ।
खधतरिद दव्व परमाणु त वियाणेहि ॥८१॥

शुद्ध परमाणुका महत्त्व—द्रव्यके नातेसे जो एक शुद्ध सिद्ध भगवानका महत्त्व है वही परमाणुका महत्त्व है। हम आप जीव हैं, सिद्ध भगवानकी जातिके है, वर्तमानमे दु खमे पडे हुए है। दु खसे निवृत्त होना है इस प्रयोजनसे इस निजके स्वार्थकी सिद्धिके लिए भगवान की महिमा गाया करते है। ठीक हम अपनी दृष्टिसे सोचते है और यहाँ तक भी सोच सकना उचित है कि मान लो इस दुनियामे समस्त द्रव्य होते, केवल एक जीवद्रव्य ही न होता तो क्या व्यवस्था थी ? कौन जानने वाला था, किसको जाना जाता ? कुछ भी वहाँ व्यवस्था न होती। इसमे यह बात ठीक है, फिर भी परमाणुकी यह शुद्धता जाननेमे भी दो बातें गर्भित है—एक तो यह कि जैसे सभी द्रव्योकी शुद्धता हम जानें तो पुद्गलकी भी शुद्धता जाननेमे आना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमारा जितना जो कुछ लगाव है, जो कुछ भ्रमणका कारण है, क्लेशका कारण है, उनका आश्रय, उनका निमित्त ये पुद्गल स्कध हैं, तो इनसे हमारा वास्ता पडा करता है और वह अहितरूपमे तो इस अहितकारी आश्रयभूत, निमित्तभूत स्कधोकी असलियत जाननेमे आ जाय तो फिर ये राग मोह नही ठहर पाते है। तो अपने पवित्र स्वार्थके लिए भी पुद्गलकी शुद्धता जानना आवश्यक हुई।

शुद्धद्रव्यदृष्टिका प्रभाव—शुद्ध द्रव्यके देखनेमे प्रथम तो यह बात है कि किसी भी द्रव्यको देखे तो उपयोगकी पद्धति ही विलक्षण हो जाती है। धर्मद्रव्यकी शुद्धतामे उपयोग

जाय तो क्या वहाँ लाभ नही मिलता ? मिलता है। अशुद्धको यही सर्वस्व है, इस प्रकार जाननेमे हानि ही हानि उठानी पडती है और किसी भी शुद्ध द्रव्यके ज्ञातृत्वमे हितकी भी सिद्धि हो सकती है। उस प्रकारसे जाननेमे इसे लाभ होता है। इस गाथामे परमाणु द्रव्यके गुण और पर्याय किस प्रकार रहा करते है, इसका वर्णन है। परमाणु शब्दके सुनते बोलते ही हमारी दृष्टि अविभागी पुद्गलपर जानी चाहिए जो स्कधोसे, इन दिखने वाली चीजोंसे बिछुड कर अन्तमे कोई विभागरहित द्रव्य रह जाय।

परमाणुके मुख्य गुण और परिणमन--परमाणुके ४ गुण है--रूप, वर्ण, गध, स्पर्श। और इन चारो गुणोके ५ परिणमन है। प्रत्येक परमाणुमे एक साथ ५ परिणमन होते है। रस ५ तरहके है---खट्टा, मीठा, कडुवा, तीखा और कषैला। इन ५ प्रकारके रसपरिणमनों मे कोई प्रकारका रस एक होता है। वर्ण ५ प्रकारके है--काला, पीला, नीला, लाल, सफेद। इन ५ वर्ण परिणमनोमे से कोई एक परिणमन होता है, काला हो या अन्य प्रकार हो। दो गध परिणमन है---सुगध और दुर्गन्ध। इनमे से एक परिणमन परमाणुमे है और स्पर्श चूंकि स्पर्शनइन्द्रियसे यह परिणमन जाना जाता है, अतः एक स्पर्श गुण कहा है। वहाँ तो जैसे चैतन्य एक कहकर चैतन्यके दो भेद है---ज्ञान और दर्शन, और ये दोनो गुण पृथक् है, इसी प्रकार स्पर्श कहनेपर भी इस स्पर्शके दो भेद है जिनका नाम हमे नही मालूम, पर एक भेदमे से तो शीत और उष्ण---इन दो प्रकारोमे से कोई परिणमन होगा और एक भेदमे से स्निग्ध और रूक्ष---इन दो मे से कोई परिणमन होगा। इस प्रकार स्पर्श गुणके ये दो परिणमन होते है। यो एक परमाणुमे ५ परिणतिया होती है, इस दृष्टिसे देखो तो परमाणु कितनी तरहके सब ज्ञात होगे। ५ रसोमे से एक, तो ५ संख्या रख लो, ५ वर्णमे से ५ सख्या रख लो, २ गधमे से दो गध रख लो और चार स्पर्शमे दो और दो गुणित रख लीजिए। अब इनका गुणा कर दीजिए तो परमाणु २०० प्रकारके होगे। सभी परमाणुवोमे रस, वर्ण, गंध और स्पर्श ये ४ गुण है।

गुणका स्वरूप---गुण उसे कहते है जो सहज आनन्दमय हो, ध्रुव हो, एक साथ सदा रहने वाला हो। जैसे आम अभी हरा है, कुछ समय बाद पीला बन गया तो हरा तो नष्ट हो गया, पीला बन गया, पर हम आपसे पूछें कि पीला बन कौन गया ? रग बन गया पीला। तो जो भी बन गया पीला वह तो ध्रुव कहलायेगा ना ? रग बन गया पीला, जो पहिले कैसा था ? हरा था। तो रग सामान्य जिसे रूप शक्ति कहेगे वह रूपशक्ति पहिले भी है, अब भी है, सदाकाल रहेगी। उस रूपशक्तिके परिणमन हो रहे है, तो जो शक्तिरूपमे है वे ये ४ गुण है, और वे ही व्यक्तरूपसे जिन-जिन पर्यायोमे परिणत हुए है, वे पर्यायें है।

परमाणुकी शब्दरहितता---ये परमाणु शब्दके कारणभूत तो हैं, पर स्वयं शब्दरहित

है। ये स्कध शब्दके व्यक्तरूप कारण होते है और यो समझिये कि दो प्रकारके स्कध है—महास्कन्ध और भापावर्गणाके स्कन्ध। जब हम जीभकी ठोकर लगाते है या कठपर कुछ वजन डालते है तब शब्द निकलते है तो जीभका दातमे लगना, तालूमे लगना, मुर्द्धामे लगना आदि यह तो है महास्कधकी भिडन्त, और इस महास्कधके संघटनका निमित्त पाकर जो भाषावर्गणा के शब्द भरे पडे हुए है वे शब्दरूप परिणम जाते हैं और इस प्रकार शब्दोकी तरगें उठती है। तो इन दोनो प्रकारके स्कधोसे आश्रयभूतपनेकी दृष्टि और उपादानकी दृष्टिसे परमाणु कारण तो हो गया, पर स्वय शब्दरूप नही हुआ। एक परमाणुमे शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती। यह परमाणु अशब्द है।

आत्मदृष्टान्तपूर्वक परमाणुके अशब्दत्वकी सिद्धि—जैसे यह आत्मा भी शब्दका कारणभूत है, न हो आत्मा तो ये वचन कैसे निकलें ? यह भापा, ये उपदेश कहाँसे प्रकट होते ? तो यह आत्मा इसी प्रकार शब्दोका कारणभूत है। तालू ओठ जीभ इनका व्यापार मुर्दमे तो नही होता। तो इसी प्रकार शब्दका कारणभूत है परम्परया आत्मा, फिर भी निश्चयसे यह आत्मा शब्दज्ञानका विपयभूत तक भी नही है, यह तो अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। और शब्दादिक पुद्गल पर्यायरूप भी नही होते, इस कारण यह आत्मा शब्दरहित है। इस ही प्रकार यह परमाणु शब्दका कारणभूत है। महास्कंधमे रहने वाला परमाणु भी परम्परया या निमित्तरूपसे शब्दका कारणभूत है और भापावर्गणाको परमाणु भी कारणभूत है, लेकिन परमाणु स्वय शब्दरहित है।

शुद्ध ज्ञानमे सहज आनन्दका चमत्कार—भैया ! हम सबको जानना चाहते हैं, जानने का यत्न है हम जीवको भी जानते है, अजीवको भी जानते है, पर जीवको जानें तो जीवके शाश्वत स्वभावरूप चैतन्यशक्तिरूपसे जानें। इस शुद्ध जाननसे एक बहुत बडा चमत्कार आत्मा मे होगा। अनाकुलता पैदा हो, सहज आनन्द जगे, इससे भी बढकर कोई चमत्कार है क्या दुनियामे ? उन जीवोको देखो तो उनमे उनको चैतन्यस्वभावरूपमे देखो और पुद्गलको देखो तो इन स्कधोमे इन स्कधोके कारणभूत अविभागी परमाणुको निरखो। ज्ञान तो होना ही चाहिए। अज्ञान अधेरेसे बढकर कुछ पाप नही है। सबसे बडा पाप अज्ञान अधकार है। अज्ञान अधकार नाम मिथ्यात्वका है। आत्माके स्वरूपका दर्शन न होना, इस आत्माको सहज रूपसे न परखा जाय वह अज्ञान अधकार है। किन्तु इस अज्ञान अधकारको मिटानेके लिए जो ज्ञान करना होता है और जिसकी विशेषतासे यह अज्ञान अधकार मूलत नष्ट होता है तो वह श्रुत शब्द भी ज्ञातव्य है।

द्रव्यके स्वरूपका त्रिकाल अपरित्याग—यहाँ परमाणुकी चर्चा है, परमाणु अविभागी है और ५ पर्यायो वाला है, शब्दरहित है। शब्दरूप परिणम करनेका स्वभाव तो इसमे है, स्कध

है, लेकिन एकप्रदेशी होनेके कारण इसमे शब्द पर्यायकी परिणति नही जा सकती, इस कारण यह शब्दरहित है, यह स्कन्धमे रहता हुआ भी स्कन्धसे अपना भिन्न स्वरूप रख रहा है। जो कुछ यहाँ दिखता है, यह ठडा है, यह गर्म है, इसमे एक परमाणु कहाँ दीखा ? अनन्त परमाणुवोका एकत्व परिणम हो गया है, ऐसी यह स्कन्धकी दशा है। तो बन्धके प्रति ऐसा एकत्व परिणमन होकर भी प्रत्येक परमाणु अपना-अपना सत्त्व रख रहा है। वे सब यो ही एक नही हो गए, फिर वे बिखरें तो अटपट ढगसे बिखरना किसीका कुछ बन जाय, वह परमाणु स्कन्धसे भी सब अपना-अपना सत्त्व अपने आपमे रक्खे हुए है। स्कन्धोमे छुपकर भी, आन्तरिक होकर भी, गर्भित होकर भी परमाणु अपने स्वभावको नही छोडता, इसलिए वह परमाणु प्रत्येक एक-एक द्रव्य है। जैसे कि कर्म स्कन्धके पिंडसे यह आत्मा आवृत्त है तिसपर भी यह आत्मा अपने स्वरूपका परित्याग नही करता। यह अपने स्वरूपसे वह आत्मा ही आत्मा है ऐसे ही इन स्कन्धोसे भी इस परमाणुका सत्त्व अपने अपनेमे पडा हुआ है।

अज्ञानविलयकी प्रेरणा—भैया! अज्ञान अधकार मिटाने और इसकी धुन बनावो कि यह जगत असार है, इसमे जो समागम मिले है वे मूढ़ बनानेके लिए तो मिले है, पर कल्याण के लिए नही। जो भी परिग्रह है चेतन अचेतन सभी परिग्रह इतने क्या, इससे करोडगुना परिग्रह अनेक भवोमे पाया, लेकिन सब छोडकर फिर अकेलाका अकेला रीता यहाँ आना पडा। यहा भी जो कुछ मिला है इसमे से रचमात्र भी साथ न जायगा। बस उसकी वजहसे जो विचार गडबड बनाया और पापपरिणाम बनाया उनका मात्र फल भोगना होगा। यहाँके ये प्राप्त हुए परिग्रह कुछ भी मदद न देंगे। अत· इतना साहस बनायें कि परवस्तुवोसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नही है। परिग्रहोकी कमीमे तो काम निकल जायगा, पर परिणामोंके मलिन करनेसे जो आन्तरिक बाधा होती है उससे तो काम नही निकल सकता है। तो बाहरमे जो कुछ होता है होने दो, अपने आपमे मलिनताका परिणाम न जगना चाहिये।

प्रभुकी आज्ञा—हम प्रभुकी भक्ति तो करें और उनका कहना एक भी न मानें तो फिर प्रभुकी भक्ति कहाँ रही ? मोहवश अपनी जिद्द पर ही अडे रहे और प्रभुवचन न मानें तो क्या उसे प्रभुभक्ति कहेगे ? भगवानका आदेश है कि हे भव्य जीवो! तुम्हारा स्वरूप वैसा ही है जैसा कि मैं हू। तुम्हारा कर्तव्य तो निराकुल रहनेका होना चाहिए। शान्ति चाहते हो तो जिस मार्गपर चलकर हमने कृतकृत्यता पायी है उसी मार्गपर तुम चलो। भगवान इन शब्दोमे नही कहते है पर भगवानकी ओरसे इन शब्दोको कहकर भगवानके आदर्शका लाभ उठा लीजिए।

आज्ञाका अधिकारी—जैसे कोई नदीमे से चलकर किनारे लग गया हो तो उस किनारे पहुचने के बादमे उस पुरुषको यह अधिकार है कि दूसरोको भी उसी मार्गसे आनेके

लिए कहे। देखो इस ही जगहसे आना, उस जगह न चले जाना। हाँ चले आवो। तुम ठीक आ रहे हो, देखो अब इस तरह आवो। उसे अधिकार है सब कुछ कहनेका, क्योंकि वह नदी को पार करके किनारे लगा है। जिसने नदी की न गहराई जानी, न गैल जानी, न खुद तैर करके किनारे गया और वह जिस चाहेसे कहता फिरे कि चले जावो, पार हो जावोगे तो उसे ऐसा कहनेका अधिकार नही है। ऐसे ही जो आत्मा स्वय रत्नत्रयके मार्गसे चलकर इस संसारसमुद्रको, नदीको पार करके किनारे पहुचे है उन्हे ही अधिकार है उपदेश देनेका कि इस मार्गसे आइए। तो प्रभुके स्वरूपको निरखकर हमे यह सब अपने अन्तरङ्गमे आवाज उठानी चाहिए कि हे नाथ! मुझे तो आप अपने निकट ही बुलाये।

संसारमे रम्य स्थान व पदार्थका अभाव—ससारमे ऐसा कोई स्थान नही है जो रमनेके योग्य हो। कहाँ रमा जाय ? ये जड वैभव स्वय अचेतन है, मायारूप है, इनमे रमना तो अत्यन्त मूढता है। यह जीव जिस शरीरमे रमता है यह शरीर औदारिक है, हाड, मास मज्जा, खून इत्यादि सारीकी सारी अपवित्र वस्तुयें इसमे भरी हुई है। यह शरीर क्या रमने के योग्य है ? इनमे मेरा यश हो, कीर्ति हो, नाम हो इत्यादि जो मानसिक कल्पनाएँ होती है ये सब व्यर्थकी है। हे नाथ! यहाँ रमने योग्य कुछ भी नही है। बल्कि इस विशुद्ध निरपराध ज्ञानमे ये परपदार्थ आते है तो इस निरपराध ज्ञानको ये दूषित कर डालते है। मेरे तो निरन्तर अविकारता रहे, विकार मेरेमे रच भी उत्पन्न न हो सकें, ऐसी सामर्थ्य सुबुद्धि हे नाथ! मुझमे प्रकट हो तो इस अनन्तकालमे भ्रमते-भ्रमते आज जो मनुष्यभव पाया है तो समझो कि सार्थक हो गया अन्यथा तो यो अनेक शरीर धारण किये और मरकर फिर वैसे ही शरीर धारण कर जाते है।

सबको प्रसन्न करनेके आशयकी असफलता—एक सेठजी थे। उनके थे ४ लडके। ५ लाखका धन था। १–१ लाख सबको ठीक-ठीक हिसाबसे बांट दिया। बादमे सेठने अपने सभी बेटोमे कहा—देखो बेटा! सब लोग बडी शान्तिसे न्यारे हो गए, अब उसकी खुशीमे सभी लोग अपने बिरादरीके लोगोको जीवनवार करा दो। तो सबसे पहिले छोटे लडके ने बिरादरी के लोगोको जीवनवार कराया। उसने १०–१२ मिठाइयाँ बनवायी, सो बिरादरीके लोग जीमते जायें और कहते जायें कि मालूम होता है कि सेठने इसे सबसे अधिक धन दे दिया है। यह सबसे छोटा था। छोटा बच्चा सबसे प्यारा होता है। उसके बाद उससे बडे ने जीवनवार कराया तो उसने केवल ५ मिठाइयाँ बनवायी। बिरादरीके लोग खाते जायें और कहते जायें कि यह तो बडा ही चालाक निकला। इसने तो ५ ही मिठाइयोमे सबको टरका दिया। कुछ दिन बाद तीसरे लडके ने जीवनवार किया तो उसने सीधा पूडी और साग ही बनवाया। बिरादरीके लोग खाते जायें और कहते जायें कि यह तो बडा ही चालाक निकला,

चाहे रख लिया हो धन कितना ही, केवल पूडी और साग खिला दिया। जब सबसे बडे लडके ने जीवनवार कराया तो उसने पकवानका नाम भी न लिया, सीधे चनेकी दाल रोटी बनवाया। बिरादरीके लोग जीमते जायें और कहते जायें कि यह तो सबसे अधिक चालाक निकला, पकवानका नाम भी नही लिया, यह तो सबसे बडा था, इसने चाहे सब कुछ धन रख लिया हो। तो भाई तुम किनमे अपनी प्रशसा चाहते हो ? यहाँ कौनसी ऐसी दुनिया है जो सबकी सब मिलकर आपका यश गा सके ? और किसीने यश गा भी दिया तो मरना तो पडेगा ही। मरनेपर तो फिर उसके लिये यहाँका सब कुछ बेकार हो जायगा।

एकत्वदृष्टिकी अभ्यर्थना—हे नाथ! इन विकल्पोका त्यागकर मेरेमे ऐसी सद्बुद्धि जगे कि मेरेमे परमाणुमात्र भी अलाबला कोई तरग न रहे। मै केवल एक इस निज चैतन्य स्वरूपकी उपासना करता रहू। यह प्रार्थना करने के लिए प्रभुमूर्तिके सामने आया करते है। ऐसी स्थिति मिले बिना हम आपका कभी उद्धार नही हो सकता। तो इस पिण्डमे रहते हुए इस पिण्डसे न्यारे अपने चैतन्यस्वरूपको निरखनेका हम यत्न करे और इन स्कधोमे रहते हुए भी स्कधोके स्वरूपसे लक्षणसे पृथक् अपना लक्षण रखने वाले परमाणुपर दृष्टि दे तो ये सारे मायाजाल झड जायेंगे और परमार्थ चैतन्यस्वरूप हमारी निगाहमे रहेगा। ऐसी शुद्ध स्थितिमे ही हमारे कल्याणका मार्ग है।

उवभोज्जमिदियेहि य इदिय काया मणो य कम्माणि।
ज हवदि मुत्तमण्ण त सव्ब पुग्गल जाणे ॥८२॥

उपभोग्य व अनुपभोग्य पुद्गलोमे पुद्गलत्व—सब प्रकारके उपभोग्य पुद्गलोके विकल्पोका उपसहार इस गाथामे किया है। जो कुछ इन्द्रियके द्वारा भोगनेमे आ रहा है ये स्पर्श, रूप, रस, गध, वर्ण सभी पुद्गल है। भोगनेमे तो अन्य कुछ आते नही, अपनी इन्द्रियो द्वारा जो ज्ञान होता है रागभावसहित जो जीवकी वृत्ति होती है उसमे विषयभूत ये पुद्गल होते है और इस कारणसे इन्हे इन्द्रिय द्वारा उपभोग्य कहा गया है। वस्तुत प्रत्येक पदार्थ अपने आपको अपने आप भोगता रहता है। अचेतन पदार्थ भोगते नही है, क्योकि उनके सुध नही है। वहाँ भोगना केवल परिणमन मात्रको कहा गया है और जो पदार्थ भोगता है सो यद्यपि वहाँ भी भोगनेका अर्थ परिणमन है, लेकिन चैतन्यभाव होनेसे इसका परिणमन कुछ चेतनाको गर्भित करता हुआ कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमनका अनुभवन किया करता है। यह जीव भी किसी दूसरे पदार्थको भोग नही सकता है। उपयोगमे पर-पदार्थ भोगे जा रहे है—यह बात समाये तो उसे परका भोगना कहा करते है। जो कुछ इन इन्द्रियो द्वारा भोगा जाता है वह सब पुद्गल है।

कुबुद्धिप्रसारका परिणाम—भैया! जब इस ससारी जीवपर कुमति छा जाती है

तो इसको इस जड पुद्गलमे विशेष ममता उत्पन्न हो जाती है। उस ममताके कारण इस जीवका भला नही, किन्तु बुरा ही होता है। इतना विकट कर्मोका बन्धन हो जाता है जिस कर्मबन्धनकी प्रेरणासे यह जीव भव-भवमे जन्ममरणके दु ख पाता है। सबसे बडा काम है मोहका विनाश कर लेना। जिसके मोहका विनाश है वह अन्याय नही कर पाता, यह उसकी पहिचान है। मोहमे सिवाय आकुलताके और कुछ भोगनेको मिलता हो तो बतावो। खूब मोह किया, सबको अपने-अपने मोहकी खबर है। मोहके फलमे कुछ लाभकी बात मिल सकी हो तो बतावो। शरीर भी वही न्याराका न्यारा और इसमे अधिष्ठित जीव सबसे न्यारा, इस जीवकी भरपूरता तो ज्ञान और आनन्दके विकासमे है। जहाँ ज्ञानका विकास भी कुछ न हो और शुद्ध आनन्दका भी विलास न हो वहाँ तो वह जीव रीता ही है, पाया कुछ नही, खोया ही है।

अतीन्द्रिय आनन्दके परिचय बिना परका व्यामोह—भैया! जब परव्यामोह नही रहता है तब यह दृष्टि बनती है कि मैं किसी भी पदार्थका भोक्ता नही हू, केवल एक अपनी कल्पना बना लेता हू। जो कुछ इन्द्रियोके द्वारा भोगनेमे आता है वे सब पुद्गल पदार्थ है, सो इन्द्रियाँ जो इस शरीरसे लगी है, स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—ये आत्माके स्वभाव नही है। आत्मा तो अतीन्द्रिय परमात्मस्वरूप है। उससे उल्टी है ये इन्द्रियाँ। ये इन्द्रिया भी पुद्गल पदार्थ है इन इन्द्रियोके द्वारा यह जीव तभी भोगनेका यत्न करता है जब इसे अपने वीतराग अतीन्द्रिय सुखका परिचय नही होता है, मैं तो सुखस्वभावी हू इसकी सुध बिना यह जीव इन इन्द्रियोसे सुख भोगनेका प्रयत्न करता है।

पदार्थकी पूर्णस्वभावता—प्रत्येक पदार्थ पूरा हुआ करता है। अधूराका क्या अर्थ है ? कोई सत् अधूरा भी होता है क्या ? जो भी सत् है वह पूरा है, जैसा तैसा है। यह आत्मा पूरा है, यह दु खी भी हुआ तो भी एक दु खकी पूर्ण पर्यायको लेकर दु खी हुआ। और सुखी हुआ तो सुखकी पूर्ण पर्यायको लेकर सुखी हुआ। जब इसमे ज्ञानप्रकाश हुआ तो पूर्ण ज्ञानप्रकाशपर्यायको लेकर हुआ, पर आत्मा परिणमता है तो पूराका पूरा परिणमता है और वह परिणमन उस कालमे पूरा है। दृष्टि लगावो प्रभुकी ओर। यह प्रभु वीतराग सर्वज्ञ पूर्ण है। अधूरा है क्या ? नही। यह पूर्ण है प्रभु, ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण है और इसमे निकलता क्या रहता है ? केवलज्ञान। वह केवलज्ञान भी पूर्ण है कि नही ? पूर्ण है। तो पूर्णमे से पूर्ण निकल गया। पूर्ण है ज्ञानस्वभाव। उसमे से पूर्ण ज्ञान केवल निकल आया, पूर्ण निकल आने पर भी वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण ही रहा तथा वह निकला पूर्ण, पूर्णमे विलीन हो जाता, नवीन पूर्णका अभ्युदय होता। ऐसे ही हमारा जो भी सत्त्व है, जो भी हम सत् है वह परिपूर्ण है। इस परिपूर्ण आत्मसत्से जो भी जब भी निकलता है वह परिपूर्ण निकलता है। जो पर्याय

जिस कालमे निकलती है वह पर्याय उस कालमें पूर्ण निकलती है। तो यहाँ भी इस पूर्णमे पूर्ण निकलता है और पूर्ण निकलनेके बाद भी यह मै पूराका ही पूरा बना हुआ हू। यह निकलता हुआ पूरापन इसी पूर्णमे विलीन हो जाता है और नया पूर्ण उत्पन्न हो जाता है, और इन दोनोका स्रोतभूत यह मै पूर्णका पूर्ण रहा करता हू।

पूर्णमें क्षोभके अनवसरकी यथार्थता—इस पूर्णमे कोई अधूरापन नही है, कोई कमी नही है, कुछ नही अटकी किसी भी बातसे व्यर्थ लोग सोच-सोचकर। दुःखी होते रहते है, पर अणु मात्रसे भी इस आत्माकी अटक नही है। यह आत्मा अपने प्रदेशोमे परिपूर्ण है, लेकिन एक अनादि वासना है, निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, अपनी भूल है। यह जीव इन्द्रियोके द्वारा इन स्पर्श आदिक विषयोको भोगता है तो जो भोगा जाता है वह भी पुद्गल है और जिन इन्द्रियोके द्वारा भोगा जाता है वे इन्द्रियां भी पुद्गल है। ये सब काय कहलाते है। जीवके योग द्वारा सचित परमाणुवोके ढेरको काय कहते है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय अथवा औदारिककाय, वैक्रियककाय आदि ये समस्त काय पुद्गल हैं। आत्माका स्वरूप तो कायरहित है, अशरीरी है। अशरीर परमात्मदेवकी परम्परासे प्रतिपादित ये समस्त काय पुद्गल है।

मनकी पौद्गलिकता—यह मन जिसका दूसरा नाम हे अत.करण, वह भी पुद्गल है। ये ५ इन्द्रिया बाह्यकरण कहलाती है, ये बाहर दिखती हैं, ये बाह्यज्ञानके साधन है और अंतरङ्गमे जो द्रव्यमनकी रचना है वह अन्तःकरण है। अंत करणकी रचना यह भी पौद्गलिक है। आत्मा तो इस मनसे रहित है, मनसे उत्पन्न हुए विकल्पजालसे भी रहित है, ऐसे इस शुद्ध जीवास्तिकायसे विपरीत जो एक मनकी रचना है, यह रचना भी पौद्गलिक है। ये ८ प्रकारके कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय आत्मपदार्थसे प्रतिकूल है। यह आत्मा तो चेतन है, जिसके स्वरूपमे कर्मोका प्रवेश नही है, ऐसे इस चिद्ब्रह्मसे विपरीत प्रतिपक्ष ये ज्ञानावरण आदिक ८ प्रकारके कर्म है, ये कर्म भी पौद्गलिक है। यह सब जीवसम्बधित बातोको बताया गया है। इसके अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ पडे हुए है मूर्त पदार्थ वे सबके सब पौद्गलिक है। यह आत्मा अमूर्त स्वभाव वाला है। उससे विपरीत जो कुछ भी ये सब मूर्त पाये जाते हैं वे सब पौद्गलिक है। यह सब इसलिए बताया जा रहा है कि यह श्रद्धा बनी रहे कि यह मैं नही हूं, ये पौद्गलिक ठाठ है, कोई स्कध सख्यात परमाणुवोका पिण्ड है, कोई असख्यात परमाणुवोका पिण्ड है, कोई अनन्त परमाणुवोका पिण्ड है। अनन्त परमाणुओका सचयरूप जो हम आप सब देखते है इन्हे तो पौद्गलिक जानें ही, और भी सख्याताणु तक स्कध है।

कर्मकी पौद्गलिकता व बंधनविधि—सूक्ष्म स्कन्ध कार्माणवर्गणाये है जिनसे कर्म ...

परिणमनसे कर्म बनते है। साधारण तौरसे यह प्रसिद्ध है कि जीवके रागद्वेष भावोका निमित्त पाकर नवीन द्रव्यकर्म बनते हैं और द्रव्यकर्मोके उदयका निमित्त पाकर जीवमे रागद्वेष होते है। ये बातें बहुत-बहुत ग्रन्थोमे कही गई है और यथार्थ भी है, किन्तु इनमे एक मर्म जरूर हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि द्रव्यकर्मोके उदयका निमित्त पाकर जीवमे रागद्वेष भाव उत्पन्न होते है। अब जो कर्मबन्धन है उस कर्मबन्धनका निमित्त क्या है ? कहा यह गया कि जो नवीन कर्म बँधेंगे उनमे निमित्त हैं रागद्वेष मोहभाव। इसका विश्लेपग किया जाय तो बात वहाँ यह है कि नवीन कर्मोके निमित्त उदयमे आये हुए द्रव्यकर्म है अर्थात् उदयमे आये हुए द्रव्यकर्मोका निमित्त पाकर नवीन कर्म बँध जाते है। नवीन कर्मोके बन्धनका निमित्त है उदयागत द्रव्यकर्म, न कि रागद्वेष मोहभाव। फिर इन रागद्वेप मोहभावोको नवीन कर्मोके बन्धनका निमित्त क्यो कहा गया है ? अनेक ग्रन्थोमे यो कहा गया है कि नवीन कर्म बँधते तो है उदयागत द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर, पर उदयगत द्रव्यकर्ममे नवीन कर्मबन्धनका निमित्तपना आया। यह निमित्तपना आता है रागद्वेप मोह भावोका निमित्त पाकर अर्थात् कर्मोके बन्धन का निमित्त है उदयमे आये हुए द्रव्यकर्म। और उदयमे आये हुए कर्मोमें बन्धनका निमित्तपना आ जाय इस कार्यका निमित्त है रागद्वेप मोहभाव।

कर्मबन्धनविधिपर एक लोकदृष्टान्त—जैसे एक मोटा दृष्टान्त लो। कोई आदमी अपने घरके कुत्तेके साथ घूम रहा है। रास्तेमे सामनेसे कोई इसका अनिष्ट पुरुष मिला तो उस मालिकने उस कुत्तेको सैन दी छू छू। कुत्तेने उस पुरुषपर आक्रमण किया तो आप यह बतलावो कि उस पुरुषपर आक्रमण किसने किया ? यो भी तो आप सीधा कह सकते कि इस पुरुषने आक्रमण किया। कुछ गलत बात है क्या ? लेकिन इसका विश्लेषण करें तो बात यह हुई कि आक्रमण तो किया कुत्तेने, और आक्रमण करनेका जो साहस आया उसका निमित्त हुआ मालिक। ऐसे ही नवीन कर्मबन्धनका कारण तो हुए उदयमे आये हुए द्रव्यकर्म, और उदयमें आये हुए द्रव्यकर्मोमे नवीन कर्म बन्धनका निमित्ततत्त्व आ जाय उसका निमित्त है रागद्वेष मोह। तभी तो कभी ऐसी प्रसिद्धि आयी हैं कि उदयागत द्रव्यकर्म तो बँध गए, किन्तु उपयोग किसी शुद्ध द्रव्यकी ओर लगा है, शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगा है तो बहुत कुछ अशो मे चूकि उसमे निमित्तपनेका निमित्त नही मिला, सो नवीन कर्मबन्धनमे शिथिलता आ जाती है। ये कार्माणवर्गणायें पौद्गलिक है।

पुद्गलविस्तार—जो पदार्थ दृष्टिगत होते, नही दृष्टिगत होते, वे सभी अपनी नवीन पर्यायोकी उत्पत्तिके कारणभूत है, ऐसी अनन्तानन्त अणु वर्गणायें, अनन्त अणु वर्गणायें, असख्यात अणु वर्गणायें, सख्यात अणु वर्गणायें और भी उनके विभाग करते जायें तो सब २३ प्रकारकी वर्गणाये कही हैं। उनमेसे जीवके ग्राह्य ५ प्रकारकी वर्गणायें है—आहारवर्गणा,

भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा और कार्माणवर्गणा। अब यह निरख लीजिए कि यह मोही जीव पुद्गल-पुद्गलमे ही रमण करता हुआ, भोगता हुआ चला आ रहा है। इन पौद्गलिक पदार्थोमे ही यह जीव निरन्तर विकल्प बनाया करता है। इसने सब पौद्गलिक ठाठो को ही सर्वस्व मान लिया है। रहना यहाँ कुछ भी नही है, सब कुछ छूटना ही है, पर उनका विकल्प नही छोडा जा पाता। उनको ही लोगोने अपना सर्वस्व मान डाला है। ऐसी बेढगी रफ्तारसे ही चलते रहे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसपर कुछ दृष्टि नही करते। मिलेगा क्या ?

व्यर्थका राग—एकका भाई गुजर गया, बी. ए पास था। सर्विस खूब की थी और अन्तमे बडी उम्र पाकर गुजर गया। किसीने उस मरने वालेके भाईसे पूछा—कहो तुम्हारे भाई क्या कर गए ? पूछते है ना लोग मरते समय कि क्या त्याग किया, क्या दान दिया, क्या कर गये ? यो ही किसीने उस मरने वालेके भाईसे भी पूछा कि तुम्हारा भाई क्या कर गया ? तो वह कहता है—"क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गए। बी. ए किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गये ॥" यही हाल सबका है। व्यापारियोने व्यापार किया, धन कमाया, भोगा और अन्तमे गुजर गये। क्या रहा हाथ ? अरे हाथ तो वह रहेगा जितनी ज्ञानसाधना कर लो, रत्नत्रयकी सिद्धि कर लो, अपने आपमे अपने आपको सम्हाल लो, अपनी उपासना बना लो तो कुछ हाथ भी रहेगा, इन बाह्यपदार्थोमे यहाँ कुछ भी हाथ न रहेगा, इनके कारण दुर्गति और सहनी पडेगी।

पुद्गलके विषयमें मोहीका प्रवर्तन—यहाँ पुद्गल द्रव्यास्तिकाय यह वर्णन चल रहा था। इस गाथामें पुद्गलद्रव्यका व्याख्यान समाप्त हो रहा है। इस वर्णनसे हमे शिक्षा यह लेनी है कि हमने इन पुद्गलोमे ही उपयोग लगा-लगाकर अपने आपको बरबाद किया है, हमने अपना उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपमे नही टिकाया, अन्त प्रकाशका उपयोग करनेका आनंद तो लूटा तो यह बाहरी कल्पित व्यर्थका मौज ही लेनेका यत्न किया और इसी कारण अब तक इस जगतमे परेशान रहे, शरीर उत्पन्न हुआ तो माना कि मैं उत्पन्न हुआ हू। शरीर नष्ट हुआ, शरीरका वियोग हुआ तो माना कि अब मैं नष्ट हो रहा हू, शरीरको पुष्ट देखा तो अपनेको पुष्ट माना, शरीरको कमजोर देखा तो अपनेको कमजोर माना, धन वैभव जुड गया तो अपनेको सुखी माना, धन वैभव न रहा तो अपनेको रक माना। कुछ यश, चला, प्रतिष्ठा बन गई तो उससे समझ लिया कि मेरा बडा प्रभाव है, यो नाना कल्पनाएँ इस जीवने बनायी, क्योकि जब स्वयका आनन्द न मिला और आनन्दके लिए ललचाता रहा, तो फिर यह उनमे रम जाया करता है।

निजकी रम्यताके बोध बिना पररमणके भावका क्लेश—किसी बच्चेके साथमे

खेलते हुए दूसरे बच्चेके हाथमे खिलौना हो और माँ की गोदमे चढा हुआ बच्चा उस खिलौने को देखकर रोने लगे तो माँ उसे पीटती है, पर बच्चेका रोना बंद नही होता। उसका रोना तब बद होगा जब उसे उसका खिलौना मिल जाय। तब माँ क्या यत्न करती है कि कोई खिलौना किसीसे लाकर अथवा मोल लेकर उसका खिलौना बनाकर उसे दे देती है तो उस बच्चेका रोना बन्द हो जाता है। ऐसे ही ये ससारी प्राणी इन परवस्तुवोके खिलौनोको निरख-निरखकर रोते है, दु खी होते है, मलिन हृदय बनाते है। इनका यह रोना कब मिटेगा ? जब इनको अपना खिलौना मिले। अपना खिलौना है अपने स्वरूपका दर्शन। निजस्वरूपका दर्शन मिले तो इसकी ये सब बाधाये दूर होगी। यत्न करो इस ही का कि जो मेरा स्वरूप है, मेरा ही खिलौना है, सदा रहने वाला है, मुझसे अभिन्न है। केवल भाव स्वरूप है, जिसमे पराधीनता नही है, स्वय होनेके कारण सुगम है, ऐसे स्वाधीन निजस्वरूप रूप खिलौनेमे अपने उपयोगको रमायें।

मनको शुभकार्यमे प्रवर्तानेका अनुरोध—यह मन बडा चचल है। इसे शुभ कामोमे लगायें तो यह ठीक रहेगा और शुभ काम इसे न मिलेंगे तो यह बिगड जायगा। एक राजाने देवता सिद्ध किया तो देवता आया, बोला—राजन् ! हम तुम्हे सिद्ध हो गए है, तुम्हे जो कुछ काम करवाना हो सो बतावो। हम उस कामको पूरा करेंगे और अगर काम न बतावोगे तो हम तुम्हे खा लेंगे। राजाने कहा अच्छा सडक बना दो, सडक बना दिया। राजन् काम बतावो। तालाब बना दो ? बना दिया तालाब। राजन् काम बतावो महल बना दो। बना दिया महल। राजन् काम बतावो। यो राजा परेशान हो गया। सोचा कि मैं इसे क्या सोच सोचकर बताता रहूगा और यदि न बताते रहे काम तो यह मुझे खा डालेगा। सो राजाको एक उपाय सूझा। कहा अच्छा तुम एक ५०' हाथका लोहेका डडा गाड दो। गाड दिया। राजन् काम बतावो। अच्छा इसके एक छोरमे एक लोहेकी बडी जजीर बाँध दो। बाँध दिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जजीरका एक छोर अपने गलेमे फाँस लो। फाँस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम मना न करें तब तक तुम इसमे बन्दरकी तरह चढो, उतरो। अब भला बतलावो इस कामका कोई अन्त भी आयगा क्या ? अतमे वह देव परेशान होकर राजासे क्षमा मागने लगा। राजन् क्षमा करो, अब हमे काम न चाहिए। अब तुम किसी भी समय हमारा स्मरण कर लेना, हम फौरन आकर तुम्हारा काम कर जायेंगे। तो ऐसे ही यह मन चचल है, इसे शुभ काम न मिलेंगे तो अशुभ विकल्प, गदे विचार, कुबुद्धि उत्पन्न होती रहेगी। तो हम आप सबका कर्तव्य यह है कि अशुभ कामोकी प्रवृत्तिसे दूर हो। यदि ढगसे बात समझ लें तो हमारा हित होगा और मनकी स्वच्छन्दता और कुटेबसे इन पुद्गलोकी प्रतीति बनाये रहेगे तो हमारा अहित ही होगा।

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगध असद्दमप्फासं ।
लोगोगाढ पुट्ठं पिहुलमसखादिपदेस ।।८३।।

धर्मद्रव्यकी उदासीन कारणता—मुक्त जीवद्रव्यके सिवाय जितने भी अन्य पदार्थ है वे सब अजीव कहलाते है । उन अजीवोमे से पुद्गलद्रव्यका वर्णन तो किया जा चुका है । इसके बाद धर्मद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान कर रहे हैं । धर्मद्रव्य उसे कहते है जो चलते हुए जीव पुद्गलको चलानेमे सहायक बने । जैसे चलती हुई मछलीको चलानेमे जल सहायक होता है । जल कही जबरदस्ती मछलीको नही चलाता है, किन्तु मछली चलना चाहे, वह अपना उद्यम करे तो देख लो जल सहायक है या नही । जलके सिवाय अन्य जगह स्थानपर तो मछली चल नही सकती । ऐसे ही इस लोकाकाशमे धर्मद्रव्य है । वह अति सूक्ष्म है वह हम लोगोके चलनेमे एक साधारण आश्रय है, निमित्त कारण है, उस धर्मद्रव्यका यहाँ वर्णन किया जा रहा है ।

सूक्ष्म पदार्थकी मार्गणा—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तथा कालद्रव्य—इन तीनके सम्बन्धमे किसी भी दर्शनमे प्रकाश नही मिला । आकाश सब मानते है उस पुद्गलको भी मैटरके रूपमे भौतिक रूपमे माना ही है, जीवको भी स्वीकार करते है, कालद्रव्यको भी नही मानते, किन्तु कालकी बातको तो मानते है, समय, घडी, घंटा वगैरा । मूर्त अमूर्त समस्त द्रव्योका प्रकाश जैनदर्शनमे किया गया है । यह धर्मास्तिकाय रूप, रस, गध, स्पर्श, वर्ण रहित है और इस लोकमे अवगाढ़ रूपसे भरा हुआ है, असख्यातप्रदेशी है । धर्मद्रव्य अमूर्तिक है, जिनमे रूप, रस, गध, स्पर्श इत्यादि गुण न पाये जायें वे सब अमूर्त है । इस आकाशमे आकाशकी ही तरह अमूर्त एक ऐसा विलक्षण द्रव्य पडा हुआ है कि जिसके रहनेसे हम आप चलना चाहे तो चल सकते हैं ।

विभिन्न कार्यमे परनिमित्तका सन्निधान—जितने भी विभिन्न कार्य होते है उन विभिन्न कार्योंका कारण विभिन्न होता है । जीव और पुद्गल गमन किया करते है । यह गमनरूप क्रिया विभिन्न है तो इसका भी कोई कारण है । इसके सम्बन्धमे कुछ वैज्ञानिक लोग भी ऐसा अन्दाज करते है कि आकाशमे कोई ईथर है इस तरहका सूक्ष्म जिसका आधार पाकर चीजें चलती है । अनुमान करते है, किन्तु उनके अनुमानमे जो कुछ तत्त्व आता है उससे भी अतिसूक्ष्म धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ है और वह रूप, रस, गध, स्पर्श इत्यादिसे रहित है, इसी कारण शब्दरहित भी है, सारे लोकमे वह व्यापकर रहता है, लोकमे अवगाढ़ है और उसके प्रदेश पृथक् सिद्ध नही है । जैसे कि मटकेमे चने भरे हो तो वे पृथक्-पृथक् हैं, इस तरह धर्मद्रव्यमे प्रदेश पृथक् नही है । एक धर्मद्रव्य है, स्वभावसे ही महान है, अमिट है, प्रथुल है ।

धर्मद्रव्यकी अखण्ड एकरूपता—यद्यपि वह अखण्ड है, निश्चयसे एकप्रदेशी है अर्थात् अखण्ड है तो भी व्यवहारनयसे उसमे असख्य प्रदेश है। जैसे घडेमे पानी भरा रहता है वह अन्तररहित है, तिलमे तेल भरा रहता है वह अन्तररहित है अथवा सिद्धलोकमे सिद्धप्रभु बिराजे रहते है वे अन्तररहित हैं। वे सिद्धप्रभु निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञानमे परिणाम रहे है। उन जीवप्रदेशोमे उनके परम आनन्द सुधा रसका स्वाद रहता है अथवा सिद्धक्षेत्रमे जैसा शुद्ध सघन बिराज रहे है, अमूर्त हैं इसी तरह इस लोकाकाशमे धर्मद्रव्य व्याप रहा है परस्पर एक प्रदेश और दूसरे प्रदेशके बीचमे व्यवधान नही है। जैसे नगरमे मनुष्य बैठे है ये यहाँ है, वे वहाँ है, बीचमे साफ मैदान है। इस तरह धर्मद्रव्यके प्रदेश नही हैं और वे सघन बिराजे है, जैसे अभव्य जीवमे मिथ्यात्व रागादिक पूरेमे फैले हुए है अथवा जैसे आकाश पूरा विस्तृत है, स्वभावसे ही फैला है, इसी तरह यह धर्मद्रव्य इस आकाशमे लोकाकाशमे स्वभावसे ही है।

वस्तुका स्वातन्त्र्य—देखिये वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे निरखें तो कोई पदार्थ किसी पदार्थ का नही है। जैसे यहाँ कहनेका रिवाज है कि आकाशमे जीव है, पुद्गल हैं, ठहरे हुए हैं तो यो कहा गया है कि चूँकि आकाश निष्क्रिय है और विशाल है, उसके कुछ हिस्सेमे यह भावात्मक पदार्थ है। इस कारण कहते हैं कि आकाशमे जीवादिक ठहरे है, किन्तु स्वरूपसे देखा जाय तो जैसे आकाश अपने अस्तित्वको लिए हुए अपने आपमे बिराजा है इसी प्रकार प्रत्येक जीव अपने स्वरूपको लिए हुए अपने ही प्रदेशमे बिराजा है। किसीके प्रदेशमे किसी दूसरे द्रव्यके प्रदेश स्वरूपपद्धतिसे प्रवेश नही करते है और इस दृष्टिसे यह नही कहा जा सकता कि आकाशमे जीव है। आकाशमे आकाश है, जीवमे जीव है, शरीरमे शरीर है। यह एक निश्चयदृष्टिकी बात है। जैसे स्कूलमे किसी बच्चेकी कोई किताब गुम जाय और कोई विद्यार्थी उसे पा ले। तो बादमे वह उठकर पूछता है कहो यह किताब किसकी है ? तो कोई मस्खरा विद्यार्थी बोल देता है कि यह किताब कागज की है। अरे ठीक ही तो कहा ना। इसी प्रकार निश्चयदृष्टिका अदाज करिये। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध नही बताया जा सकता निश्चय दृष्टिसे। इसी प्रकार एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका आधार नही बताया जा सकता है निश्चयदृष्टिसे। जीवमे जीव है, आकाशमे आकाश है, धर्मद्रव्यमे धर्मद्रव्य है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशमे बस रहा है। कोई कही अन्यत्र नही बसता। यह वस्तु स्वातत्र्यका प्रतिपादन है।

वस्तुस्वातन्त्र्यके श्रद्धानमे सिद्धि—जो भी जीव निर्मोह होकर सिद्ध हुए है उन सब जीवोने यही दृष्टि अपनाई थी। यो ही इन्होने सब पदार्थोको देखा था। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए है, किसी एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थमे प्रवेश नही है। देखिये यह जगत अशरण है, यहा अपना स्थान समझना, अपना घर समझना कोरा अज्ञान है और

जो लोग इस अज्ञानमे डूबे रहते हैं उनका ससार लम्बा होता रहता है, जन्ममरणकी परम्परा बढ़ती रहती है। क्या है यह परिग्रह ? किसी भी चीजमे ममता करनेसे तो न जाने कितने जन्ममरण करने पडेंगे ? ज्ञानमे इतनी बात तो आना ही चाहिए कि मेरा मात्र केवल मैं हू, मेरा मै मुझमे हूं अन्यत्र नही। मेरा जो कुछ भी परिणमन होता है, क्रिया होती है वह सब मेरेमे होती है, किसी दूसरे पदार्थके लिए नही होती। मै जो कुछ करता हू, अन्तरङ्गमे किया करता हू, भावात्मक परिणमन करता हू। निर्दोष निराकुल जो परिणमन होते है वे शुद्ध परिणमन कहलाते है और रागद्वेषोसे मलिन जो परिणमन होते है उन्हे अशुद्ध परिणमन कहते है। कुछ भी मै करूँ अपने ही साधनसे, अपनी ही शक्तिसे, अपने ही परिणमनसे मैं किया करता हू। किसीका कोई दूसरा साथी है नही। मेरा जब जैसा उदय आयगा तब तैसा मुझे ही भुगतना पडेगा, दूसरा कोई किसी भी काममे साथी नही है। ऐसे इस असार अकारण ससारमे हम मौजमे मस्त हो जायें और मनकी स्वच्छंदता करें और मनके अनुकूल ही अपनी हठ बनाया करें तो उससे इस जीवको सिद्धि नही है, जगजालमे भ्रमण करना ही उसका फल है।

द्रव्यशुद्धि व पर्यायशुद्धि—देखो यह धर्मास्तिकाय द्रव्य अचेतन है, ठीक है, फिर भी इसके स्वरूपको तो देखो—यह त्रिकाल शुद्ध रहता है, प्रकट शुद्ध रहता है। सबसे न्यारा अपने स्वरूपमात्र रहना, यह तो कहलाती है द्रव्यशुद्धि और परकी अपेक्षा बिना अपने आपके सत्त्वके कारण पर निमित्त किए बिना जो स्वत सहज परिणमन होता है वह है पर्यायशुद्धि। धर्मद्रव्यमे द्रव्यशुद्धि भी है, पर्यायशुद्धि भी है। सिद्ध भगवानमे द्रव्यशुद्धि भी है, पर्यायशुद्धि भी है। अन्य सब पदार्थोंसे न्यारा स्वरूप रहना और अपने ही स्वरूपमे तन्मय रहना द्रव्यशुद्धि है और ऐसे ही बाह्यशुद्धि, पूर्णविकास होना पर्यायशुद्धि है। हम आप ससारी जीवोमे द्रव्यशुद्धि तो वैसी ही है जैसी कि सिद्ध भगवन्तोमे है अथवा समस्त अनन्त पदार्थोंमे है। दूसरे पदार्थों से न्यारा रहना और अपनी ही सत्ताके कारण सत्ता बनी रहना यही है द्रव्यशुद्धि, और इस आत्माका सहज ऐसा ही प्रकाश होनेपर कर्म उपाधिका निमित्त किए बिना ऐसा ही विकास होना यह है पर्यायशुद्धि।

शुद्धिके उपायकी जिज्ञासा—जरा एक बात सामने रखिये। किसीको सिद्ध होना हो तो क्या अशुद्धका आश्रय करके, ध्यान करके सिद्ध हो सकते है ? चित्त कहेगा कि नही। सिद्धका आश्रय लेनेसे, सिद्धका ध्यान करनेसे सिद्ध बना जा सकता है पर अशुद्धके सहारेसे अशुद्धके ध्यानसे सिद्ध नही बना जा सकता। तब एक बात और सामने आ गयी। हमे बनना है शुद्ध तो हम किस शुद्धका सहारा लें ? अपना ले। वाह हम तो अशुद्ध है और हमें बनना है शुद्ध तो जब हम शुद्ध ही नही है तो इस अशुद्धका सहारा लेनेसे हम सिद्ध कैसे

बन सकेंगे ? अच्छा तो अरहत भगवान सिद्ध भगवान ये तो सिद्ध है ना, हम इनका सहारा ले तो सिद्ध बन जायेंगे ? ठीक है। कुछ सीमा तक तो यह बात ठीक बैठती है। जहाँ विषय कषायोकी अधिक गदगी लदी हुई है उससे निवृत्त होनेके लिए अरहत भगवान और सिद्ध भगवानका ध्यान हितकारी है, लेकिन एक बात तो बतावो। जो आत्माकी आत्मामे सिद्धता होती है वह शुद्धि किसी परपदार्थका आश्रय लेनेसे क्या बन सकती है ? अरहत सिद्ध भिन्न द्रव्य है या नही ? हमसे तो भिन्न है ना ? उनका ज्ञान उनमे है, उनका आनन्द उनमे है, वे जो कुछ परिणमते है अपने आपमे परिणमते है। दूसरेका सहारा क्या काम करेगा ? क्या वह मुझमे आकर मुझमे शुद्धरूप परिणमन करेंगे ? नही। वे अपने स्वरूपसे चिगते ही नही है। वे मुझमे आ ही नही सकते फिर होता क्या है ?

शुद्धिके उपायका समाधान—भगवानका हम सहारा नही लिया करते, भगवानको तो ज्ञान और ध्यानका विषय बनाते है, सहारा लेते है, परिणमन करते है, अपने आपके आधार मे उस उस प्रकारका उपयोग बनाकर परिणमन करते है। तो निश्चयसे हमने प्रभुभक्तिमे किसका सहारा लिया ? प्रभुका, किन्तु प्रभुके सम्बन्धमे जिस प्रकारका विचार बनता है, जो भावना उत्पन्न होती है उस प्रकारके अपने परिणमनका सहारा लेते है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आश्रय कर ही नही सकता। तो यहाँ हमने अपना आश्रय लिया है। फिर अब वही प्रश्न उठ खडा होता है। हम तो अशुद्ध है और अशुद्धका सहारा लेनेसे शुद्धि कैसे प्रकट हो ? भगवान सिद्ध हैं किन्तु वे भिन्न पदार्थ हैं, कोई पदार्थ किसी भिन्न पदार्थमे आश्रय नही लेता, समाता नही, तब हम कैसे सिद्ध हो ? इसका समाधान यही मिलेगा कि देखो अभी हमारी पर्याय शुद्ध तो नही है किन्तु द्रव्य तो शुद्ध है। प्रत्येक पदार्थमे द्रव्य शुद्ध सनातन रहता है। तो द्रव्य शुद्ध है ना। मैं द्रव्यतः शुद्ध हू, उपयोगसे सबसे न्यारा निज सहज स्वरूपमात्र अपने अतस्तत्वका आश्रय लीजिए। उस अतस्तत्त्वके ध्यानके प्रसादसे पर्याय मे विशुद्धि जगने लगेगी। तो बाह्यमे सिद्धका ध्यान करनेसे तो अपने आपमे प्रभाव बनता है शुद्ध दृष्ट होनेका, पर निश्चयसे अपने आपमे ही विराजे हुए इस शुद्ध सहजस्वभावका आलम्बन लेनेसे निर्विकारता प्रकट होती है, इस कारण सिद्धपदार्थका ध्यान करना हमारी उन्नतिके लिए बहुत आवश्यक बात है।

अगुरुलहुगेहिं सया तेहिं अणतेहिं परिणद णिच्च।
गदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद सयमकज्ज ॥८४॥

अगुरुलघुक गुणो द्वारा षड्गुण हानिवृद्धि—यह धर्मद्रव्य अपनेमे ही साधारण गुण रूपसे जो अगुरुलघुत्व गुण है उन गुणोसे परिणत होनेमे प्रतिसमय षड्गुणहानि वृद्धियोसे, अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोसे जो अगुरुलघुत्व गुण परिणत है उनके कारण यह निरन्तर

उत्पाद-व्यय करता रहता है। फिर भी, यह धर्मद्रव्य नित्य है। देखिये यह सीधी अंगुली है इसे मान लो टेढी कर दिया तो आपके ज्ञानमे अगुली कितनी टेढ़ी होने पर यह समझ बैठो कि यह अगुली टेढ़ी हुई है ? जितना कमसे कम टेढी आ जाने पर आपकी समझमे आया कि यह अगुली टेढी हुई है, उसके भीतर भी कितनी ही टेढ़ी होनेकी डिग्रियाँ ऐसी पडी है जो आपकी समझमे नही आ सकती। एक बालक एक वर्षमे ६ अगुल बढ गया तो इसे आप कब समझ पाये कि यह बालक बढ़ गया ? आप कहेगे कि कुछ कुछ तो ३ महीनेमे ही समझमे आ जाता है। यदि तीन महीनेमे बढा हुआ वह मालूम पडा तो क्या एक महीनेमे वह कुछ भी न बढा था ? और एक महीनेमे बढा था तो क्या एक दिनमे न बढा था ? यो ही एक घटेमे, एक सेकेण्डमे क्या वह कुछ भी न बढा था ? अरे वह प्रति समय परिणाम रहा है, बढ रहा है, वृद्धिकी ओर चल रहा है। यह सूक्ष्म परिणमन जो षट्स्थानपतित वृद्धि हानि की बात है। यह हम आपके ध्यानमे नही आता और इसके बारेमे ऋषियोने यह बताया है कि यह केवल ज्ञानगम्य है। हाँ धर्मद्रव्य है, इस लोकाकाशमे सर्वत्र भरा हुआ है, एक पदार्थ है और वह निरन्तर अनन्तगुणा अनन्तभाग बढात है, घटात है, फिर भी यह निरन्तर वैसा ही चलता रहता है।

षड्गुणहानिवृद्धिके अनुमानमे—भैया ! सर्व प्रथम तो धर्मद्रव्य ही स्पष्ट समझमे सुगमतया नही आ रहा, फिर उसकी षड्गुणहानिवृद्धि यह तो बहुत ही सूक्ष्म बात है। देखो किसी बालकने एक अक्षरका ज्ञान किया, अब वह दूसरे अक्षरका ज्ञान करता है तो पहिलेके ज्ञानसे इस बालकका कितना ज्ञान बढ गया ? लोग यह कहेगे कि एक अक्षरका ज्ञान बढ़ गया। उस एक अक्षरके बढनेमे क्या आधा अक्षर नही बढा, क्या पाव अक्षर नही बढ़ा ? और ऐसे ही हिस्से करते जावो तो उसमे अनन्त डिग्रियाँ है, अनगिनती डिग्रियाँ है और कुछ तो ज्ञानकी ऐसी डिग्रियाँ होती है कि क्रम भग करके हो जाती है। जैसे इस मिनटमे हजार डिग्रीका ज्ञान है, अगले ही क्षणमे उसके ३ हजार डिग्रीका ज्ञान हो गया तो दो हजार डिग्रियाँ इसमे बढी तो है, मगर वृद्धिके क्रममे नही ? कुछ ऐसी भी वृद्धिया होती है। यो इस धर्म-द्रव्यमे सूक्ष्मरूपमे ऐसे अनन्त अगुरुलघुवोका परिणमन होता है।

धर्मद्रव्यकी नित्यता व गतिमें उदासीनकारणता—धर्मद्रव्य नित्य है और गतिक्रिया मे लगे हुए जीव पुद्गलके गमन कार्यमे कारणभूत है। जैसे हम आप सिद्ध भगवानका ध्यान करते है तो उस ध्यानके प्रतापसे हम इस मोक्षमार्गके गमनमे बढते है ना, तो सिद्धगतिके बहिरङ्ग सहकारी कारण, निमित्त कारण सिद्ध भगवान हुए। किन्तु कोई भी सिद्ध क्या इस प्रकारके परिणमन करनेका प्रयत्न भी कर रहा है ? कोई भी नही कर रहा है। सिद्ध भगवान के गुणोमे अनुराग करने वाले सिद्धगतिके वे सहकारी कारण हो जाते है निमित्तमात्र, इसी

प्रकार यह धर्मद्रव्य भी स्वभावसे उदासीन है। यह धर्मद्रव्य जीव व पुद्गलको जबरदस्ती चलाता नही है, फिर भी गति क्रियामे परिणमते हुए जीव पुद्गलकी गतिमे सहकारी कारण हो जाया करता है निमित्तमात्र। और यह जीव पुद्गलकी गति क्रियाका तो कारण है पर स्वय अकार्य है। जैसे सिद्ध भगवान तो शुद्ध अस्तित्वसे निष्पन्न होनेके कारण वे अकार्य है, किसी अन्यके द्वारा किये गये नही है, इसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी अपने अस्तित्वसे बना हुआ है अत किसी समय इस धर्मद्रव्यको किया गया नही है। यह सनातन अपनी ही सत्तासे शुद्ध धर्मद्रव्य है, जिसका निमित्त पाकर हम आप गति क्रियामे परिणत हुआ करते है।

शुद्ध द्रव्यकी चर्चाका लाभ—यद्यपि यह धर्मद्रव्य सूक्ष्म है फिर भी इस ज्ञानसे हम ऐसे पदार्थोंकि ज्ञानमे लाये हुए ज्ञानके प्रयोगसे हमारेमे विषय कषाय उत्पन्न नही होते। धर्मद्रव्यका वर्णन करके किसी विषयके भोगमे मदद मिलती है क्या? एक शुद्धद्रव्य है। हमारे रागादिक भावोके लिए अनाश्रय है। कोई सोचता हो कि फाल्तू चर्चासे क्या लाभ है तो यह फाल्तू बात नही है। द्रव्यके स्वरूपकी चर्चामे उपयोग जाय तो यहाँ विषय कषायोका आक्रमण तो बद हो गया ना, यह लाभ की बात है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके वर्णनके बाद यह धर्मद्रव्यका वर्णन किया है। अब आगे धर्मद्रव्यको विशेष बतानेके लिए एक दृष्टान्त देंगे।

उदय जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि ॥८५॥

धर्मद्रव्यकी गतिहेतुतापर दृष्टान्त—इस गाथामे धर्मद्रव्य जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्यकी गतिका कारण होता है, इस सम्बधमे दृष्टान्त बताया गया है। जैसे जल स्वय तो नही चलता और जबरदस्ती किसी दूसरी मछलीको चलाता भी नही है, किन्तु स्वयमेव चलने वाली मछलियोको यह जल उदासीन रूपसे अविनाभूत सहायक कारण मात्र होता है। यहाँ दो शब्द दिए गए है उदासीन और अविनाभूत। मछलीके चलनेमे जल होना ही चाहिए, यो तो अविनाभूत है और होकर भी जल अत्यन्त उदासीन है, वह न खुद क्रिया करता है और न मछलीको क्रिया कराता है। इस ही प्रकार धर्मद्रव्य भी स्वय नही चलता धर्मद्रव्य निष्क्रिय है और दूसरोको भी नही चलाता है किन्तु स्वय चलने वाला जीव पुद्गल जब स्वय चले तब यह धर्मद्रव्य उदासीन अविनाभूत सहायक कारणमात्र उनके गमनमे होता है।

धर्मद्रव्यकी गतिहेतुतापर आध्यात्मिक दृष्टान्त—धर्मद्रव्यकी गतिकारणतामे अन्य दृष्टान्त लो। जैसे रागादिक दोषोसे रहित, शुद्ध आत्मानुभवसे सहित निश्चय धर्म सिद्ध गति का उपादान कारण होता है अर्थात् भव्य जीवोमे जब निज शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है तो इस अनुभवमे हुआ जो निश्चय धर्म है वह सिद्धगतिका खास कारण है। तब वहाँ पुण्यरूप धर्म सहकारी कारण होता है, पर हो पुण्य ऐसा जो निदानरहित

परिणामो से उत्पन्न किया गया है। तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्यरूप धर्म भी सहकारी कारण होता है। यहाँ यद्यपि जीव पुद्गलके विषयके परिणमनमें अपना ही अपना उपादान कारण है फिर भी वहां धर्मास्तिकाय भी सहकारी कारण होता है।

आध्यात्मिक दृष्टान्तका विवरण—अभी जो दृष्टान्त दिया है उसका तात्पर्य यह है कि भव्यजीव जो सिद्ध लोकमे पहुचते है उनकी सिद्धगतिका उपादान कारण तो उन ही जीवोका निश्चय धर्मरूप परिणमन है। वह निश्चयधर्मके कारण स्वय जाता है, लेकिन उस गतिमे अन्य तप किया, सयम किया, तीर्थंकर प्रकृतिका बध किया, उत्तम सहनन मिला—ये सब भी बाह्य कारण है, अर्थात् ये सब बहिरग सहायकमात्र कारण है। जिस पुरुषको समागम अच्छा मिला, आजीविका अच्छी मिली अथवा नाना बड़प्पनकी बातें मिली है, ऐसी अच्छी स्थिति मिली है जिसमे उसको सक्लेश नही है, ऐसी स्थिति इस जीवके कल्याणमे बाह्य सहकारी कारण बनती है। भले ही कोई जीव इस समागमका दुरुपयोग करे, किन्तु कोई ऐसी स्थितिमे ज्ञानार्जनका चित्त करना चाहे, ध्यानको चित्त चाहे तो उसके लिये अवसर है।

प्राप्त अप्राप्त समागममें प्रायः लोकोकी प्रवृत्ति—भैया! कुछ ऐसा भी अदाज करिये जिस मनुष्यके पास जो वस्तु नही है उस मनुष्यको उस वस्तु सम्बन्धी तृष्णा उत्पन्न होती है, यह बात प्रायः करके कह रहे है, और जिसके पास जो समागम है वह पायी हुई चीजमे तृष्णा क्या करेगा, लोभ होगा, पर तृष्णा न होगी। तृष्णा और लोभमे कुछ अन्तर समझ लीजिए। पाई हुई चीजमे आसक्त होना लोभ है और न पाई हुई चीजकी प्राप्तिके लिये विकल्प बढाना तृष्णा है। अब देखिये प्राप्त और अप्राप्तके बारेमे लोकप्रवृत्तिको। जैसे किसी भाईसे कहा जाय कि तुम रात्रिभोजनका त्याग कर दो तो किसीसे यह भी उत्तर मिल सकता है कि देखो साहब हम रात्रिको भोजन कभी नही करते, आज तक रात्रिभोजन नही किया। अच्छा तो रात्रिभोजनका त्याग करनेमे कुछ कठिनाई होती है क्या? साहब त्यागकर देंगे तो फिर रात्रिमे भोजन करनेको मन चलेगा और नही त्यागते है तो रात्रिको भोजन करनेका मन नही चलता है। यो कुछ और बढकर देखें—जो पाया हुआ समागम है वह समागम प्राय. करके ज्ञान और वैराग्यका कारण बन सकता है। थोडा सत्सगति मिले, अच्छा वातावरण मिले, कुछ सुबुद्धि जगे तो ये बाह्य पुण्यकर्म भी, ये बाह्य पुण्य वैभव भी जीवके कल्याणमे सहकारी कारण होते हैं किन्तु निश्चयसे तो जो आत्मामे निश्चयधर्मका परिणमन होता है वह ही अनिवार्यरूपसे कल्याणका कारण बनता है।

धर्मद्रव्यके गतिहेतुत्वपर अन्य आत्मविषयक दृष्टान्त—धर्मद्रव्यके गतिहेतुत्वकी प्रसिद्धि मे एक अन्य दृष्टान्त लीजिये—इस लोकरचनाके भीतर देखो, जैसे भव्य हो अथवा अभव्य

हो, इसका जो चारो गतियोमे गमन होता है उस गमनका उपादान कारण तो उन-उन जीवो का आन्तरिक शुभ अशुभ परिणाम है फिर भी द्रव्यलिङ्ग, व्रत, दान, पूजा अव्रत आदि बहिरङ्ग सहकारी कारण होते है। जो जिस गतिमे जायगा उस गतिके योग्य जो परिणमन किया अन्तरङ्गमे, वह परिणाम तो निश्चयसे कारण है, पर मन, वचन, कायकी जो और क्रियाएँ की गई है वे क्रियाएँ बहिरङ्ग सहकारी कारण है, अथवा देखो कोई जीव विशुद्ध ऊँचा ध्यान बना रहा है तो उसकी आन्तरिक जो स्थिति है, परिणामोकी जो विशुद्धि है वही-वही तो आन्तरिक मुनिधर्म है, उससे वह उन्नति कर रहा है, लेकिन बहिरङ्गमे निर्ग्रन्थ अवस्थामे जो भी क्रियाएँ की जाती है वे सब मुनिधर्मकी सहकारी कारण है। ऐसे ही जो जीव पुद्गल गमन कर रहा है वह उस गमनशक्तिसे गमन किया करता है, किन्तु उस प्रसगमे धर्मद्रव्य नामक यह अमूर्त व्यापक तत्त्व द्रव्य इस जीव पुद्गलकी गतिमे बहिरङ्ग सहकारी कारण होता है। यो धर्मद्रव्य जीव पुद्गलकी गतिका कारण होता है, इस सम्बन्धमे दृष्टान्त दिया गया है। अब अधर्मद्रव्यके स्वरूपका वर्णन करते है।

जह हवदि धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधमक्ख ।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव ॥८६॥

अधर्मद्रव्यका स्वरूप व स्थितिहेतुत्वपर दृष्टान्त—जैसे जीव पुद्गलकी गतिमे बहिरङ्ग सहकारी कारण धर्मद्रव्य होता है ऐसे ही गति कर रहे हुए उन जीव पुद्गलोंके ठहरनेमे सहकारी कारण अधर्मद्रव्य होता है। इसमे यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है। जैसे मुसाफिरोके अथवा घोडा आदिक तिर्यंचोके ठहरनेमे सहकारी कारण पृथ्वी है। देखिये हम आप ठहरते है तो पृथ्वीका सहारा लिए बिना नही टहर सकते, तो हम आपके ठहरानेमे कारणभूत यह पृथ्वी है कि नही ? जैसे हम इस चौकीपर बैठ गये तो हम अपनी ताकतसे बैठे है या चौकीकी ताकतसे बैठे है ? हम तो अपनी ही ताकतसे, अपने ही परिणमनसे बैठे है। सबको देखनेमे लग रहा है कि चौकीकी ताकतसे बैठ गए, पर यह चौकी बहिरङ्ग सहकारी कारण है। ऐसे ही इस पृथ्वीपर चलते हुएमे टहर जाये तो इस पृथ्वीने हमे जबरदस्ती नही ठहराया है, हम अपनी ही शक्तिसे ठहरते है, पृथ्वी हमारे ठहरानेमे सहकारी कारण है।

स्थितिहेतुत्वपर पथिक छायाका दृष्टान्त—अधर्मद्रव्यके स्थितिहेतुत्वमे एक दृष्टान्त और प्रसिद्ध लिया जाता है कि जैसे मुसाफिरके ठहरानेमे पेड़की छाया सहकारी कारण है, इस दृष्टान्तसे भी यह दृष्टान्त जोरदार है। यदि कोई मुसाफिर बात झूठ करनेके लिये हठ कर जाय कि हम इसी सडकपर ठहरते है, धूपो मरे य। कुछ भी हो और कहे अब बतावो छाया ठहरनेमे कहाँ कारण हुई ? तो इसके मुकाबले पृथ्वीका दृष्टान्त ठीक है ना। तखत आदिपर ठहरे कोई तो वह भी पृथ्वीकल्प है, किन्तु छाया वाला दृष्टान्त भी कमजोर नही है। दृष्टान्त

जितने अशको सिद्ध करनेके लिये दिया जाता है उतनेके लिये ही समझना होता है। देखिये—कही वह छाया बुलाकर तो उस मुसाफिरको नही ठहराती है। तो वह छाया उस मुसाफिरके ठहरानेमे सहकारी कारण है। कही वह छाया उस मुसाफिरको पकडकर अपनी ओर खीचती नही है। वह तो वही की वहीपर है। यह मुसाफिर स्वय अपनी इच्छासे वेदनाशान्तिका प्रयोजन लेकर छायाके नीचे पहुच जाता है।

छायाका उपादान व निमित्त—देखिये पेडकी छाया कहना, यह भी व्यवहारकी बात है। पेडके नीचे जो छाया पडती है बतावो वह छाया पेडकी है कि पृथ्वीकी है? पेडकी चीज, पेडका गुण, पेडकी परिणति, पेडका प्रभाव, पेडका सर्वस्व पेडमे रहेगा या उससे बाहर अन्यत्र जायगा? किसी भी द्रव्यका परिणमन, किसी भी द्रव्यका प्रभाव उस द्रव्यसे बाहर कही नही जाता। लो पेडकी छाया तो वह नही रही। पेडकी जो कुछ चीज है वह पेडमे ही समायी हुई है। पेडरूप है तो वह रूप उस वृक्षसे बाहर तो नही है ना? वृक्षमे गध है तो वह गध भी वृक्षसे बाहर नही है। इसमे तो आप शका कर सकते है कि वृक्षकी गध तो मीलो तक फैल जाती है। वृक्षकी गध तो बाहर चली गई। अरे वृक्षकी गध बाहर नही गई। वृक्षकी गध वृक्षमे है, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वृक्षके पास लगे हुए परमाणु स्कध वृक्षके सुगधित अशके सन्निधानका निमित्त पाकर जो कुछ सूक्ष्म स्कध उसके पास है, वे भी गधरूपसे परिणम जाते है और यो पासके स्कध गधरूपसे परिणमते चले जाते है। जहाँ तक यह परिणमन विधान बन सकता है वहाँ तक यह गध फैल जाती है। पर उस वृक्षसे बाहर वह गध नही है। जैसा भी हरा, पीला, काला रूप है वह वृक्षसे बाहर है क्या? नही है। और वृक्षमे कठोरता, वृक्षकी चिकनाई उस वृक्षमे ही समाई हुई है। वृक्षकी चीज वृक्षमे ही है, वृक्षसे बाहर नही है। और छाया तो वृक्षसे बहुत दूर है। कभी कभी तो उस वृक्षके नीचे भी वह छाया नही रहती, वृक्षसे पच्चीस हाथ दूर कही वह छाया पडती है। तो वह छाया उस वृक्षकी नही है, किन्तु सूर्यके प्रकाशका जो अवरोधन होता है उस स्थितिमे वह पृथ्वी ही खडे हुए वृक्षका निमित्त पाकर छायारूप परिणम जाती है।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमे उदासीननिमित्तपनेकी सिद्धि—यह मुसाफिर जब उस वृक्षकी छायामे पहुचता है तो जैसे छाया उदासीन बहिरङ्ग सहकारी कारण है, इस जीवको जबरदस्ती अपनी ओर खीचती नही है, इसी प्रकार यह अधर्मद्रव्य भी चलते हुए द्रव्य पुद्गलके चलनेमे सहकारी कारण है। इस गाथामे पृथ्वीका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे पृथ्वी स्वय पहिले से ही ठहरी हुई है और किसी चलते हुए जीवपुद्गलको यह जबरदस्ती ठहराती भी नही है, किन्तु स्वय ही ठहरे हुए घोड़ा मनुष्य आदिक जीवोको ठहरानेमे उदासीन और [illegible] सहकारी कारणमात्र होकर अनुग्रह करती है, ऐसे ही यह धर्मद्रव्य स्वय चलता हुआ ठहरता

नही है अथवा चलते हुए जीव पुद्गलको जवरदस्ती ठहराता नहीं है, किन्तु जो ठहर रहे है अपनी शक्तिसे उनके इस ठहरानेमे अधर्मद्रव्य वहिरङ्ग सहकारी कारण मात्र होता है। यदि यह धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य चलने और ठहरानेका काम जवरदस्ती करता होता तो आज धर्म और अधर्मकी वडी विकट लडाई होती, कोई जवरदस्ती ढकेलता, कोई जवरदस्ती ठहराता। यह उदासीन सहकारी कारण है, पर उपादान कारण तो यह चलने वाला और ठहरने वाला जीव पुद्गल ही स्वय है।

उपग्रहके अतिरिक्त अन्य लक्षणोमे धर्म व अधर्मद्रव्यकी समानता—धर्मद्रव्य गतिका निमित्त है और अधर्मद्रव्य स्थितिका निमित्त है, वाकी और सव वातें अधर्मद्रव्यमे धर्मद्रव्यकी ही तरह समझना। जैसे धर्मद्रव्य रूप, रस, गध, स्पर्शरहित है इस ही प्रकार अधर्मद्रव्य भी इस मूर्तिकतासे रहित है। जैसे धर्मद्रव्य लोकमे सर्वत्र भरा पडा हुआ है ऐसे ही यह अधर्मद्रव्य भी लोकमे सर्वत्र भरा पडा हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रके पचम अध्यायमे एक सूत्र आया है—धर्माधर्मयो कृत्स्ने। देखो यहा कृत्स्ने शब्द वोलना। कुछ कठिनाई मालूम पडी ना, इस शब्दके वोलनेमे जीभको सारे मुखमे घुमाना पडेगा तव यह शब्द वोला जा सकेगा और इस शब्दका अर्थ क्या है ? सवमे। धर्म और अधर्मद्रव्यका अवगाह सब लोकाकाशमे है। आचार्यदेवने हम आपके सामने इस तरहका दिक्कत वाला शब्द क्यो रख दिया ? तो उस समय आचार्यदेवने अपनी लीला दिखाई। जैसे वच्चे लोग होते है वे चलते हैं तो सीधे नही चलते है, कलासहित चलते हैं, उठे वैठे तो कलासहित। ऐसे ही आचार्यदेवने भी इस शव्दको वोलकर अपनी लीला दिखा दी है। इस शव्दमे यह कला छिपी हुई है कि जैसे इस शव्दके बोलनेमे जीभको सारे मुखमे घूमना पडता है, अर्थात् सारे मुखमे जीभ व्यापक हो जाती है, ऐसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इस लोकमे व्यापकर रह रहे है। जैसे धर्मद्रव्य निरन्तर लोक व्यापने घनरूप स्थित है त्यो ही अधर्मद्रव्य इस लोकमे धन है। जैसे धर्मद्रव्य असख्यातप्रदेशी है ऐसे ही अधर्मद्रव्य भी असख्यातप्रदेशी है। शेष जो लक्षण धर्मद्रव्यमे है वे ही लक्षण इस अधर्मद्रव्यमे भी है। फिर भी इन दोनोके कार्यमे विपरीतता है, एक गतिमे कारण है तो एक ठहरानेमे कारण है।

अधर्मद्रव्यकी स्थितिहेतुतापर आध्यात्मिक दृष्टान्त—अव इस हेतुताको आध्यात्मिक दृष्टिके दृष्टान्तसे भी देखिये। जैसे कोई जीव निज शुद्ध आत्मस्वरूपमे ठहरता है तो उस शुद्ध आत्मस्वरूपमे स्थित होनेका निश्चयसे कारण तो रागद्वेषरहित निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र अन्तस्तत्वका सम्वेदन है और व्यवहारसे अरहतादिक पचपरमेष्ठियोके गुणोका वर्णन सहकारी कारण है। अपने आत्मामे निर्विकल्प स्थिति करना चाहिए अर्थात् यह आत्मा आत्मामे ही निस्तरग होकर ठहर जाय तो इस आत्मस्थितिका वास्तवमे कारण क्या है ? उस ही का जो

रागद्वेषरहित निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानस्वरूपका सम्वेदन है वह आत्मस्थितिमे कारण है, पर ऐसी आत्मस्थिति करनेके लिए उस भव्य जीवने पहिले और क्या-क्या प्रयत्न किया है ? उसने अरहंत सिद्ध आदिक परमेष्ठियोके गुणोकी भक्ति की है। यद्यपि यह भक्ति आत्मस्थितिका निश्चय कारण नही है, लेकिन बहिरङ्ग सहकारी कारण है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थितिका निश्चयसे अपना-अपना स्वरूप ही उपादान कारण है, फिर भी स्थितिका बहिरङ्ग सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। इस प्रकार अजीव अमूर्तपदार्थोमे प्रथम ही प्रथम धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यका वर्णन किया। जीव व पुद्गलोका गति व स्थितिमे विशेष क्रिया विक्रियाका सम्बन्ध है, इसी कारण प्रथम धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यका वर्णन किया गया।

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दोविय मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ताय ॥८७॥

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यके सत्त्वकी सिद्धि—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इन दोनो द्रव्योकी प्रसिद्धि साधारणजनोमे नही है। उन दोनो द्रव्योके सद्भावमे यहाँ एक हेतु रखा जा रहा है जो कि धर्म अधर्मकी सिद्धिमे पूर्ण समर्थ है। धर्म अधर्मद्रव्य है, अन्यथा लोक और अलोक का विभाग नही किया जा सकता था। जीवादिक समस्त पदार्थोका एक क्षेत्रमे रहने का नाम है लोक, अर्थात् जितने क्षेत्रमे जीवादिक समस्त पदार्थ रहा करते है उसे लोक कहते है और जहाँ केवल आकाश ही आकाश पाया जाता है उसे अलोक कहते है। लोकका अर्थ है लोक्यते सर्वद्रव्याणि यत्र स लोकः। जहाँ समस्त द्रव्य देखे जाये, पाये जायें उसे लोक कहते है और न लोक इति अलोक. । जहाँ समस्त द्रव्य न पाये जायें और केवल आकाश ही है उसे अलोक कहते है। यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न होते तो लोक और अलोकका विभाग नही हो सकता था। इससे सिद्ध है कि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य है।

धर्म व अधर्मद्रव्यकी सिद्धिका विवरण—अब इस इस अनुमानका विवरण कर रहे है। जीव और अपने स्वभावसे गति और गतिपूर्वक स्थितिका परिणमन करनेमे समर्थ है, अर्थात् जीव अपनी शक्तिसे गमन करते है, पुद्गल अपनी शक्तिसे गमन करते हैं और गमन करते हुए ये दोनो जब ठहरते है तो अपनी शक्तिसे ही ठहरा करते है, उन दोनोकी जो कि गतिपरिणमनको स्वयं अनुभव रहे है और स्थिति परिणमनको स्वय अनुभव रहे है, उन दोनो जीव पुद्गलोकी गति और स्थितिका बहिरङ्ग कारण निमित्त कारण यदि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य न होता तो ये जीव पुद्गल निरर्गल गति और स्थितिको प्राप्त हो जाते, अर्थात् धर्मद्रव्य का तो अभाव मान लिया गया और जीवमे चलनेकी सामर्थ्य स्वभावसे है सो वह तो चलता रहता। कहाँ तक जायँ, कही ठहरे कैसे ? कोई सिद्धान्त तो ऐसा मान भी रहे हैं। जीव जब मुक्त हो जाता है तो यह ऊपर चलता रहता है। और कहाँ तक चलता है ? चलता ही

रहता है। ठहरनेकी बात ही नही है। ऐसा ऊर्ध्व गमन माना कि कही रुकता ही नहीं। अब देख लो—ऐसे मुक्त जीवको चलने ही चलनेका काम पडा हुआ है। वे कब तक चलेंगे? अनन्तकाल तक चलेंगे। लो और विडम्बना बना दी।

धर्म व अधर्मद्रव्यमे लोकालोकविभागहेतुता—गतिमे समर्थ यह जीव स्वय है, पर यह कही जाकर ठहरता तो है जिससे आगे कोई जीव न पाया जाय। इसका कोई बहिरङ्ग कारण न होता तो यह व्यवस्था न बन सकती थी। गतिका कारण बहिरङ्ग धर्मद्रव्य है, ऐसे ही इस स्थितिका कारण बहिरङ्ग अधर्मद्रव्य है। यदि यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न होता तो लोक और अलोकका विभाग भी नही सिद्ध हो सकता था। धर्म और अधर्मद्रव्यको, गति-स्थितिका बहिरङ्ग कारण मान लेनेपर यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह तो लोक है और यह अलोक है।

लोककी सीमितता—सीधीसी बात यह है कि यह लोक परिमित तो अवश्य है, जो चीज पिण्डरूप होती है उस पिण्डरूपका किसी जगह समाप्त होना यह तो है ही, असीम तो पिण्ड होता नही, तो यह पिण्ड यह द्रव्योका सचय जहाँ तक भी हो वह लोक कहलाता है। आप उसे बहुत दूर तक मानें तो वही बात तो ३४३ घन राजू बताकर कही गई है। एक राजू कितना बडा होता है? जिसमे असख्याते द्वीप समुद्र समा गये, मध्य लोकमे। प्रथम द्वीप से प्रथम समुद्र दुगुना है, उससे दूना दूसरा द्वीप है, इस प्रकार दूने-दूने विस्तार वाले द्वीप-समुद्र हैं। जम्बूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारका है तब आप समझिये असख्यातवाँ अन्तिम द्वीप कितने विस्तार वाला होगा? ये सब द्वीपसमुद्र मिलाकर भी एक राजू नही हुए। एक राजूसे भी कम है अभी क्षेत्र। और, यह राजू तो एक प्रतररूपमे बताया। उतने ही राजू नीचे व सर्वत्र घनरूप, ऐसे ३४३ घन राजूप्रमाण लोक है। यहाँ तक ही जीव और पुद्गलका गमन है, आगे नही है। इस कारण धर्मास्तिकायका अभाव है। यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न होते तो यह लोक और अलोकका विभाग न बनता।

धर्म व अधर्मद्रव्यकी विभक्तता व अविभक्तता—अब अन्य बाते धर्म अधर्ममे देखो। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य दोनो परस्पर भिन्न-भिन्न अस्तित्वसे सो गए है, अतएव विभक्त हैं। धर्मद्रव्यका अस्तित्व धर्मद्रव्यमे है, अधर्मद्रव्यका अस्तित्व अधर्मद्रव्यमे है, ये विभक्त है, भिन्न भिन्न है और एक क्षेत्रमे रहनेके कारण अविभक्त है। जैसे सिद्ध लोकमे सिद्ध भगवान बिराजे है, वे समस्त सिद्ध प्रत्येक सिद्ध अपने अपने ज्ञान और आनन्दस्वरूपका अपने-अपनेमे अनुभव किया करते है। इस कारण प्रत्येक सिद्ध एक दूसरेसे भिन्न है, फिर भी वहाँ अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र सिद्ध जीव जहाँ जो बिराजे है उस ही जगह अनन्त सिद्ध भी मौजूद हैं अतएव वे अविभक्त है।

एकमाही एक राजे एक माहि अनेकनो—हिन्दी स्तुतिमें एक जगह लिखा है कि "जो एक माँही एक राजै, एक माहि अनेकनो। एक अनेकनकी नही सख्या, नमो सिद्ध निरञ्जनो।।" बात कितनी सीधी है, किन्तु इसमे मर्म बहुत है। वे सिद्ध भगवान एकमे अनेक विराज रहे है, एकमे एक राज रहे है। प्रत्येक सिद्ध आत्मा जो अपने स्वरूपसे है वह अपने स्वरूपमे ही है, एकमे एक ही है, एकमे दूसरा सिद्ध नही पहुचता है और फिर जिस जगह वह सिद्ध है वह अमूर्त पवित्र चेतन है, उस ही जगह अनेक सिद्ध भी विराज रहे है। यो देखो एकमे अनेक बिराज रहे है।

एक अनेकनकी नही संख्या नमों सिद्ध निरञ्जनो—सिद्धोकी इस स्तुतिमे एक तीसरी बात क्या कही है। 'एक अनेकनकी नहि सख्या नमो सिद्ध निरञ्जनो। सिद्धकी सख्या नही है, अनत है, पर आध्यातिमक एक मर्म यह है कि जब हम सिद्ध भगवानके शुद्ध स्वरूपपर उपयोग लगाते है तो उस उपयोगमे केवल एक शुद्ध चित्प्रकाश ही दृष्ट होता है, और ऐसे उपयोगकी स्थितिमे न एक ठहरता है, न अनेक ठहरते है। जैसे कुछ दार्शनिक लोग इस ब्रह्मको एक मानते है। जैनसिद्धान्त भी इन समस्त जीवोंके जब स्वभावपर दृष्टि देता है तो उस दृष्टिसे इस जैनसिद्धान्तमे भी यह चैतन्यमात्र ही नजर आता है, यो वह चैतन्यस्वभाव एक कह लीजिए। अब कुछ देरके लिए इसे एक मान लो। एकका अर्थ एक भी है और एकका अर्थ समान भी है। जैसे कोई तीन चार मित्र बैठे हो तो कोई कहे कि ये तो साहब एक ही है, उस एकका अर्थ समान है। यह चैतन्यस्वरूप सब जीवोमे एक है अर्थात् समान है, एक दृष्टि इसमे और दृढ लगायें तो चैतन्यस्वरूपमे व्यक्तियाँ तो नजर नही आती। वह तो एक स्वरूप है प्रतिभास है, प्रकाश है, अतएव वह एक है। जरा और गहरी दृष्टिसे देखो तो एक है, ऐसा कहना सहज सिद्धस्वरूपके प्रतिभासमे कलक है, वहाँ एक भी नही है, अनेक भी नही है तो क्या है, कितना है ? कुछ नहीं है। जो है सो अनुभवमे आ रहा है। यो सिद्ध भगवानके उस सहजस्वरूपपर दृष्टि देते है तो वह न एक है, न अनेक है, किन्तु क्या है ? कोई निरञ्जन सिद्धत्व है।

सिद्धोंके दृष्टान्तपूर्वक धर्म व अधर्मद्रव्यमे विभक्तता व अविभक्तताकी सिद्धि—इस स्याद्वाददृष्टिमे चलकर निरख लीजिए—जैसे सिद्ध भगवान परस्परमे विभक्त है, किन्तु एक क्षेत्रमे ही विराज रहे है इस कारण अविभक्त है। ऐसे ही यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य स्वरूप दृष्टिसे विभक्त है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, प्रमेयत्व—ये ६ साधारण गुण है और साथ ही धर्म और अधर्ममे जो कोई एक विशेष गुण है उस विशेष गुणके कारण यह साधारण धर्म भी उस-उस धर्मीके धर्म है, धर्मद्रव्यके सर्व धर्म धर्मद्रव्यमे है, अधर्मद्रव्यके सब धर्म अधर्मद्रव्यमे है। इन ६ गुणोकी साधारणता समानता इस दृष्टिसे है। कही ऐसा नही है कि अस्तित्व गुण एक है और वह सबमे व्याप रहा है, ऐसा एकपना द्रव्यमे हुआ

करता है, व्यक्तिमे हुआ करता है। भावमे क्या सख्या ? आपमे कितना क्रोध है २-३-४-१०, क्या कुछ गिनती बता सकते, भावमे क्या गिनती है ? गिनती द्रव्यमे हुआ करती है, पिण्ड मे, पदेशमे गिनती हुआ करती है। यह शुद्ध स्वरूप तो भावात्मक है, उसमे क्या गिनती ? तो जैसे वह सिद्ध विभक्त और अविभक्त दोनो है इस ही प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी विभक्त और अविभक्त है।

धर्म व अधर्मद्रव्यकी निष्क्रियता—ये दोनो द्रव्य निष्क्रिय है, इनमे क्रिया नही है, ये डोलते नही, चलते नही, हिलते नही, इनमे कभी भी परिस्पद नही। ये समस्त लोकमे रह रहे है और जीव पुद्गलकी गति और स्थितिका उपग्रह किया करते है, अतएव ये दोनो द्रव्य है। इस प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सिद्धि युक्तिपूर्वक की गई है। अब अगली गाथामे यह बतावेंगे कि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य है तो गति और स्थितिमे कारणभूत, परन्तु है अत्यन्त उदासीन। इस उदासीनताका वर्णन अगली गाथामे किया जा रहा है।

ण्य गच्छदि धम्मत्थी गमण ण करेदि अण्णादवियस्स ।
हवदि गती सप्पसरो जीवाण पोग्गलाण च ॥८८॥

धर्मास्तिकाय न तो खुद जाता है और न अन्य द्रव्यका गमन कराता है। वह धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिका प्रवर्तक मात्र होता है, निमित्तमात्र होता है और इस ही प्रकार अधर्मद्रव्यको भी समझना। वह स्थितिका निमित्तमात्र होता है।

धर्मद्रव्यमे प्रेरकगतिहेतुताका अभाव—कही धर्मद्रव्यको इस प्रकार गतिका कारण न समझ लेना कि जैसे घोडापर चढा हुआ असवार। घोडा चलता है ना, तो असवार भी चल रहा है। उस असवारके चलानेका निमित्त जैसे यह घोडा है इस तरह जीव और पुद्गल की गतिका निमित्त धर्मद्रव्य नही है। वह चलता हुआ गतिका कारण नही बनता, अथवा जैसे चलती हुई हवा ध्वजाको हिलाने-डुलानेका कारण बनती है इसी प्रकार जीव और पुद्गलकी गतिका कारण धर्मास्तिकाय नहीं है। हवाकी तरह यह धर्मास्तिकाय चल-चलकर जीव और पुद्गलका गमन कराता हो ऐसा स्वरूप धर्मद्रव्यमे नही है, क्योकि धर्मद्रव्य निष्क्रिय है। निष्क्रिय होनेके कारण यह रच भी गति परिणमनको प्राप्त नही हो सकती है।

दृष्टान्तपूर्वक धर्मद्रव्यकी उदासीन गतिहेतुताकी सिद्धि—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि धर्मद्रव्य जहाँका तहाँ जैसाका तैसा स्थित है, कुछ भी हिलता-डुलता नही, प्रेरणा नही करता, फिर यह गति परिणमनका कारण कैसे हो जायगा ? कैसे जीव पुद्गलकी गतिमे धर्मद्रव्य सहकारी कारण बन सकेगा ? तो इसका समाधान सुनिये। जैसे पानी मछलियोके चलाने मे बहिरङ्ग कारण है, जल खुद चलनेके लिए प्रेरणा नही करता। वह उदासीन रूपसे जहाँका तहाँ पहिलेसे ही अवस्थित है, तो उदासीन अवस्थित वह जल जैसे मछलीके गमनमे बहिरङ्ग

कारण है, ऐसे ही न चलता हुआ यह धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलके गमनमें कारण है। वह उदासीनरूपसे ही गतिका हेतुभूत है। जैसे धर्मद्रव्यमे यह उदासीन हेतुता है इसी प्रकार अधर्मद्रव्यकी भी बात निरखो।

अधर्मद्रव्यमे प्रेरकस्थितिहेतुताका अभाव—अधर्मद्रव्य किसीको ठहरानेमे इस प्रकार कारण नहीं होता जैसे कि चलते हुए घोडेपर असवार मनुष्य चल रहा है ना, सो घोडा जब ठहर जाय तो मनुष्यको भी ठहर जाना पडता है, इस तरह अधर्मद्रव्य किसी जीवपुद्गलको जबरदस्ती ठहराता हो ऐसा नही है। अधर्मद्रव्य तो पहिलेसे ही स्थिर स्थित है, उसमें गमन होता ही नही है, गतिपूर्वक स्थिति अधर्मद्रव्यमें नही है, वह तो घोडा गतिपूर्वक स्थित हुआ है। अधर्मद्रव्यका यह छोडा असवारका दृष्टान्त योग्य नही है। यह अधर्मद्रव्य निष्क्रिय होनेके कारण कभी भी गमनपूर्वक स्थितिके परिणमनसे परिणमन नही होता है।

दृष्टान्तपूर्वक अधर्मद्रव्यमे उदासीनस्थितिहेतुताकी सिद्धि—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि फिर यह अधर्मद्रव्य गतिपूर्वक ठहरने वाले दूसरे जीव पुद्गलका हेतुभूत कर्ता कैसे हो जायगा ? उसके समाधानमें यह दृष्टान्त दिखाया है कि जैसे घोडा चल रहा है, वह चलता हुआ रुक जाय तो उसके उस ठहरनेमें पृथ्वी बहिरग कारण है। इस प्रकार जीव और पुद्गल चल रहे है, चलते हुए जीव पुद्गल ठहर जायें तो उनके ठहरनेमें धर्मद्रव्य बहिरङ्ग कारणभूत हैं। इस प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सिद्धि करनेके पश्चात् अब इस गाथामें उसकी उदासीनता बताई गई है। निमित्त तो निमित्तमात्र ही हुआ करता है, चाहे वह अधर्मद्रव्यकी बात हो अथवा अन्य बात हो, सभी पदार्थ निमित्तमात्र है, और वे अपनेमें से कुछ भी द्रव्य गुणपर्याय निकलकर कही बाहरी पदार्थोंमें नही जाया करते है। सब अपने-अपने स्वरूपमें स्वतत्रतया परिपूर्ण है।

निमित्तके प्रकार और वस्तुका स्वातन्त्र्य—परिणतिमें वस्तुस्वातन्त्र्य होनेपर भी निमित्तकी परिस्थिति देखकर निमित्तका भेद किया जाता है। कही यह बात नही है कि कोई प्रेरक निमित्त अपने द्रव्य गुण पर्यायको उपादानमें चलाकर उस प्रेरित करता हो, किन्तु निमित्तभूत पदार्थ यदि क्रियासम्पन्न है तो उन्हे प्रेरक निमित्त कहते है। यदि वे क्रियासम्पन्न नही है तो लोकमे उन्हे उदासीन निमित्त कहते है और इस प्रकार लोकभावनाके कारण इसके दो भेद कर दीजिए। क्योंकि यह बात सबमें समान है। तो कोई भी निमित्त अपने द्रव्य गुण और पर्याय उपादानमे चलाकर उपादानको परिणमाया नही करते। जैसे दो पहलवान लड रहे है, लडने जैसी स्थितिसे बढकर और प्रयोगका क्या दृष्टान्त दिया जाय, जहाँ बल भी लग रहा है। एक बडा पहलवान छोटे पहलवानको उलट दे, चित कर दे, ये सब बातें बन गयी तो भी स्वरूपको स्वरूपमे देखो तो उस समय भी उस बडे पहलवानने जो कुछ भी

यत्न किया, अपने शरीरमें यत्न किया, जो भी परिणमाया अपने शरीरको परिणमाया, किन्तु उस परिणमते हुए शरीरके सयोगके समयमें आया हुआ यह छोटा पहलवान यह अपनी क्रिया से परिणम रहा है। इस बडे पहलवानने छोटे पहलवानमें अपने रूप, रस, गध, वर्ण, क्रिया, स्वभाव, प्रभाव कुछ भी नही डाला है। उन दोनो पहलवानोकी सारी क्रियाएँ अपनेमें हुई है, यह भी दिख रहा है, किन्तु साथ ही यह भी तो दिख रहा है कि कैसा यह प्रेरक निमित्त है, कैसा इसने उसे पटक दिया ? तो जो स्वय क्रियासम्पन्न हुआ है व जो क्रियासम्पन्न नही है उसमें प्रेरक और उदासीनका भाव दिखाया जा सकता है। वहा भी प्रेरकताका कथन उपचार से है।

धर्म अधर्मद्रव्यकी उदासीननिमित्तता—जो शाश्वत अवस्थित है, जहांके तहाँ ठहरे हुए है ऐसे शाश्वत अवस्थित धर्म और अधर्मद्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। जब ये जीव-पुद्गल चलें तो उनके चलनेमे यह धर्मद्रव्य बहिरङ्ग सहकारी कारण है और जब चलते हुए ये ठहर जायें तो उस समय अधर्मद्रव्य बहिरङ्ग सहकारी कारण है।

वस्तुस्वातन्त्र्य व उदासीननिमित्तता—यह निमित्त उपादानकी व्यवस्था धर्म और अधर्मद्रव्यके दृष्टान्तसे सर्वत्र विशेष स्पष्ट हो जाती है। हाँ केवल एक निष्क्रिय निमित्त और सक्रिय निमित्त इतने कहनेका अन्तर है। इतना अन्तर होनेपर भी वस्तुकी स्वतत्रतामे कही कोई बाधा नही आती है। किसी बालकने किसी बालकको पीट दिया, ठीक है, परन्तु उस बालकमे जो दु ख वेदना रोना जो भी क्षोभ होगा वह बालक अपने आपमे अकेले ही करेगा कि यह पीटने वालेकी परिणतिको लेकर करेगा या परस्पर दोनो मिलकर करेंगे ? जब कभी किसी घर इष्टका वियोग हो जाता है तो उसके घर फेरा करने वाले लोग आते है, महिलायें आती है तो वे रोती हुई आती है, घरके लोग भी रोने लगते हैं, पर जितने भी लोग वहाँ रो रहे है और जिस डिग्रीमे रो रहे हैं वे सब अपने आपमे अकेलेमे अकेलेके परिणमनसे रोनेका परिणमन कर रहे हैं। किसीके रुदनको समेटकर ग्रहण करके दूसरा रोता हो, ऐसा नही होता।

ये धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलकी गति और स्थितिमे केवल एक बहिरङ्ग कारण होते है। इस प्रकार धर्म अधर्मद्रव्यका व्याख्यान किया गया है। अब आगे इसकी उदासीनताको एक दृष्टान्तसे सिद्ध करेंगे।

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी गति और स्थितिमे उदासीन हेतुता—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव तथा पुद्गलकी गति और स्थितिमे उदासीन कारण हैं, इसकी सिद्धिमे इस

गाथामे एक मुख्य हेतु दिया गया है। देखो जिन जीवोका गमन हो रहा है उन ही द्रव्योकी स्थिति भी होती है। ये जीव पुद्गल जो गमन कर रहे है वे अपने परिणमनसे गमन करते है और वे ही वे ही जब गमन करके ठहरते है तो अपने परिणमनसे ठहरते है। उस गमन और ठहरनेमे ये दोनो द्रव्य बहिरङ्ग निमित्त कारण है। यदि यह धर्मद्रव्य जीव पुद्गलको किसी को चलाता होता और अधर्मद्रव्य ठहराता होता तो जिनकी गति होती है उनकी गति ही होती रहती और जिनकी स्थिति होती उनकी स्थिति ही होती रहती, क्योकि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यको एक बलाधानका बल मिल गया ना।

धर्म व अधर्मद्रव्यको प्रेरणक कारण माननेपर आपत्ति—यदि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यको प्रेरक मान लीजिए तो धर्मद्रव्य अपना पूरा बल लगाकर अपना काम करेगा, अधर्मद्रव्य अपना बल लगाकर अपना काम करेगा। सो कभी तो यह स्थिति हो जायगी कि इस जीवपुद्गलकी गति स्थितिमे झगडा बन जायगा। धर्मद्रव्य किसीको चला रहा है तो अधर्मद्रव्य उसका मुकाबला करेगा। अधर्मद्रव्य किसीको ठहरा रहा है तो धर्मद्रव्य उसे ढकेला करेगा अथवा कभी थोडी सभ्यता आ जाय, कोई किसीके काममे बाधा न डाले तो किसीका काम रुकेगा ही नही, धर्मद्रव्य जिसे चलाता है वह चलाता ही रहेगा और अधर्मद्रव्य जिसे ठहरा रहा है उसे वह ठहराता ही रहेगा, किन्तु दिखता तो यो है कि जब चलना है तो चलता है, जब ठहरता है तो ठहर जाता है, इसके चलने और ठहरनेमे इतनी स्वतन्त्रता बनी हुई है। यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी उदासीनताका ही फल है।

स्वरूपदृष्टिसे वस्तुव्यवस्था—स्वरूपदृष्टिसे निरखें तो कोई भी निमित्त किसी दूसरे पदार्थपर जबरदस्ती नही करता, किन्तु ये परिणमने वाले उपादान ही स्वय अपने आपमें ऐसी कला रख रहे है कि वे किसी योग्य निमित्तका सन्निधान पाकर अपनी शक्तिसे विभाव रूप परिणम जाते है, ऐसी सब उपादानोमे कला पडी हुई है। यह चर्चा बड़े कामकी है। धर्मपालनके लिए इस सम्यग्दर्शनकी सुलझ पा लेना अनिवार्य है। यह मैं आत्मा जब जिस रूप परिणमता हूँ किसी रूप परिणमता हू। कभी मैं धनी बन गया, कभी मै गरीब बन गया क्या परमार्थसे इस रूप हू ? नही। धनी होना, गरीब होना यह अपने आत्मामे है ही नही, किन्तु इस प्रकारके भावोका परिणमन यह हो रहा है। जीव अपनेमे केवल भावोका ही तो करने वाला बन रहा है। किसी अन्य पदार्थमे क्या करता है ? तो यह जीव जब जिस प्रकार के विभाव भावोका परिणमन करता है अपनी शक्तिसे, किन्तु वह परिणमन किसी अन्यको विषयमे लेकर हुआ है, अतएव कोई परपदार्थ हमारे इस विभाव परिणमनके [illegible] है फिर भी इस निमित्तभूत, आश्रयभूत पदार्थका कुछ भी द्रव्य गुण परिणमन इस [illegible] नही गया। इस कार्यके बननेमे उपादानकी कला देखिये कि इसमे ऐसी योग्यता है कि ऐसे

निमित्तको पाकर यह अमुक रूप परिणम जाता है। जरा इस वस्तुस्वातन्त्र्यके दृष्टिरूपी अमृतका पान तो कीजिए, फिर देखिये कितना सन्तोष आता है?

मिथ्या ज्ञानमे आनन्दका घात—यह मोही जीव मोहवश अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमे, बाह्य तत्त्वोमे आत्मीय दृष्टि करके उलझ गया है और न जानें कितनी-कितनी प्रकारकी इसने कल्पनाएँ बनायी है और उन कल्पनावोका यह जीव क्लेश भोग रहा है। अपना आनन्द अपनी दृष्टिके आधीन है, किसी अन्य पदार्थके आधीन आनन्द नही है। तो यह आत्मा स्वय सहज परम आनन्दस्वरूप अपनी इस स्वरूपदृष्टिसे चिगकर, इस विशुद्ध अनुभूतिसे चिगकर जितना बाह्यपदार्थोंमे चले जानेका अपराध किया है उस अपराधका प्रायश्चित्त है। आनन्दस्वरूप तो यह स्वय है, प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपसे अपने आपमे परिणत हुआ करता है। कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यपर जबरदस्ती नही करता। कोई मास्टर पढाता है और बीसो बालक पढते है तो यह मास्टर किसी बालकको जबरदस्ती ज्ञान पैदा नही कराता, किन्तु वे बालक स्वय अपना हित विचारकर गुरुके वचनोका निमित्तमात्र पाकर अपने आपमे अपनी समझका बल लगाते हुए यत्न कर रहे है और उस यत्नमे वे बालक स्वय अपनेमे ज्ञानप्रकाश पा लेते है। देखनेमे तो ऐसा लगता है कि यह अमुक मास्टर देखो कितना कर्मठ है? इन बच्चोको घोट-घोटकर ज्ञान पिला रहा है, किन्तु कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे कुछ कर नही सकता है, व्यर्थ यह जीव मिथ्याज्ञानमे आनन्दका घात करता है।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यकी उदासीनहेतुताका वर्णन—यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलकी गति एव स्थितिमे उदासीन निमित्तमात्र है। धर्मद्रव्य किसीकी गतिका कारण बननेका अभ्यास नही कर रहा, यत्न नही कर रहा, वह निष्क्रिय अवस्थित है, ऐसे ही अधर्मद्रव्य भी स्थितिके हेतु बननेका श्रम नही कर रहा। ये दोनो पदार्थ गमन और स्थितिमे मुख्य कारण नही है। यदि ये गमनके और ठहरानेके मुख्य कारण होते तो जिनकी गति शुरू हुई है, हो रही है उनकी गति ही होती और जिनकी स्थिति ही हो रही है उनकी स्थिति ही होती। लेकिन देखा यह जा रहा है कि जैसे किसी भी एक पदार्थका अभी गमन हो रहा है तो उस समय बादमे उस ही पदार्थका ठहरना हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिमे और स्थितिमे कारण नही है, प्रेरक कारण नही हैं, किन्तु ये उदासीन कारण है, और यह भी कथन व्यवहारनयका है। निश्चयनयमे तो अन्य पदार्थोंकी दृष्टि ही नही रहती है।

व्यवहारनयसे हेतुताका वर्णन—निश्चयनयके विभागमे निमित्त उपादानकी व्यवस्था नही है, वह तो जो कुछ है एक ही को निरख रहा है। यहां फिर एक जिज्ञासा हो सकती है कि यदि ऐसी उदासीनता है अथवा व्यवहारनयसे ही व्यवस्था है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

जीव पुद्गलकी गति और स्थितिमे उदासीन कारण है तो फिर चलने वाले ठहरने वाले पदार्थ का गमन और ठहरना किस प्रकार होगा ? समाधान यह है कि सभी चलने वाले और ठहरने वाले पदार्थ निश्चयसे अपने ही अपने परिणमनसे गति और स्थितिको किया करते है, व्यवहारनयसे देखनेपर उसमे निमित्त धर्म अधर्मद्रव्य है। निश्चय एक ही पदार्थको निरखता है, व्यवहार अनेक पदार्थोंको निरखता है। निमित्तनैमित्तिक व्यवस्था उपादान निमित्तकी चर्चा व्यवहारमे ही सम्भव है। निश्चयनय तो केवल एक वस्तुस्वरूपको देखा करता है। इस दृष्टिमें निमित्त लखा भी नही गया। यहाँ तक धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका वर्णन हुआ है।

धर्म अधर्मद्रव्यके अवगमसे शिक्षा—धर्म अधर्मद्रव्यके इस वर्णनमे हम सारभूत शिक्षा क्या ले ? निर्विकार चिदानन्दस्वरूप शाश्वत आनन्दनिधन अहेतुक एक स्वभावसे भिन्न ये धर्म अधर्मद्रव्य है, ये हेय तत्त्व है, यह मैं शुद्ध आत्मतत्त्व उपादेय हू और ये धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य हेय हैं और इतनी ही बात नहीं, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यके विषयमे जो चर्चा की गई है उस चर्चा मे जो विकल्प बने है ये विकल्प भी इस शुद्ध आत्मतत्त्वमे नही है। यो समझिये कि सब कुछ गुजर रहा है, पर उस गुजरते हुए के भीतर गुप्त सुरक्षित मै एक शुद्ध आत्मतत्त्व हू। यहाँ तक धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य अस्तिकायका व्याख्यान समाप्त हुआ, अब आगे आकाश नामक अस्तिकायका व्याख्यान किया जा रहा है। उसमे सर्वप्रथम आकाशद्रव्यके स्वरूपकी प्रसिद्धि करते हैं।

सव्वेसि जीवाण सेसाण तह य पुग्गलाण च।
ज देदि विवरमखिल त लोए हवदि आयास ॥६०॥

आकाशका स्वरूप—समस्त जीवोको और समस्त पुद्गलोको, अन्य सभी द्रव्योको जो भले प्रकारसे विविर देता है उसे लोकमे आकाश कहते हैं। बिविर नाम बिलका है, मायने जो आये उसे समा दे। आकाशका काम क्या है ? जो आये उसे समा देना। तो सभी द्रव्यो का अवगाह लोकाकाशमे है। आगे नही है, किन्तु आकाशद्रव्यकी यह कला है कि सबको अपने आपमे अवगाह दे। यह सम्पूर्ण आकाशमे कला पडी हुई है। कोई न जा सके यह बात और है। कदाचित् मान लो ये जीव पुद्गल आदिक अलोकाकाशमें पटक दिये जाते तो क्या वह मना करता कि मेरेमें जगह नही है ? आकाशकी योग्यता, अवगाहशक्तिकी बात आकाशमें शाश्वत पडी हुई है। हाँ धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यका सद्भाव जहाँ तक है वही तक अन्य समस्त पदार्थोंका अवगाह बना हुआ है।

परिमित लोकाकाशमे अनन्त पदार्थोके अवगाहकी एक जिज्ञासा—देखिये यह लोकाकाश कितने क्षेत्रमे है ? ३४३ घनराजूमे है। तब कितने प्रदेश हुए ? असंख्यात अर्थात् जिनकी गिनती नही है, किन्तु अन्त और सीमा तो है ना ? इससे बाहर लोकाकाश नही है।

तो इस असख्यात प्रदेशमे इतने पदार्थ कैसे समा गए ? प्रथम तो जीव ही अनन्तानन्त है। फिर एक एक जीवके निकट, एकक्षेत्रावगाही, एक-एक जीवसे सम्बद्ध अनन्त तो शरीर वर्गणायें है और उससे अनन्तगुणे तैजस वर्गणायें है। उनसे अनन्तगुणे कार्माणवर्गणायें है। यह तो एक-एक जीवसे सम्बद्ध बात है पर अनेक वर्गणायें जो जीवसे अबद्ध है, किन्तु जीवके साथ विस्रसा उपचित आहार व कार्माण वर्गणा हैं, वे भी अनन्तानन्त हैं। तो ये अनन्तानन्त जीव और उनसे भी अनन्तानन्त पुद्गल और लोकाकाशके बराबर ही ये असख्यात कालाणु, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये सबके सब इतनेसे छोटे लोकाकाशमे कैसे समा गए, ऐसी एक जिज्ञासा होती है। उसके उत्तरमे सुनिये।

परिमित लोकाकाशमे अनन्त पदार्थोंके अवगाहके प्रतिपादनमे एक दृष्टान्त—अवगाह की बातको दृष्टान्तसे समझें। जैसे एक कमरेमे एक दीपक जल रहा है। उसका प्रकाश खूब फैला हुआ है, उसीमे दूसरा दीपक जला दिया तो उसका भी प्रकाश समा जायगा। ऐसे ही समझो कि ये लोकाकाशके प्रदेश असख्यात है, उनमे अनन्तानन्त जीव पुद्गल ये सब समा जाते है और इस समा जानेमे एक आकाशकी ही अवगाह योग्यतापर ध्यान न दें किन्तु अपने आपमे परमाणुवोमे भी परस्परमे अवगाह करनेकी, प्रवेश करनेकी कला है। जिस प्रदेश पर एक परमाणु ठहर सकता है उस ही प्रदेशपर अनेक परमाणु ठहर सकते है। यही देख लो ना ? अपने जीवका विस्तार जितने क्षेत्रमे है उस ही क्षेत्रमे शरीरका विस्तार, कर्मका विस्तार यह सब पडा हुआ है। दूसरा दृष्टान्त लो।

लोकाकाशमे अनन्त पदार्थोंके अवगाहपर कुछ अन्य दृष्टान्त—एक गूढ नागरसका कोई औषधिपिण्ड है, उसमे बहुतसा स्वर्ण समा जाता है, यह कोई धातु रसायनकी विधिकी बात है अथवा ऊँटनीके दूधके घडेमे उतना ही मधु भर दो तो समा जाता है अथवा जो किया जा सकता है उसे देख लो। एक कनस्टरमे राख खूब ऊपरसे भरी हो, उसमे पानी भरते जावो तो साराका सारा पानी समा जाता है। यह दृष्टान्त जितनी बातको समझनेके लिए दिया जा रहा है उतना ही प्रयोग रखना है। अथवा मदिरमे एक घटा बजा, उस घटेकी आवाज फैल गयी। उसी समय दूसरा घटा बज जाय तो वह दूसरे घटेकी आवाज पहिले घटे की आवाजमे समा जाती है। तो जैसे यहाँ भी निरखते है कि एक पदार्थमे अनेक पदार्थ समा जाते है तो ये सब पदार्थ भी परस्परमे समाकर और फिर इस आकाशमे समा जायें, यह बात सिद्ध हो जाती है।

आकाशका परिज्ञान—इस षट्द्रव्यात्मक लोकमे समस्त शेष द्रव्योका अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल इन ५ द्रव्योको जो सर्वप्रकारसे अवगाह देनेमे निमित्तभूत है ऐसा विशुद्ध क्षेत्रात्मक जो द्रव्य है उसे आकाश कहते है। इस आकाशकी सिद्धिमे किसीको शका

और विवाद नही है। देखिये अमूर्त पदार्थ ५ है—जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन ५ अमूर्त पदार्थोंका इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही होता। इस कारणसे ये पाँचो ज्ञानमे आने बड़े कठिन है, लेकिन जीव और आकाश—इन दो अमूर्त पदार्थोंके बारेमे इसकी जानकारी लेने मे बुद्धि चलती है। आकाशको तो यो कह दिया कि देखो यह जो पोल पडी है ना यही तो आकाश है। एक मोटी बुद्धिसे यह बात कही जाती है। यहाँ वस्तुतः जो आकाश है, जो उसके प्रदेश है, ६ साधारण गुणोसे युक्त है, जिसमे षट्गुणहानि वृद्धि चलती रहती है ऐसे आकाश कौन जानता है ? बस जो पोल देखा उसे लोग आकाश कहते है। कुछ भी कहे, पर आकाश द्रव्यको मान लेनेके लिए मनुष्योकी बुद्धि चलती है।

जीवके परिज्ञानकी सुगमता—जीवको माननेके लिए भी सुगमतया बुद्धि चलती है। हालांकि इस जीवके निषेध करने वाले बहुभाग जीव है, फिर भी इस जीवकी प्रसिद्धि अनेक ज्ञानी सत पुरुषोमे हो जाया करती है। क्यो हो जाती है ? धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी तो अमूर्तिक है, उनके विषयमे क्यो नही परिज्ञान होता ? और जीवद्रव्यके बारेमे क्यों परिज्ञान हो जाता है ? इसका कारण यह है कि यह जानने वाला जीव स्वय है और फिर इस जीव पर जो बात गुजरे उसे यह जीव नही जान सकता क्या ? यदि यह ज्ञाता और होता और जीवद्रव्य दूसरा होता तो इसका जानना कठिन था, पर यह ज्ञाता ही तो जीव है। इस जीव मे जो बात गुजरती है, अनुभवमे आती है, भोगता रहता है। उतना भुगतान पाना होता है, फिर भी यह ज्ञान नही किया गया ऐसा नही हो सकता। तो स्वातिरिक्त जितने अमूर्त पदार्थ है उन अमूर्त पदार्थोंमे आकाशद्रव्यका ज्ञान कर लेना अपेक्षाकृत दूसरोके कुछ सरलसा मालूम हो रहा है। इस गाथामे आकाशका स्वरूप कहा है।

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णा आयास अतवदिरित्त ॥९१॥

लोककी द्रव्योसे अनन्यता—जीव, पुद्गल, काय, धर्म और अधर्म ये सभी द्रव्य और कालद्रव्य भी लोकसे भिन्न नही है। इनका पिण्ड समूह ही तो लोक है। लोकका जहां स्थान है उसे लोकाकाश कहते है। इस लोकाकाशसे वह आकाशद्रव्य अन्य भी है और अनन्य भी है, एसे आकाशद्रव्य अनन्त है। इस गाथामे बात मुख्य यह बतायी है कि आकाश लोकसे भी बाहर है। लोक नाम है समस्त द्रव्योके समूहका और आकाश नाम है अवगाहना देने वाले एक पदार्थका। तो यह आकाश इस लोकसे भिन्न भी हो गया और अभिन्न भी हो गया। चूँकि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है अतएव वह लोकाकाशमे भी है और अलोकाकाशमे भी है।

निश्चयसे प्रत्येक पदार्थकी मात्र स्वस्वरूपता—यहाँ समस्त पदार्थोंके समूहको इस लोकसे अभिन्नता बताई गई है, तो भी निश्चयसे वहाँ भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अपने

आपका एकत्व लिए हुए है। यह व्यवहारदृष्टिका कथन है। यह लोकाकाश है और समस्त द्रव्योंके समूहका नाम लोक है। जीवद्रव्यमे तो जीवके अतिरिक्त शेपके सभी द्रव्योंसे भिन्नता है ? मूर्तिरहित केवलज्ञान और सहज परम आनन्द और निरञ्जन होना इन लक्षणोको देखा जाय तो जीव शेष द्रव्यसे भिन्न है और सव द्रव्य इस जीवसे भिन्न हैं, समस्त उपदेशोका प्रयोजन सब द्रव्योंसे अपनी भिन्नताका सम्वेदन करना है, और इस जीवको शरण और आनद भी इस भेदविज्ञानसे ही मिलता है।

केवलदृष्टिमें शंकाका अभाव——यह समस्त लोक वहुत वडा है, इस लोकमे यह एक अकेला जीव यत्र-तत्र कहाँ-कहाँ भ्रमण कर रहा है, इसका कोई ठौर भी नियत है क्या ? जिस जगह आज यह जीव उत्पन्न हुआ है, क्या उस जगह इस जीवका ठौर है। इस जीवका कोई वैभव नियत है क्या ? जिस समागम और वैभवमे हम आप पडे हैं, यह हम आपसे बँध गया है क्या ? एक ममत्व परिणाम इस जीवको बेचैन किये जा रहा है। यो जीवको क्लेश एक ममत्वका है, मिथ्यात्वका है, अन्यथा जीवको क्लेश क्या है ? हे सुख चाहने वाले मुमुक्षु जनो, सुख चाहनेके लिए बाहरमे यत्न नही करना है। बाहरके समागम तो पुण्य पापके उदयानुसार मिला करते हैं, उसमे तुम्हारे यत्नका कुछ प्राधान्य भी नही है, वहाँ तुम्हारा कुछ चल भी नही सकता, अपने आपमे अपना अतः ज्ञानमयी प्रयत्न करें तो सिद्धि होगी। जब कभी यह आत्मा केवल रह जाय, सबसे न्यारा रह जाय, फिर इसमे कोई बाधा है क्या, कोई क्लेश है क्या ? कोई शका भय है क्या ? वह तो अपने आपके स्वरूपमे केवल ज्ञानमग्न रहकर अपनेको कृतकृत्य कर लेगा।

एकत्वदर्शनका आशय—भैया ! यह प्रोग्राम सोचो यहाँ, हमे तो केवल बनना है। केवल बननेके लिए अभीसे अपने स्वरूपको केवल मानने लगे तो केवल बन जायेंगे। यह आत्मतत्त्व अन्य समस्त द्रव्योंसे भिन्न है। यद्यपि इस लोकमे बडा अवगाह हो रहा है। जहाँ मैं हू वही पुद्गल है, वही धर्म अधर्म है, वही आकाश काल है, हम कहाँ जायें कि जहाँ केवल हम ही हम रहे और वहा शेष द्रव्य न हो। ऐसा कोई स्थान आपको विदित है क्या ? कहाँ जायेंगे आप ? लोकसे बाहर तो आप जा न सकेंगे। रहेगे तो लोकमे ही। सर्वत्र जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल पडे हुए हैं, आकाश तो व्यापक है ही। कौनसी जगह जायें कि आप अकेले रह सकेंगे ? अरे बाहरमे अकेलापन नही खोजना है। कही रहा आये यह जीव, अपने आपके स्वरूपका कैवल्य देखकर यह अपने आपको अकेला समझे। मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हू, निर्लेप केवल ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति हो वहाँ शका नही, भय नही।

ममत्वका बन्धन—जो मनुष्य दु खी है, शकित है, भयभीत हैं उनके क्लेशका कारण

यह है कि बाह्यपरिग्रहोमे ममत्व परिणाम लग रहा है। जैसे किसी गायको ले जाना है तो उसकी जो छोटी बछिया है उसे आप ले जाइये। अधिक नही चल सकती है तो आप उसे गोद मे उठाकर चलने लगें तो वह गाय अपने आप पीछे-पीछे भागती है, तो जैसे यह गाय ममता के कारण पराधीन है ऐसे ही ये समस्त ससारी जन ममताके कारण परपदार्थोके इतने तीव्र आकर्पणमे पराधीन हो गए है। इस जगतमे इस जीवके लिए कोई दूसरा सहाय होगा क्या? कोई किसीके दुःखको मिटा देगा क्या? किसी इष्ट वियोग वाले पुरुष या महिलाको समझाने के लिए मित्र जन व नाते रिश्तेदार सभी आते है तो वे सब उसके दुःखको मेटनेमे समर्थ हैं क्या? अरे वे कोई भी उसके दुःखको मेटनेमे समर्थ नही है। वह ही खुद अपने ज्ञानकी सभाल करे तो उसका वह दुःख मिट सकता है। जहाँ उसने इतना ज्ञान बनाया कि इस संसारमे मेरा कही कुछ नही है, मैं तो अकेला हू, आज इस भवमे अन्य किसी गतिसे आ गया हू, यहाँ कौन किसका है, सभी न्यारे-न्यारे जीव है, यहाँ किसका शोक करना? यो ज्ञान बनाते ही वे सारे दुःख अपने आप टल जाते है।

इक आवत इक जात—एक कविने कहा है, उस स्थितिका चित्रण खीचा है जब कि बसत ऋतुके आनेका समय होता है, जब पुराने पत्ते झडने लगते है—"पात गिरंता यो कहे—सुनो वृक्ष वनराय। अबके बिछुडे कब मिलें दूर पडेंगे जाय॥" वृक्षसे बिछुडता हुआ पत्ता मानो कह रहा है कि हे बनराज अब हम तुमसे बिछुड रहे है, न जाने तुमसे बिछुडकर कहाँ के कहाँ उड़ जायेंगे? अब हम तुमसे कहाँ मिल सकते हैं, कहाँ मिल सकेंगे? तब उत्तरमे वृक्ष कह रहा है—"वृक्षराज यो बोलियो, सुन पत्ता इक बात। या घर या ही रीत है, इक आवत इक जात॥" तब वह वृक्ष कहता है कि अरे पत्ते! एक बात तो सुन ले, तुम इसकी क्या फिक्र करते हो? यह तो इस ससारकी रीति है कि एक आता है तो एक जाता है, एक जाता है तो एक आता है। ऐ पत्ते! यदि तुम हमसे बिछुड रहे हो तो दूसरे नये पत्ते तुम्हारी जगहपर आ जायेंगे। तो इस जगतमे किसका शरण ढूढ़ते हो, यहा कोई सहाय न होगा।

अपनी संभाल—भैया! यह ससार अशरण है, इस अशरण ससारमे अपने आपकी जिम्मेदारी सभालनी होगी। भेदविज्ञान करके सर्वसे भिन्न अपने आपके स्वरूपका प्रतिबोध करना और अपनेको केवल रखकर अपने ज्ञान और आनन्द स्वरूपसे तृप्त बने रहना, यही है अपनी सभाल। मैं समस्त द्रव्योसे भिन्न हू। यद्यपि जहाँ मैं हूं वहाँ सभी द्रव्य हैं, फिर भी मेरे स्वरूपमें किसी अन्य द्रव्यका प्रवेश नही हैं तथा कभी भी मैं अपना गुण अथवा पर्याय किसी द्रव्यको देनेमे समर्थ नही हू। हू मै यहाँ लोकमे और इसी लोकमें है सभी पदार्थ। रहने दो, जान लिया इन सब परपदार्थोको। समस्त पदार्थोका जो समूह है इस समूहका नाम लोक है, किन्तु आकाश अनन्त है, वह लोकमे भी वही है और लोकके बाहर भी वही है

अर्थात् आकाश जो लोकरूपसे है लोकसे बाहर नही है और बाहर है जो वह केवलरूपसे है। इस प्रकार इस गाथामे लोकसे बाहर यह आकाश है, अखण्ड असीम, इसकी प्ररूपणा की गई है। आकाशद्रव्य नित्य शुद्ध है। इसकी चर्चामे विषयप्रवृत्तिका अवकाश नही है। विषयवासनासे दूर रहना आत्मकल्याण ही तो है।

आगास अवगास गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९२॥

गतिस्थितिका कारण आकाशको माननेकी आशंका—इस प्रकरणमे एक यह शका की जा सकती है कि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यको इनकी गति और स्थितिका कारण कहा है। हमे तो यही आकाश जीव और पुद्गलोके गमनका और ठहरानेका कारण मालूम होता है। देखिये यह शका बहुत कुछ जच सकने वाली हो रही है। दुनियाको ऐसा ही मालूम पड रहा है कि यह आकाश है। इसमे पदार्थ गमन करते हैं, इसमे ही ठहरते है, गमन करना चाहे तो गमन कर लें, ठहरना चाहे तो ठहर लें, इस गमन करने और ठहराने दोनोका कारण यह आकाश है। सो आकाशको गति और स्थितिका कारण बताना चाहिये। धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके माननेकी क्या जरूरत है ? इस ही शकाके समाधानमे यह गाथा कही जा रही है।

आकाशमे गतिस्थितिहेतुता माननेपर अनिष्टप्रसग—यदि आकाश नामका द्रव्य गति और स्थितिके कारणभूत धर्म अधर्मद्रव्यके उपग्रहकी बात करने लगे, तो ऊर्द्ध गति वाले सिद्ध जो जीव है वे सिद्ध क्षेत्रपर ही क्यो ठहर जाते ? इसका कारण बतावो धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो माना नही, ऐसी स्थितिमे आकाश तो है असीम अनन्त, फिर तो ये चलते ही रहे, ठहरनेकी कही नौबत ही क्यो आये ? यह शका समाधानकी दृष्टिमे नई नही है, मगर शका रखनेकी शैली नई है। यदि यह आकाश ही अवकाशमे आने वाले अवगाहका कारणभूत जिस प्रकार है उस प्रकार गमन और ठहरने वाले पदार्थोंके गमन और ठहरनेका कारण भी हो जाय तब सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्द्ध गतिसे परिणत हुए भगवान सिद्ध लोकके अतमे ही क्यो ठहरते है अथवा फिर तो एक भगवान् सिद्धकी ही क्या बात रही, सभी पदार्थ फिर एक सीमा तक ही क्यो पाये जाते है, क्रियावान पदार्थ तो इससे आगे भी चले जायें ना। क्यो यही रह गये ? यह दूपण आता है।

दोषापत्ति देकर समाधान—कभी शकाकार समाधान देता है, आपत्ति देकर भी और फिर उस दोषापत्तिके बाद स्थितिपक्ष रक्खा जाता है। शकाकारने यह शका की थी कि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य माननेकी कुछ जरूरत नही है, क्योकि जीव और पुद्गलकी गति एव स्थिति का कारण आकाशद्रव्य है। उसके उत्तरमे यह कहा गया कि यदि आकाश ही गमन करने और ठहरनेका कारण होता तो आकाश तो सर्वत्र है, जीव व पुद्गल सर्वत्र क्यो नही चले

है। अन्यथा लोक और अलोककी सीमाकी व्यवस्था नही बन सकती। मान लो कदाचित् आकाश जीव पुद्गलके चलनेका कारण है तो इसे कहां तक चलना चाहिए था ? जहा तक आकाश मिले। और आकाश सर्वत्र है तब फिर जीव और पुद्गलकी गति निसीम हो जायगी, और वे चलते-चलते रुकेंगे, फिर चलेंगे, फिर रुकेंगे, ऐसी भी बात बनती रहेगी तो रुकना भी अलोकमे हो जायगा, चलना भी अलोकमे हो जायगा। तब होगा क्या कि चलना तो हो ही रहा है और रुकना हो रहा है तब फिर अलोक क्या रहा ?

उपग्रहका निर्णय—आकाशको जीवपुद्गलकी गति स्थितिमे निमित्त माननेपर दो दोष ये होते है—एक तो अलोकाकाशका अभाव हो जायगा और दूसरे लोकाकाशकी वृद्धि हो जायगी। इससे यह सिद्ध है कि आकाशद्रव्यका काम मात्र अवगाह देना है और यह भी धर्म अधर्मद्रव्यकी तरह उदासीन निमित्त है, जो ठहरे तो ठहर जाय, जो चले तो चला जाय। यो आकाशद्रव्य अवगाह देनेके लिए है। इस बातकी यहा सिद्धि की है। अब आकाशद्रव्यके सम्बधमे इस ही प्रकरणको उपसहारात्मक रूपसे पुन कह रहे है।

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिण वरेंहिं भणिद लोगसहाव सुणताण ॥६५॥

गतिस्थितिहेतुताके सम्बन्धमें सिद्धान्त—इससे यह निर्णय करना कि धर्म और अधर्मद्रव्य ही जीव पुद्गलके चलनेमे और ठहरनेमे कारण है, आकाश नही है, ऐसा जिनेन्द्र-भगवानने कहा है। जो लोकके स्वरूपको श्रोता है उन श्रोतावोको यह बताया है कि अमूर्त पदार्थोमे चलने और ठहरनेका निमित्त धर्म और अधर्मद्रव्य है और अवगाहका निमित्त आकाश-द्रव्य है। यह अति सूक्ष्म चर्चा है और आखो दिखने वाली बात नही है, खुदपर बीतने वाली बात नही है, इसलिए इसमे दिलचस्पी नही आ पाती है। अनुरजकता दो प्रसगोमे आती है या तो दिखने वाली बातमे कोई घटना हो रही हो अर्थात् पुद्गलके सम्बधमे और एक खुद पर बीती चर्चा हो तो चूकि बहुत कुछ अनुभूत है तो इस कारणसे वहापर एक दिल टिकता है। इसी प्रकार यद्यपि यहा कोई दिल जल्दीसे लगना योग्य विषय नही है, फिर भी शुद्ध द्रव्यकी चर्चासे विषयकषायोमे अन्तर आ जाता है। विषयकषायोकी वृद्धि वहां होती है जहां विषयकषायोके साधनभूत पुद्गलपिण्डोको विषयमे लिया जाय।

अमूर्त अजीवास्तिकायकी चर्चा—यह एक शुद्ध चर्चा है। लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य है और अधर्मद्रव्य है। आकाश असीम है, वह लोकरूप भी है और लोकसे बाहर भी है। यहा तक ५ अस्तिकायोके वर्णनके प्रसगमें इस अधिकारमें पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश चार द्रव्योका वर्णन किया, जिसमें अमूर्त द्रव्य तीन है—धर्म, अधर्म और आकाश। ये तीनो द्रव्य एक जगह रह रहे हैं, फिर भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ये जुदे-जुदे हैं, इस प्रकारका

वर्णन करते है।

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समानपरिणामा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्त ॥९६॥

धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य व आकाशद्रव्यकी एकता व अन्यता--धर्म, अधर्म और लोकाकाश ये समान परिमाण वाले हैं। जहा तक सब द्रव्य है उतनेका नाम लोकाकाश है। जितना बडा लोकाकाश है उतना ही बडा धर्मद्रव्य है, उतना ही बडा अधर्मद्रव्य है। नापकी दृष्टिसे देखो तो तीनो एक बराबर है, अमूर्तस्वभावकी दृष्टिसे देखो तो वे तीनो एक बराबर हैं। सम्पूर्ण एकक्षेत्रावगाही व अमूर्तस्वभावी होनेसे एकत्वको प्राप्त होनेपर भी ये वास्तवमे अपने-अपने रूपको लिए हुए है और पृथक्-पृथक् अपना सत्त्व रखते है। व्यवहारदृष्टिसे, स्थूल दृष्टिसे समान परिणाम होनेके कारण और एक ही जगह रहनेके कारण इनमे एक समानपना पाया जा रहा है, लेकिन वास्तविक दृष्टिसे इनका स्वरूप न्यारा न्यारा है। धर्मद्रव्य तो गतिका कारण है, अधर्मद्रव्य स्थितिका कारण है, आकाशद्रव्य अवगाहका कारण है और इनका प्रदेश भी विभक्त है।

एकता व अन्यतापर एक स्थूल उदाहरण—जैसे एक ही घरमे १० आदमी रह रहे है, पर उन दसोका परस्परमे एकका किसीसे मन नही मिलता तो जैसे यह कहा करते है कि एक घरमे रहते हुए भी ये सब न्यारे-न्यारे ही है, मन ही नही मिलता। यह एक मोटी बात कही जा रही है। ऐसे ही ये धर्म अधर्म लोकाकाश एक प्रमाण वाले है। एक ही जगह रह रहे है परिवारके आदमी फिर भी एक जगह नही हैं। उनका शरीर न्यारा है, क्षेत्र न्यारा है, पर यहाँ तो ये तीन अमूर्त पदार्थ एक जगह रह रहे है, फिर भी किसीका स्वरूप किसीसे मिलता नही है। जैसे पानीमे मिट्टीका तेल डाल दिया तो एक जगह होकर भी वह पानी अपने ही स्वभावको लिए हुए है, तेल अपने स्वभावको लिए हुए है। मन नही मिलता अर्थात् उनका स्वरूप नही मिलता तो यो ये तीन द्रव्य विभक्तप्रदेशी है और विशेष रूपसे पृथक् उपलब्ध है, इस कारण ये जुदे-जुदे ही है।

एकता व भिन्नता बतानेका हितकारी तात्पर्य—इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे यह जीवद्रव्य पुद्गल आदिक ५ द्रव्योके साथ और शेष अन्य जीवोके साथ एकक्षेत्रावगाह रूपसे रहता है यो व्यवहारसे यहाँ एकत्व समझमे आ रहा है, फिर भी निश्चयसे सबके अपने-अपने धर्म जुदे-जुदे है अतएव उन सबसे मैं भिन्न हू। देखिये यही की बात, आप जितनेमे फैले है, जितनेमे चेतना प्रकाश है, ज्ञानभाव है उतनेमे आप है ना ? उस क्षेत्रमे ही यह शरीर है, उसी क्षेत्रमे धर्मद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, और आपके शरीरमे जो असख्याते जीव त्रस रहे है और असख्याते जीवोकी ही बात क्या, इस शरीरमे निगोद जीव भी बस सकते हैं, तो अनन्त जीव

जाते ? उनकी गतिमे तो रुकावट न होनी चाहिए थी।

समाधानमें सिद्धोंका उदाहरण देनेका कारण—भैया ! कोई अन्य पदार्थोंके लिए कुछ और बहाना ला सकते है। ये पुद्गल पिण्डरूप है, इनको इससे ऊपर जाने योग्य वातावरण नही मिलता, नही जा सकते। ससारी जीवोके भी इस तरहके कर्म नही है, ये अशक्त है, ये नही जा सकते। अन्य द्रव्योमे कुछ बहाना लाया जा सकता है, किन्तु जो शरीरसे कर्मों से मुक्त हो गए है, जिनमे स्वाभाविक ऊर्द्ध गमनका स्वभाव व्यक्त हो गया है उन सिद्ध भगवानके चलते ही रहनेमे कोई बहाना नही मिल सकता। इस कारण दोषापत्ति देते समय भगवान सिद्धका ही दृष्टान्त दिया है कि यदि धर्म अधर्मद्रव्य न होते तो भगवान सिद्ध निरन्तर आगे चलते ही रहते। ठहरनेका तो वहाँ कोई काम ही न था। क्योकि सिद्धोमे तो विशुद्ध ऊर्द्धगमन स्वभाव है ही, इससे बात क्या सिद्ध हुई। उस सिद्ध की जाने वाली बातको अगली गाथामे रख रहे है।

जम्हा उवरिट्ठाण सिद्धाण जिरणवरेहि पण्णत्त।
तम्हा गमरणट्ठाण आयासे जाण णत्थित्ति ॥९३॥

गतिस्थितिहेतुताका युक्तिपूर्वक सिद्धान्तका प्ररूपण—सिद्ध भगवानका स्थान जिनवर भगवानने लोकके शिखर पर बताया है। इस कारण गमनक्रियामे हेतुभूत आकाशद्रव्यको नही कहा जा सकता। बहुत-बहुत वर्णन हो गया है कि सिद्ध भगवान लोकके शिखरपर बिराजमान है, अब आगे क्यो नही गए ? गमनका बहिरङ्ग कारणभूत जो कुछ भी है वह आगे नही है, इस कारण आकाशको गतिका हेतुभूत नही कहा जा सकता। गतिका हेतुभूत धर्मद्रव्य ही है। और धर्मास्तिकायका अभाव होने से वे वही रुक गए। भगवान जहाँसे मुक्त हुए है वहाँसे जाते तो अवश्य हैं ऊपर, पर वे लोकके ऊपर ही अवस्थित है। इससे यह पूर्ण सिद्ध है कि गति और स्थितिका हेतुपना आकाशमे नही है। लोक और अलोक इस विभागके करने वाले धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ही है। ये ही जीव और पुद्गलकी गति और स्थितिके कारण होते है। भगवान सिद्धका यहाँ उदाहरण लिया है।

सिद्धता—सिद्ध मायने जो एक विलक्षण पक गया है अथवा अनुपम अवस्थाको प्राप्त हो गया है। लोकसिद्ध तो बहुतसी बातें है। कोई अञ्जनसिद्ध होता है जिस अञ्जनको लगा ले तो सारा शरीर अन्तर्ध्यान हो जाता है। कोई पादुकासिद्ध होता है, कोई खडाऊ सिद्ध हो जाती जिसको पहिनकर तालाबमे जलके ऊपर-ऊपर गमन हो सकता है। किसीको गुटका सिद्ध हो गया, किसी को खड्गादिक शस्त्र सिद्ध हो गये। लौकिक बातें तो बहुतसी है मगर उन सबसे विलक्षण ये सिद्ध भगवत है, जिसमे सम्यक्त्व आदिक अष्टगुण प्रकट हो गए हैं उन सिद्धोकी बात कह रहे है, उनका ऊर्द्धगमन स्वभाव है। और वे जहाँ भी जायें ऊपर

एक ही समयमे पहुंच जाते है। सिद्ध भगवन्तोंका निवास लोकके अग्रभागपर है, उससे आगे नही है। इस अन्तराधिकारमे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यकी सिद्धि गति स्थितिके हेतुरूपमे हुई है। आकाशद्रव्य तो पदार्थोंके अवगाहका ही कारणभूत है। इन सब द्रव्योकी चर्चा करके हमे शिक्षा यही ग्रहण करना है—यह मैं जीवद्रव्य इन सब मिले हुए समस्त पदार्थोंसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इस प्रतीतिसे ही कल्याणका मार्ग मिलता है।

जदि हवदि गमणहेदू आयास ठाणकारण तेसिं।

पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अतपरिवुड्ढी ॥६४॥

आकाशमें गतिस्थिति कारणता माननेपर आपत्ति—आकाश जीव पुद्गलकी गति और स्थितिका कारण क्यो नही है? इस सम्वधमे फिर भी और युक्ति देते है। यदि आकाश जीव पुद्गलकी गतिका कारण होता और स्थितिका कारण होता तो एक तो यह दोष है कि अलोकाकाश कुछ कहलाता ही नही। दूसरे लोकाकाशके अन्तकी वृद्धि हो जाती। लोकाकाश तो वहुत वडा हो जाता और वडा क्या असीम हो जाता और अलोकाकाश रहता ही नही। इससे यह समझना कि आकाश जीव पुद्गलकी गति और स्थितिका हेतु नही है, क्योकि अन्यथा लोक और अलोककी सीमाकी व्यवस्था नही वन सकती।

अनुमानज्ञानकी प्रमाणता—लोग अनुमानज्ञानको एक कमजोर ज्ञानकी दृष्टिसे देखते है। जैसे वोलने लगते कि हाँ पता नही कि क्या वात है, अनुमानकी वात है। लोग अनुमान ज्ञानको कुछ अशक्त दृष्टिसे देखा करते है, लेकिन अनुमानज्ञानको उतना ही प्रवल प्रमाण कहा गया है जितना प्रवल सान्व्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञानप्रमाण होता है। न्यायशास्त्रमे अनुमानके अग ५ कहे है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे बोलें कि इस पर्वतमे अग्नि होनी चाहिए, क्योकि अन्यथा धुवा होना न पाया जा सकता था। धुवा देखो पर्वतमे से उठता हो तो अनुमानज्ञान वनाया कि इस पर्वतमे अग्नि है धुवा होनेसे। जहाँ-जहाँ धुवा होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जहाँ अग्नि नही होती है वहा धुवा नही होता है। इसमे पहली व्याप्तिका उदाहरण है रसोईघर। वहाँ धुवा है तो अग्नि भी है। दूसरी व्याप्तिका उदाहरण है तालाब। वहाँ अग्नि नही है तो धुवा भी नही है। और इस पर्वतमे धुवा देखा जा रहा है, इससे सिद्ध है कि यहा अग्नि अवश्य है। इस ज्ञानमे शककी बात है या दृढताकी बात है? दृढताकी बात है। लोकमे प्रसिद्धि है कि अनुमानज्ञान शका वाली बातमे किया जाता है, किन्तु ऐसा नही है। अनुमानज्ञान उतना ही दृढ प्रमाण है परोक्षप्रमाणमे जितना मति स्मृति आदिक हैं।

आकाशमे गतिस्थितिहेतुता माननेपर हुई दोषापत्तिका विवरण—यहा अनुमानज्ञानसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि आकाश [जीवपुद्गलके चलनेमे कारण नही है, ठहरनेमे कारण नही

भी उसी जगहमे अवगाह लिए हुए है, किन्तु पैरमे जो कीडे फिर रहे है उन कीडोकी सज्ञा, उन कीडोका उपयोग, उन कीडोकी प्रवृत्ति कीडो जैसी है। आपकी सज्ञा, आपका विचार, आपका मन आपमें आपकी तरह है, भिन्न-भिन्न स्वरूपको लिए हुए है। यह एक क्षेत्रावगाही जीवोकी बात है।

जीवोंकी परस्पर भिन्नता—भैया! परिवारमे तो सभी प्रकट भिन्न नजर आते है। यह इस शरीरमे रहने वाला मै, यहाँ दूसरे शरीरमे रहने वाले दूसरे जीव, यो भिन्न-भिन्न शरीरोंमे रहने वाले ये भिन्न-भिन्न जीव है। आपको थोड़ा फुसी हो तो आप ही उसकी वेदना को सहेगे। दूसरा कोई प्रेमी हो तो चूंकि आपको विषयभूत बनाकर उसने रागपरिणमन उत्पन्न किया तो वह अपने रागपरिणमनसे दु खी होगा, न कि आपकी फोडा फुसीके निमित्तसे। उसका क्लेश तो आपको ही भोगना पडेगा, कोई दूसरा नही भोग सकता। प्रत्येक जीव अत्यन्त न्यारा है।

अपूर्व लाभका अवसर—देखिये जैनधर्मका लाभ लूटनेका यह ही मौका है। यह ससार विषम है। आज मनुष्य है, कलका कुछ पता नही कि किस गतिमे पहुच जायेंगे, फिर क्या होगा, कब चेतना बनेगा? सोच लीजिए। इस भवमे यदि धर्म और ज्ञानके लिए वर्द्धमान परिणाम हो रहे है तब तो सतोषकी बात है। यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे वर्द्धमान भाव नही होता है तो एक बडे खेदकी बात है। आज मनुष्य है, कुछ अच्छे समागम मिले है, जैसा चाहे मनको स्वच्छन्द बना लें, क्योकि प्रभुता कुछ पायी है इस समय, लेकिन यह ससार तो अतिविषम है। जीव लोकपर दृष्टि डालकर देखिये, केवल यहांके थोडेसे वैभव और थोडेसे सुखमें क्या तत्त्व बसा है? ऐसा उपाय बनावो कि यह आत्मा अपने स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान और आचरण करके सदाके लिए ससारके सकटोसे मुक्त हो सके, ऐसा उपयोग वनाना चाहिए, इसीमे बडप्पन है। धन बढा लिया तो इससे कुछ बड़प्पन नही है। परिवार को योग्य बना लिया अथवा वे बुद्धिमान हो गए तो इससे भी आत्माका कुछ बड़प्पन नही है। आतमाका बडप्पन तो रत्नत्रयकी सिद्धि करना ही है। अपने आपका केवल यथावत् निश्चय हो जाय और इस ही रूपमे अपनेको लेते रहनेका परिणाम हो जाय तो यही एकमात्र शरण है।

मोहान्धकार—यहां अन्य कुछ भी शरण नही है, सब असार है। घरके चार छः जीवोमे रमनेका तो भाव रहे और पडौसियोके या गाँवके किसी भी मनुष्यमे कुछ चित्त भी नही जाता, उनपर कुछ दयाकी वुद्धि ही नही जाती तो इसको कम विपदा न मानो। अरे जब तक ऐसी बात मनमे न आये कि जीव-जीव तो सब एक समान है, स्वरूप तो सबका एक सा है। न्यारेकी दृष्टिसे देखो तो जितने न्यारे गैरको देखते हो उतने ही न्यारे घरके लोगोंको

भी मानो, ऐसी झलक यदि कभी आती नही है तो समझो कि हमपर बडी विपदा है। यह अज्ञानका घोर अधकार है।

अन्तर्ज्ञानमें अनाकुलता—भैया ! जिस उपायसे सम्यक्त्व जगे, सम्यग्ज्ञानकी स्थिरता रहे, बस यही मात्र एक उपाय सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है, और कुछ नही। आज जैसे कुछ डर लग रहा है, अचानक न जाने क्या हो जाय ? जो भी वैभव है वह आपके हाथ न रहे। स्थितिया तो भयंकर है। जो परिजन है वे न रहे ऐसी शकायें रखते है ना ? ठीक है। यह तो हुई बाह्य व्यवस्था और एक होता है अतरङ्गका अज्ञान—इन दो मे तो महान् अतर है। अतरङ्ग मे जो अज्ञान बसा हुआ है तो इसकी घबडाहट है और अतरङ्गमे अज्ञान नही बसा है, सम्यग्ज्ञान बन रहा है तो अन्तरङ्गमे अनाकुलता रहते हुए भी ये बाह्य व्यवस्थाएँ बना सकते हैं।

उपदेशका प्रयोजन—जितने उद्देश्य हैं उन समस्त उपदेशोका सार इतना है कि यह ज्ञानमे आ जाय कि जीव जुदा है और यह पुद्गल जुदा है। मेरा विनाश मेरे जीवपरिणामोंमे मलिनता कलुषता आनेसे होगा। किन्ही बाह्यपदार्थोंके नष्ट होनेसे मेरा विनाश न होगा, और यह विनाश भी क्या है ? सत्तासे विनाशकी बात यहाँ भी नही है, किन्तु हम आनन्दरूपमे न रह सकें, क्षोभरूप प्रवृत्तिमे रहा करें, यह हमारी बरबादी है, ऐसी बरबादी हममे तभी होती है जब हम अपने आपमे मलिन परिणाम किया करते है। अन्तरङ्गमे मलिनता न जगे, यही एक हमारा सच्चा बडप्पन है और यही सच्ची विभूति है।

प्राप्त क्षयोपशम—भैया ! इस जीवका जो विकास होता है उस विकासमे सबसे पहिले तो क्षयोपशमकी जरूरत होती है, क्षयोपशमलब्धिकी जरूरत है। तो क्षयोपशमलब्धि तो हम आपको मिल चुकी है। हम आपमे इतना ज्ञान है कि जिस बातका निर्णय करना चाहे निर्णय कर लेते है। जिस बुद्धिमे इतनी सामर्थ्य है कि बडी-बडी लौकिक व्यवस्थावोकी व्यवस्थाएँ हल कर लें, बडी ऊँची समस्याएँ सुलझा ले। उस ज्ञानमे क्या इतनी योग्यता नही है कि इस ज्ञाताको पहिचानने चलें तो पहिचान लें। केवल एक रागका आवरण पडा है, इस कारणसे हम अपने आत्माका सीधा सही परिचय न कर पायें, लेकिन योग्यता हम आप सबमे आ चुकी है कि आत्मपरिचय कर लें। तो योग्य क्षयोपशम हम आपके है।

विशुद्धि व उपदेशग्रहणयोग्यता—देखिये विशुद्धि भी हम आपमे अनेक अशोमे आ चुकी है। बहुत क्रूरता भी नही है, बहुत लम्पटता भी नही है। धर्मका भी ख्याल रहता है और धर्मके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करनेका भी भाव रखते हैं, विशुद्धि भी बराबर मिली हुई है, उपदेश भी बहुत मिले हुए है। उपदेशोंसे भरे हुए ये अनेक ग्रन्थराज मिले है, जिनमे इनके समझनेकी शक्ति है वे इन्हे पढकर उपदेशका ही तो लाभ लेते रहते है, और इनको जानने वाले जो बतायें वह भी उपदेश है। तो उपदेश पानेकी भी सुविधा मिली है

और उस उपदेशको ग्रहण करनेकी भी योग्यता मिली है। अब जरूरत तो मननकी है। हम अपने आपमे तत्त्वविषयक मनन बनायें। मै क्या हू, ये अन्य पदार्थ क्या है, इनसे मेरा क्या सम्बंध है ? बाह्यपदार्थोंका संगम मेरा कहाँ तक पूरा पाडेगा, किसमे मेरा हित है ? इस बात पर ध्यान दीजिए।

मनन व भेदविज्ञानका यत्न—यह सब वक्तव्य एक भेदविज्ञानके लिए है। तो अब यहाँ जो कुछ तत्त्वके विषयमे ज्ञान बनाया वह ज्ञान वस्तुस्वरूपके माफिक है, लेकिन जिस क्षणमे परके विकल्प टूटकर अपने आपके स्वरूपमे उपयोग समायेगा, श्रद्धान होगा, अनुभव होगा तब यही सब ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जायगा। फिर सम्यग्ज्ञान बननेके बाद ही पूर्वकालकी वासना परेशान करती है, पुन पुनः अपने आपमे शिथिलता आती है। बाह्यमे उपयोग चलता है तो उस बाह्य उपयोगकी निवृत्तिके लिए बार-बार भेदविज्ञानका प्रयोग करना चाहिए, भेदविज्ञानकी भावना भानी चाहिए। सम्यक्त्व हो जानेके बाद भेदविज्ञानकी भावनाकी आवश्यकता नही हो, ऐसा नही है। सम्यक्त्व होनेपर भी जब तक यह ज्ञान ज्ञानमे प्रतिष्ठित न हो जाय, अपने स्वरूपमे न समा जाय, जब तक विकल्प रहे तब तक इस भेदविज्ञानकी भावना करनो चाहिए।

अभेदानुभूतिका पुरुषार्थ—जब इस भेदविज्ञानकी भावनाका दृढ अभ्यास हो जायगा तब बाह्यसे उपेक्षा करके अभेद निज चैतन्यस्वभावमे स्थिर होनेकी विशेपता होनी चाहिए। तब यह कदम होगा अभेदानुभूतिका। इस अभेदानुभूतिसे जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दमे यह सामर्थ्य है कि रागादिक विभावोका विनाश करे और द्रव्यकर्म कलकोका भी नाश करनेमे निमित्त बने। यो सत्य आनन्द पानेके लिए ही धर्मका पालन होता है। कष्ट राहनेके लिए धर्मका पालन नही किया जाता। यो इस सहज परम विशुद्ध स्वाधीन आनन्दकी प्राप्तिके लिए आनंदधाम निज चैतन्यस्वरूपका अनुभव करना चाहिए, और यह सब होगा ज्ञान द्वारा साध्य। इससे अपने इस जीवनको ज्ञानार्जनमें लगाकर उस ज्ञानामृतसे सीचकर सफल कीजियेगा। जैनशासनका अनुपम लाभ लूटनेका यही मौका है। मौका चूक जानेपर अर्थात् विपयकपायोकी मलिनतासे अपने आपके जीवनको बिगाड लेनेपर फिर इस जीवपर क्या बीतेगी, वह बहुत कठिन बात होगी। यहाँ इन ५ अस्तिकायोका वर्णन किया गया है। अब इस चूलिकामे अन्य बाते कही जायेगी।

आगासकालजीवा धम्माधम्माय मुत्ति परिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥९७॥

चूलिकामें द्रव्योंके विभागका प्रतिपादन—आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य—ये ५ द्रव्य मूर्तिकतासे रहित हैं अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्शसे शून्य हैं। एक पुद्गल

द्रव्य ही मूर्तिक है और इस परिस्थितिमे उपाधिके सम्बधसे, उपचारसे जीव भी मूर्त कहलाता है। इन सब पदार्थोंमे से चेतन केवल जीव है। यह उस अधिकारकी चूलिका चल रही है। चूलिकाका अर्थ है जो कहा हो, उसमे जो कुछ अश छूट गया हो उसे कहना। उससे सम्बधित कुछ और कहना हो उसे कह देना, इसको चूलिका कहते है। जैसे आप किसी अपने मित्रसे या किसीसे भी एक-आध घटा बातें करते है तो बातें कर चुकनेके बाद जब आप उससे विदा होते है तो चूलिकारूपमे कुछ लगारकी बात कहकर जाया करते हैं वह उस प्रसगकी चूलिका है, कही हुई बात भी कहना व न कही हुई बात भी कहना। यहाँ द्रव्योंमे मूर्तद्रव्य कौन है, अमूर्तद्रव्य कौन है, चेतन कौन है, अचेतन कौन है ? इसका वर्णन किया गया है।

द्रव्योमे मूर्त व अमूर्तका विभाग—मूर्त कहते हैं उसे जिसमे स्पर्श, रस, गध, वर्णके सद्भावका स्वभाव हो। तब निरख डालिये—६ द्रव्योमे से किस द्रव्यमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण पाया जाता है ? केवल पुद्गलमे पाया जाता है यह मूर्तिकपना और जिसमे स्पर्श, रस, गध, वर्णके अभावका स्वभाव पाया जाय उसे अमूर्त कहते हैं। तो निरख डालो, किन-किन द्रव्योमे ऐसा स्वभाव है कि त्रिकाल भी जिनमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण न हो सकें। इनके अभावका स्वभाव जिसमे पाया जाय वह अमूर्त पदार्थ है। ऐसे अमूर्त पदार्थ आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म ये ५ हैं।

द्रव्योमे चेतन और अचेतनका विभाग—अब चेतन और अचेतनका विभाग सुनिये। जिसमे चेतनके सद्भावका स्वभाव पाया जाय वह द्रव्य है चेतन। अब निरख डालो, किस द्रव्यमे चेतनके सद्भावका स्वभाव पाया जाता है ? एक जीवद्रव्यमे। जो प्रतिभासनेका काम करे, जिसमे जानकारी बने वही तो चेतनास्वभावके सद्भाव वाला पदार्थ है, वह केवल जीव-द्रव्य है। देखो जिसमे आनन्द भरा हुआ है उसमे ही दुःखकी नौबत आती है। शेष ५ द्रव्यो मे सत्ता तो उनके है, पर सत्ता होकर न उनके आनन्द है, न उनके दुःख है। हम आप सोचें कि हम जीव सत् ही क्यो हुए ? हम पुद्गल, धर्म, अधर्म आदिक इन सत्रूप होते तो भला था। अब सोचनेसे क्या होता है ? तुम तो जीव ही सत् हो। अब जैसे तुम्हारा गुजारा बने, निपटारा बने उस कामका यत्न करो।

जीवका प्रबल बैरी—इस जीवका प्रबल बैरी घातक मोहभाव है, जो कि व्यर्थका मोहभाव है। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो यह आत्मा अकेला ही है, अनादिकालसे अकेला ही रहा आया है व अनन्तकाल तक अकेला ही रहेगा। वर्तमानमें भी पूर्ण अकेला है। इसमें दूसरे पदार्थका सग भी नही है। यह मेरा है, ऐसा सोचना यही एक बडी विपदा है। परिस्थितिवश जो काम करना हो, जो काम किया जाता हो वह काम कर लेवे वह उतना बुरा नही है, पर 'यह मेरा है' इस प्रकारकी जो भीतरमें प्रतीति है यही है जीवकी प्रबल बैरी।

ज्ञानप्रकाशकी विशेषता—कोई यो भी अपनी सफाई पेश कर सकता है कि साहब हम तो सम्यग्दृष्टि है, हमारे किसी द्रव्यमें ममता नही है, मोह नही है । गृहस्थी है इसलिए यह सब निभाना पडता है । ऐसी बात हो सकती है, पर ऐसी सफाई देने वाली सख्या अधिक हो सकती है । यदि अन्तः यह श्रद्धा बन गयी है, भेदविज्ञान हो तो उसके फलमे उदारताका परिणाम भी व्यक्त हुआ ही करता है । उदारताका परिणाम न हो, व्यवहारमे त्यागकी कुछ बात भी न चलती हो और वह भी एक बेअटक दिलसे तब यह नही कहा जा सकता कि हमारे भीतर निर्मोहताकी परिणति बनी हुई है । जब मेरे एक आत्मस्वरूपसे सब कुछ न्यारा है, यह प्रकाश हो तब यह प्रकाश तो अपने प्रकाशके अनुरूप ही काम करेगा ।

जगतकी असाररूपता—इस जगतमे सारभूत पदार्थ बाह्यमे कुछ नही है । थोडी देर के लिए किसीने अच्छा बोल बोल दिया, कुछ अपना प्रेम दर्शाया, कुछ सुहावना भी लगा, लेकिन कितने दिनकी बात है, और प्रथम तो यही बात है कि यह इसका प्रेम आजके लिए है, कलका कुछ भी ठेका नही है कि कैसा चित्त बने ? पति-पत्नी, पिता-पुत्र सभीका कोई विश्वास नही है कि कब तक प्रेम रहे ? यो तो एक विश्वास और कल्पनाके आधारपर व्यवहारके बडे-बडे काम भी चल रहे हैं । यदि एक भीतरमे छल आ जाय तो आपको २०) रु० का मनीआर्डर भी वसूल करना कठिन हो जायगा । डाकिया कहेगा कि पहिले दस्तखत करो, आप कहेगे कि पहिले रुपये दो, लेकिन विश्वासके आधारपर यह सब कुछ सधा हुआ है, टिका हुआ है । यो ही विश्वासके आधारपर आप अपने परिजनोको कहते है कि ये मेरे है, इनपर मेरा अधिकार है, ये आजीवन मेरे अनुकूल रहेगे, लेकिन दम भरकर कुछ भी नही कहा जा सकता ।

अचेतन पदार्थ और व्यामोहीकी प्रकृति—यह जीव चेतन है, इसमे चैतन्यके सद्भाव का स्वभाव पाया जाता है, किन्तु जिसमे चेतनके अभावका स्वभाव पाया जाय उसे अचेतन कहते है । यह भी देख लीजिए । कौन-कौनसे द्रव्य अचेतन है ? एक जीवद्रव्यको छोडकर शेष ५ द्रव्य अचेतन है । यह जीव चेतन पदार्थमे भी व्यामोह करता है और अचेतन पदार्थमे भी व्यामोह करता है । और बात तो दूर रहो, किसी समय कोई पुरुष धर्म अधर्मद्रव्य जैसा सूक्ष्म अमूर्त पदार्थकी चर्चा कर रहा हो तो उसके खिलाफ कुछ अन्य प्रकारसे स्वरूप बताने वाला कोई दूसरा विवाद करने लगे तो अमूर्त धर्मद्रव्यकी चर्चाके विवादके प्रसगमे भी गाली-गलौज और झगडे भी हो सकते है । यह विडम्बना धर्मद्रव्यके मोहमे हुई है । देखिये—जो दिखता नही है, जिसकी हम स्पष्ट सिद्धि भी नही कर सकते, प्रत्यक्ष दिखा भी नही सकते, केवल आगमके आधारपर जानकर हम चर्चा कर रहे है और उसकी चर्चाके विकल्पमे ही मेरा-तेरा लगा है । कितना व्यामोह घुसा हुआ है इस संसारी प्राणीमे ?

जीवका विकार व विकारकी अपनायत--यह व्यामोही प्राणी अचेतनसे भी मोह करे, चेतनसे भी मोह करे, और अपने आपके चेतनमे बसे हुए जो चिदाभास विकल्प वितर्क विचार रागादिक भाव है उनसे भी मोह करता है। जो मै कहता हू सो ठीक है, यह भी मोहकी बात है कि नही ? जो उसका विकल्प है, जो उसका विचार है उसे ठीक कह रहा है। अरे यह मालूम है कि जितने भी विचार है, जितने भी विकल्प है ये सब परभाव हैं, और परभावोको यह अपना रहा है तो यह मोहकी बात हुई ना ? इस चेतनपर बडी जिम्मेदारी है। उन ५ द्रव्योंका क्या बिगाड है ? कही कुछ हो। धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन ४ का तो कुछ बिगाड ही नही है। रही पुद्गलकी बात सो पुद्गल जल जाय, मिट जाय, छिद जाय, भिद जाय, इसको ही तो हम आप जीव लोग बिगाड कहा करते है। उन पुद्गलोकी ओरसे कोई देखे तो उनका क्या बिगाड ? ढेला रहे तो क्या, चूरा रहे तो क्या, लकडी रही तो क्या, राख रही तो क्या ? बिगाड तो सारा जीवका है, और लोकमे किसीका भी बिगाड नही है। इस जीवका बिगाड़ विकार है। विकारसे ही बिगडा शब्द बिगाड है। इसने अपना बिगाड कर लिया, इसका सीधा अर्थ तो यही है कि इसने अपना विकार कर लिया। जो स्वभावसे, परिणमना था, जो शुद्ध वृत्ति होनी थी, उस शुद्ध वृत्तिसे विपरीत चला गया, यो यह जीव मोहवश अपना बिगाड किये चला जा रहा है।

जीवद्रव्यकी व्यवहारसे मूर्तिकता—इन ६ द्रव्योमे आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म--ये ५ अमूर्त पदार्थ है, उनमे भी किसी पदार्थमे मूर्तिकताकी किसी रूपमे सम्भावना हो सकती है तो वह जीवद्रव्यमे। वह किस तरह ? यद्यपि यह जीवद्रव्य निश्चयसे अमूर्त अखण्ड एक प्रतिभासमय है, अमूर्त है स्पष्ट। तो भी जब यह जीव रागादिक विकाररहित सहज आनन्द एकस्वभावरूप आत्मतत्त्वकी भावनासे रहित होनेके कारण इस जीवके द्वारा जो उपार्जित मूर्तिक कर्म है उस कर्मके ससर्गसे यह जीव बन्धनकी दृष्टिसे मूर्तिक भी होता है। देखो ना, जैसे कि यह जीव शरीरमे बँधा फसा है, शरीर जले तो जीव भी जले, ऐसा बधन किसी अन्य अमूर्त पदार्थमे है क्या ? किसी पुद्गलके बँध जानेसे या जीवके बँध जानेसे कभी इस आकाशमे भी विचलितपना हो जाता हो, धर्म और अधर्म कालमे भी विचलितपना हो जाता हो, कही युक्तिमे उतरता है क्या ? केवल जीवद्रव्य ही ऐसे बन्धनको प्राप्त हो गया। उस बन्धनकी दृष्टिसे यह जीवद्रव्य मूर्तिक कहा जाता है। तो उस कर्मके ससर्गसे यह जीव व्यवहार से अमूर्तिक भी होता है। पुद्गलद्रव्य तो स्पष्ट मूर्तिक है।

उपादेय तत्त्व—इन ६ द्रव्योमे चेतक पदार्थ, जीव ही उपादेय है, क्योकि अपने और परपदार्थके परिच्छेदन करनेमे समर्थ चेतनभावसे परिणत जीव पदार्थ ही हुआ करता है। अब इस ही चेतकताको जब हम इस दृष्टिसे निरखें कि जो संशय विपर्यय अनध्यवसायरहित निज

का और परका परिच्छेदन रूप चेत रहा हो वह तो परमार्थतः चेतन है और इस प्रकार जो अपनेको न चेत रहा हो वह परमार्थत अचेतन है। यहाँ जीव जीवमे ही घटाइये। जैसे किसी जीवको कह देते हैं कि यह तो अज्ञानी बन रहा है, यह तो अचेतन बन रहा है, जड हो गया है। तो जब इसकी चेतकतापर दृष्टि डालते है तो जहाँ शुद्ध चेतकता न हो उसे भी अचेतक कह सकते है। लेकिन चेतन और अचेतनका निर्णय स्वभावसे होता है, न कि परिणमनसे। इसीलिए तो यह बात कही गई है कि जिसमे चेतनेके सद्भावका स्वभाव हो वह है चेतन और जिसमे चेतनेके अभावका स्वभाव हो वह है अचेतन। जीवके सिवाय अन्य ५ द्रव्योमे स्व और परका प्रकाश करने वाला चैतन्यभाव नही है, इस कारण ये शेष द्रव्य अचेतन है। इस प्रकार इन द्रव्योमे मूर्त अमूर्त और चेतन अचेतनका विभाग बताया गया है।

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवति ण य सेसा।
पुग्गल करणा जीवा खधा खलु काल करणा दु ॥६८॥

सक्रिय व निष्क्रिय द्रव्य—इस गाथामे यह बताया गया है कि समस्त द्रव्योमे से कौन-कौन द्रव्य सक्रिय है और कौन-कौन द्रव्य निष्क्रिय है? जीव और पुद्गलकाय, ये दो द्रव्य तो सक्रिय है और शेपके ५ द्रव्य निष्क्रिय है। धर्मद्रव्य जहाँ जैसा अवस्थित है वहाँ वैसा त्रिकाल अवस्थित है। यो ही आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है, उसमे तो अवस्थितता सुगम विदित हो जाती है और कालद्रव्य जो केवल एक प्रदेश प्रमाण है, लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर ठहरा है, वे भी जहाँ जो ठहरे है वहाँ वे अनादिसे ठहरे है और अनन्तकाल तक अवस्थित रहेगे। केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ऐसे है जो सक्रिय हैं, चलते रहते हैं। इसमे सक्रियताका स्वभाव है। अष्टकर्मोंसे रहित सिद्ध भगवान यद्यपि सक्रिय अब नही रहे, एक प्रदेश है। इधर-उधर वे सरक नही सकते और उनके आत्मप्रदेशोमे भी योग्य रीतिका उथल-पुथल नही हो सकता, लेकिन सक्रियताका स्वभाव जिसमे माना गया है वह स्वभाव तो त्रिकाल है, और सिद्धमे भी ऊर्ध्व गमन स्वभाव पाया जाता है। यद्यपि वे अपने सिद्ध क्षेत्र से ऊपर अर्थात् लोकसे बाहर त्रिकाल भी रच भी नही पहुचते, किन्तु जिनमे जो शक्ति, जो गुण है, जो स्वभाव है वह शाश्वत रहा करता है।

जीवकी सक्रियताका बहिरङ्ग साधन—एक प्रदेशसे अन्य प्रदेशपर पहुचनेका कारणभूत जो परिस्पद परिणमन है उसे क्रिया कहते है। इस लक्षणको घटित करते हुए निरखें कि कौनसे जीव सक्रिय हैं? ये जीव बहिरङ्ग साधनका निमित्त पाकर क्रियाशील बने रहा करते हैं? सक्रियताका स्वभाव होनेपर भी ये जीव पदार्थ यो ही अटपट गमन नही किया करते, क्रिया नही किया करते, किन्तु बहिरङ्ग साधन जैसे अनुकूल सहज प्राप्त हुए हैं उनको मात्र निमित्त पाकर यह जीव अपनी परिणतिसे अपने आपमे प्रदेशपरिस्पदन करने लगता है।

ससार अवस्थामे हम आप चलते है इसमे प्रदेशोसे प्रदेशान्तरपर पहुचनेका कारणभूत बहिरङ्ग साधन है शरीर व कर्म। और जब यह जीव अष्टकर्मोंसे मुक्त होकर एक समयमे एकदम ऊपर चला जाता है उस समयकी क्रियामे साधन है बन्धका छेद। कोई चीज किसीमे फसी हो और जब उसका वियोग हो तो फिर भी क्रिया बन जाती है। यो बहिरङ्ग साधनके साथ यह जीव सक्रिय है, और इस प्रकार बहिरङ्ग साधनके द्वारसे सक्रिय हुआ करता है।

पुद्गलकी सक्रियताका कारण—यह पुद्गल भी सक्रिय होता है। जो विशेष घटना होती है, विशेष क्रिया होती है, जो अभी न था अब हो गया, यो क्रियाएँ अट्टसट्ट नही होती है। बहिरङ्ग साधनका निमित्त पाकर होती हैं। ये पुद्गल स्कध हैं। पत्ता उडता है तो उसमे बहिरङ्ग साधन हवा है। हाथसे डला फेंक दिया। डला बहुत दूर तक चला जाता है, उसमे बहिरङ्ग साधन हस्तप्रेरणा है, हस्तक्रिया है। कभी परमाणु अकेला ही गमन करे तो वहाँ भी बंध छेद या अन्य-अन्य योग्य वातावरण वहाँ बहिरङ्ग साधन हैं। इस प्रकार बहिरङ्ग साधनोके द्वारा सद्भूत ये पुद्गल भी सक्रिय होते है। निष्क्रिय तो आकाश है, धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है और कालद्रव्य हैं।

सक्रियता व निष्क्रियताका उपसंहारात्मक वर्णन—जीवके सक्रिय होनेका बहिरङ्ग साधन कर्म और नोकर्मके उपचय रूप पुद्गल है। सो वे जीव पुद्गलकरणक होकर क्रिया कर रहे हैं किन्तु सिद्ध भगवानकी निष्क्रियता पुद्गलकरणके अभावसे है। सिद्ध हो गए, सिद्ध क्षेत्रमे बिराज रहे, अब वे रच भी प्रदेशसे प्रदेशान्तरको प्राप्त नही होते है। इसका कारण यह है कि उनमे अब पुद्गल वर्गणावोका अभाव है। पुद्गलमे जो सक्रियता होती है उसमे बहिरङ्ग साधन उस परिणमनका निष्पादक कालद्रव्य है अथवा इन स्कधोंमे परस्परमे एक दूसरेका प्रसग कारण है। जैसे यहाँ शुद्ध आत्माके अनुभवसे कर्मपुद्गलका अभाव हो जाता है इस कारण सिद्ध जीवकी शाश्वत निष्क्रिय स्थिति सम्भव है। इस प्रकार पुद्गलमे भी निष्क्रियता कभी सम्भव नही है। सिद्धकी तरह पुद्गल निष्क्रिय नही हो पाते। इस प्रकार इस गाथामे सक्रियता और निष्क्रियताका विभाग बताया है।

जे खलु इदियगेज्झा विसया जीवेहि हुति ते मुत्ता।
सेस हवदि अमुत्त चित्त उभय समादियदि ॥६६॥

मूर्तिक पुद्गल—जो जीवोके द्वारा इन्द्रियोसे ग्रहणमे आता है वह विषय तो मूर्तिक कहलाता है और शेष अर्थात् इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंसे भिन्न समस्त अमूर्त पदार्थ कहलाते हैं। जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रियके द्वारा तो उनके विषयभूत स्पर्श, रस, गध, वर्ण स्वभाव वाले पदार्थ उपभोगमे ग्रहण किया करते है, परन्तु श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा वे ही अर्थ श्रोत्र इन्द्रियके विषयभूत शब्दोंके आकाररूपसे परिणत हो होकर ग्रहणमे आया करते है।

अर्थात् यह जीव स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्शको भोगमे लेता है, रसना इन्द्रियके द्वारा रसको भोगता है, घ्राण इन्द्रियके द्वारा गंध भोगता है, चक्षु इन्द्रियके द्वारा रूप भोगता है और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा शब्दोको भोगता है। वे समस्त पदार्थ कभी जब स्थूल स्कध बन जाते है तब तो यह इन्द्रियो द्वारा उपभोगमे आता है और कभी सूक्ष्म स्कध हो जाता है और कभी परमाणु अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। इन स्थितियोमें ग्रहणमे नही आता। लेकिन इन्द्रियो द्वारा पुद्गलोको ग्रहण किये जानेकी योग्यता इनमे बनी हुई है। ये कभी ग्राह्य स्कन्धरूपमे आयें तब व्यक्त ग्रहण किये जा सकते है। इस कारण जीवके द्वारा ये पदार्थ ग्रहणमे आ रहे हो तो और ग्रहणमे न आ रहे हो तो मूर्तिक ही कहलाते है।

समस्त पुद्गलोमें मूर्तिकता—पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है, रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है और शेष समस्त पदार्थ अर्थसमूह चूंकि उनमे स्पर्श, रस, गध, वर्णके अभावका स्वभाव है अर्थात् जीव धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण नही है, अतएव वे इन्द्रियोके द्वारा ग्रहणमे नही आ सकते। इनमे यह योग्यता भी नही है कि इन्द्रियो द्वारा ग्रहणमे आ सकें। अतएव ये पदार्थ अमूर्त कहलाते है। तो इन्द्रिया मूर्त पदार्थोंको ही ग्रहण करती है, किन्तु मनमे ऐसी योग्यता है कि यह मूर्तपदार्थोंको भी जान सके और अमूर्त पदार्थोको भी जान सके, लेकिन जानेगा परोक्षरूपसे ही। जैसे अमूर्तके बारेमे अपनेको जान ही गए है, आकाश है, जीव है, धर्म अधर्म है, आगमसे जाना, अनुमानसे जाना। जिस किसी भी प्रकार जाना, मनसे जाना तो परोक्ष जाना।

नियतविषयता व अनियतविषयता, प्राप्यकारिता व अप्राप्यकारिता—वह मन अनियत विषय वाला है अर्थात् जैसे स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है, छू करके हम रस नही जान सकते है कि इसमे कैसा रस है? छू करके स्पर्श ही जाना जा सकता है। रसना इन्द्रियसे रस ही जाता जा सकता है अन्य बात नही। घ्राणसे गन्ध ही जाना जा सकता है अन्य बात नही। चक्षुइन्द्रियसे रूप ही जाना जा सकता है अन्य बात नही। श्रोत्र इन्द्रियसे शब्द ही जाने जा सकते है। जैसे इन इन्द्रियोका विषय नियत है इसी प्रकार मनका विषय नियत नही है। कुछ भी जान ले, इस कारण मनको अनियत विषय वाला कहा है और यह अप्राप्यकारी है। जैसे स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, कर्णइन्द्रिय ये प्राप्यकारी है इसी प्रकार मन प्राप्यकारी नही है। देखो भिड करके जाननेका नाम प्राप्यकारी है। जब कानमे शब्द भरते है तो शब्द जाने जाते है, जब नासिकामे गध भरती है तो गध जानी जाती है। रसनासे रस जाना जाता, स्पर्शनइन्द्रियसे जब स्पर्श भिड जाता है तब स्पर्श जाना जाता है, यो चार-इन्द्रिया प्राप्यकारी है, आँखे अवश्य अप्राप्यकारी हैं।

ज्ञानकी पद्धतिके ज्ञानके लिये दृष्टिका दृष्टान्त देनेका कारण—दूर रखी हुई चीजको

ये आँखें भिडे विना जानती है और इसी कारण इस आत्माके उस ज्ञाताद्रष्टा स्वभावको बताने के लिए आंखोका अनेक जगह उदाहरण लिया जाता है। जैसे ये आँखें दूर रहने वाली चीजो को बिना भिडे जान जाती है, ऐसा कई जगह दृष्टान्त दिया है। जैसे ये आँखें दूर रखी हुई चीजको नही करती है, नही भोगती है, किन्तु जानती भर है, इसी प्रकार यह ज्ञान दूर रहने वाले पदार्थोको न करता है, न भोगता है, किन्तु जानता मात्र है, यह उदाहरण दिया जाया करता है। जो ये आँखें भी अप्राप्यकारी है, ऐसे ही मन अप्राप्यकारी है। यह मन किसी पर-पदार्थसे भिडकर नही जानता, यही मन उनके बारेमे अपने चिन्तनसे उन्हे जान जाता है। यह मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका साधनभूत है। मनके द्वारा श्रुतज्ञान भी होता है, मतिज्ञान भी होता है। हाँ मन मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको जानता है। इस गाथामे मूर्तिकताका व अमूर्तिकताका स्वरूप बताया है—जिसमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण पाये जायें उसे मूर्त कहते हैं और जिसमे ये न पाये जायें वे अमूर्त है। देखो यह आत्मा भी अमूर्त है, सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है। ऐसा अमूर्त होकर भी यह आत्मा आज कितना भयशील है, बधनमे पडा है? ये सारी स्थितिया इसकी बन रही है, यह सब बडे विपादकी बात है। आत्माके स्वरूपको निरखो तो यह तो विशुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। इसमे कोई भय, शका, खेद, विपदा किसीकी भी गुजाइश नही है, लेकिन हम अपने ऐसे स्वरूपको सम्हाले तब ऐसी वृत्ति बने। हम अनादि मोहसे मलीमस होकर, परपदार्थोंमे ममता बनाकर अपने आपकी निराकुलताको प्राप्त नही कर पाते है, किन्तु जब भी इस जीवका सुधार होगा इस ही उपायसे सुधार होगा। विपयोके सेवनसे, विपयोकी प्रीतिसे सुधार नही हो सकता है। बात कठिन लग रही है, परतु कोई क्षण ऐसा आयगा कि मोहका त्याग, परिग्रहका त्याग यह कुछ कठिन न लगेगा, बल्कि मोह और परिग्रहोकी ओर उपयोग भी न ढूककर देखेगा। हो दृढतासे अपने ज्ञानप्रकाशका अनुभव, अपने आपकी सम्हालसे ही अपना कल्याण है।

हमारा कर्तव्य—भैया! हम अधिकतर अपने इस अमूर्तस्वरूपकी ओर दृष्टि रखें। निजको निज और परको पर जाननेकी जब दृढता नही रहती है तब ही आकुलतावोकी उद्भूति होती है। अनादिसे लेकर अब तक जो आकुलतावोका ताता लगा आया है, इसका कारण यह है कि इन समस्त परपदार्थोंसे भिन्न इस निजस्वरूपकी प्रतीति नही की। जब भी शरण होगा तो हमारे लिए हमारी विशुद्ध प्रवृत्ति ही शरण बनेगी। यहाँ तक ५ द्रव्यकायोका वर्णन किया गया। अब इस अधिकारमे ५ अस्तिकायोसे बचा गया जो एक कालद्रव्य है उस कालद्रव्यका व्याख्यान करते है।

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसभूदो।
दोण्ह एस सहावो कालो खणभगुरो णियदो ॥१००॥

कालद्रव्य—क्रमसे आने वाली जो समय नामकी पर्याय है वह तो व्यवहारकाल है और उस समय नामक पर्यायका आधारभूत द्रव्य निश्चयकाल है। इस कालके सम्बन्धमें सीधा इस प्रकारसे जानो कि इस लोकाकाशमे जितने प्रदेश है उन सब प्रदेशोमे प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है, वह एकप्रदेशी है। उस कालद्रव्यकी परिणति एक-एक समयके रूपमे प्रकट होती है। चूकि समय एक परिणमन है ना, तो कोईसा भी परिणमन किसी द्रव्यके बिना नही होता, किसी न किसी द्रव्यका वह परिणमन कहलाता है। समय नामका यह परिणमन जिस द्रव्यका है, उस द्रव्यका भी नाम समय रख लीजिए या इन्हे काल कह लीजिए। काल नामक द्रव्य समयका आधारभूत है।

समयके अवबोधका साधन—यद्यपि व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है, तो भी यह जान कैसे जाता है कि कुछ समय गुजर गया ? जीव और पुद्गलके परिणमनसे यह जाना जाता है। इस कारण जीव और पुद्गलके परिणमनसे समयकी आविर्भूति कही गई है। जैसे घडीकी सूई कुछ सरक गई, लो एक मिनट हो गया। एक मिनटका जो समय गुजर गया उस समय गुजरनेका ज्ञान हमे सूईसे हुआ। सूर्य एक ओरसे उदित होकर दूसरी ओर अस्तको प्राप्त हो गया, इससे हमे ज्ञान हुआ कि एक दिन बीत गया। इस समयको ये पुद्गलके परिणमन किया नही करते, केवल ये जता देने वाले है। इस समयका जो अविभागी अश है अर्थात् एक-एक समय है उस समयकी उत्पत्ति काल नामक निश्चय द्रव्यके परिणमनसे हुई है। जीव और पुद्गलका परिणमन तो बहिरग निमित्तभूत द्रव्य कालके होनेपर हुआ है, इसीलिए जीव पुद्गलका परिणाम द्रव्यकालके निमित्तसे हुआ है, यो कहा जाता है।

कालके अवगम व उत्पादका प्रसंग—देखिये परस्परका सम्बन्ध—घड़ीकी सूई जो थोड़ी सरकी है उसमे जो परिणमन हुआ है वह निश्चयकालके समय नामक परिणमनका निमित्त पाकर इस सूईमे क्रिया हुई है और इस सूईकी क्रियाको जानकर उसके निमित्तसे हमे समयका बोध हुआ है कि इतना समय हुआ है। एक घटेमे जितने समय होते है उन समयों के निमित्तसे सूई सरकी और सूई सरकनेके निमित्तसे हमे समयका ज्ञान हुआ। तात्पर्य यह है कि व्यवहारकाल जीव और पुद्गलके परिणमनसे ज्ञानमे आता है, परन्तु पुद्गलका परिणाम निश्चयकालकी परिणतिके निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। इस युक्तिसे ज्ञानमें आया व्यवहार काल तो क्षणिक है अर्थात् समय मिनट घटा ये तो विनश्वर है, नष्ट होते रहते है, उनमे जो सूक्ष्म पर्याय है समय नामकी वह तो उतनी ही मात्र है वह भी नश्वर है, पर निश्चयकाल नित्य है। निश्चयकाल अपने गुण और पर्यायोका आधारभूत है, इसलिए सदाकाल अविनश्वर है।

कालमें द्रव्यत्व व अकायत्व—इन ५ अस्तिकायोमें कालको नही बताया है। काल-

द्रव्य एकप्रदेशी है, इसलिए अस्तिकाय नही है। अस्तिकाय उसे कहते है जिसमे बहुत प्रदेश हो। जैसे ये दिखने वाले स्कध अस्तिकाय है—जैसे जीव, धर्म आदिक द्रव्य ये प्रदेशके सचय रूप है, परन्तु कालद्रव्य एक ही प्रदेशी है। लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है और वह रत्नोकी राशिकी तरह है। जैसे रत्नोका ढेर इकट्ठा पडा है तो एक रत्नमे दूसरे रत्नका प्रवेश नही है, अवगाह नही है। इसी प्रकार यह कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर बहुत घने चिपके पडे हुए हैं, फिर भी किसी कालद्रव्यमे किसी दूसरे कालद्रव्यका प्रवेश नही है। निश्चयकाल है अविनाशी और व्यवहारकाल है क्षणिक। अब कौन नित्य है, कौन क्षणिक है ? इस प्रकारके विभागको बतानेके लिए आगेकी गाथा आ रही है।

कालोत्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धसी अवरो दीहतरट्ठाई ॥१०१॥

कालद्रव्यका प्रतिपादन—कालद्रव्यका यह वर्णन बहुत कुछ कठिनसा लग रहा है। इसमे कुछ प्रत्यक्षभूत पदार्थकी तरह समझ नही बन पाती, अतएव यह विषय कुछ कठिन प्रतीत होता है। किन्तु सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे जो कुछ जाना गया और उसका प्रतिपादन दिव्यध्वनिके रूपमे हुआ। उसकी परम्परासे जो ज्ञान चला आया है, जो पदार्थ है उस सद्भूत पदार्थका वर्णन तो नही छोडा जाता। तब सब कुछ बताया जा रहा है कि इस लोकमे यह है, यह भी है, तो कालद्रव्य भी तो है, उस कालद्रव्यका वर्णन कैसे छोडा जाय ? उस ही कालको बता रहे है कि यह कालद्रव्य किस प्रकारसे है, और किस प्रकारसे परिणत होता है।

निश्चयकाल—अर्थपरिणमनमे कारण जो हो कोई द्रव्यविशेष हो वह काल है वह काल है, इस तरह सदा व्यपदेशको प्राप्त होता है, वह अपने सद्भावको प्रकट करता हुआ नित्य है, जिसके बारेमे हम आप रहा करते हैं कि यह समय है यह भी समय है, यह काल है। अनेक कालद्रव्य होकर भी, अनेक समयपरिणमन होकर भी उनमे जो यह काल है ऐसी एकताको लिए हुए जो व्यपदेश होता है वह व्यपदेश निज कालके सद्भावका व्यपदेश है और प्रकट करता है कि यह नित्य है, और जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाया करता है उसका नाम है समय नामकी पर्याय। जो नष्ट होता हुआ चित्तमे समझमे बैठता है वह तो है पर्याय समय और जिसकी प्रति समय सत्ता रहती है वह है निश्चयकाल।

व्यवहारकाल—वह व्यवहारकाल यद्यपि क्षणभगी है, फिर भी अपनी सतान बराबर बनाये है। यह समयोंके सतानकी वजहसे तो मिनट घटा वगैरा बने हुए है। तो समय यद्यपि क्षण-क्षणमे नष्ट होता जा रहा है, फिर भी इसकी सतान परम्परा बिना विच्छेद हुए बराबर बनती चली आ रही है, और फिर नय बलसे व्यवहारनयसे हम उस समयसे दीर्घकाल तक

ठहरे हुए कहने लगते हैं। जैसे यह एक घटेका समय है तो उस एक घटेके समयमे सूक्ष्म व्यवहारदृष्टिसे तो एक-एक समय नामकी पर्याय है, लेकिन स्थूल रूपसे हम एक घटेको ग्रहण मे ले लेते है। यह इतना लम्बा समय है और फिर इस ही समयका समय सतानसे बढ़ा-बढाकर अपनी बुद्धिमे आवलीसे लेकर सागरो पर्यन्त तकका व्यवहार बना लेते है। सेकेन्ड, मिनट, पहर, दिन, रात, महीना, वर्ष, युग, पूर्वागपूर्व चलते जाइए, फिर पल्य, फिर उपमासे बातें चलने लगती है। सागर उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कल्पकाल इस प्रकार बहुत लम्बे समयको हम अपनी बुद्धिमे ले लिया करते है।

निश्चयकाल व व्यवहारकालका लक्षण—यहाँ यह बात बतायी है कि निश्चयकाल तो नित्य है, क्योकि वह द्रव्यरूप है और व्यवहारकाल क्षणिक है, क्योकि वह पर्यायरूप है। जो अनादि अनन्त है, समयादिक कल्पनावोके भेदसे रहित है, परमाणुके द्रव्यरूपसे व्यवस्थित है, जिसमे स्पर्श, रस, गध, वर्ण नही है, ऐसा अमूर्तिक समय आदिक पर्यायोका आधारभूत निश्चयकाल है, और उस कालद्रव्यकी पर्यायें जिसकी आदि है, जिसका अन्त है ऐसे समय घडी दिन विवक्षित कल्पनावोके भावरूप व्यवहारकाल होता है। इस प्रकार कालद्रव्यका कुछ वर्णन किया है। अब इस कालद्रव्यके सम्बधमे यह बात बता रहे हैं कि इसमे द्रव्यास्तिकाय-पना नही होता है। इस गाथाके साथ यह अन्तराधिकार पूर्ण होगा और उसके बाद शिक्षा रूपमे दो गाथाएँ आयेंगी।

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णा कालस्स दु णत्थि कायत्त ॥१०२॥

कालद्रव्यकी अकायताका कारण—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये द्रव्य-पनेका लक्षण पाये जानेसे द्रव्य कहलाते हैं। इस प्रकार काल भी द्रव्य है, किन्तु उसके काय-पना नही है। द्रव्य उसे कहते है जो अपनी पर्यायोको प्राप्त करे, प्राप्त करता रहे, जिसमे पर्यायें बनी रहे उसे द्रव्य कहते है। सो कालद्रव्यमे भी समय नामकी पर्याय बनती रहती है। जब हम पूछे कि द्रव्य कितना होता है? तो उत्तर आयगा कि द्रव्य ६ होते है। काल भी द्रव्य है, किन्तु जैसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाशमे अनेक प्रदेश हैं और इस कारण वे अस्तिकाय कहलाते है, वे पिण्डरूप है, बहुप्रदेशी है, इस प्रकारसे कालाणु बहुप्रदेशी नही है, यद्यपि इसकी गणना असख्यात है। लोकाकाशमे जितने प्रदेश है उतने ही ये कालाणु है, लेकिन हैं अपने एक प्रदेशमें, अपने स्वरूपको पूर्ण करने वाले, इस कारण कालद्रव्यको अस्ति-काय नही कह सकते है। यही कारण है कि पञ्चास्तिकायके प्रकरणमे इस कालद्रव्यका मुख्य रूपसे वर्णन नहीं किया गया।

पञ्च अस्तिकायोंके वर्णनके प्रसंगमे कालकी वर्णनीयताका हेतु—इस ग्रन्थमे मुख्य

रूपसे जीव और पुद्गलका परिणाम बताया और उस परिणमनसे काल नामक पदार्थ ज्ञानमे आया करता है। इस कारणसे जीव पुद्गलपरिणामसे जाना गया यह कालद्रव्य, द्रव्यरूपसे सिद्ध किया है और इस पचास्तिकायके मध्यमे इमे द्रव्यरूपसे अन्तर्भूत कर दिया है। अर्थात् इस ग्रन्थका नाम पचास्तिकाय है, इसमे ५ अस्तिकायोका वर्णन किया गया है, लेकिन साथ ही यह जतानेके लिए कि समस्त पदार्थोंका परिणमन कालद्रव्यके परिणमनके निमित्तसे होता है। यह कालद्रव्य भी पंचास्तिकायके वर्णनके बीच आया है। इस प्रकार द्रव्यरूपसे, सख्या-रूपसे द्रव्य ६ होते है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो स्वरूप अपनी सब जातिमे रहे और उसे छोडकर अन्यमे न रहे यही जातिका लक्षण है। इस जातिकी दृष्टि से ये ६ द्रव्य है। जीवमे सब जीव आ गए, पुद्गलमे सब पुद्गल आ गए, कालमे सब काल आ गए। धर्म, अधर्म, आकाश ये तो सब एक एक ही है। इस प्रकार षट्द्रव्योंके समूहरूप इस लोकका वर्णन किया गया है।

एव पवयणसार पचत्थियसगह वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्ख ॥१०३॥

शास्त्रपरिज्ञानका लाभ—पच अस्तिकायोका वर्णन करनेके बाद आचार्यदेव यह बतला रहे है कि जिसमे ५ अस्तिकायोका सग्रह है ऐसे प्रवचनोंके इस सारभूत निबधको जान करके जो पुरुप राग और द्वेषको दूर कर सकता है वह दु खसे छुटकारा पा लेता है। पाँच अस्तिकायोके अलावा और कुछ भी प्रतिपादित न होकर शास्त्रोमे षट्द्रव्योसे अतिरिक्त और किसका वर्णन मिलेगा? कुछ अन्य है ही नही। तो यह पचास्तिकायका जो सग्रह है यह भी प्रवचनोका सार है। प्रवचन काम आगमका भी है, परमागमका सारभूत यह कथन है। जो पुरुप इस ग्रन्थको लिखे हुए शब्दोके अर्थको अर्थीरूपसे जानकर अपने आपमे घटित करता हुआ इस उपदेशमे जो अभीष्ट प्रयोजन है उसको चाहता हुआ समझकर जो अपने स्वभावका निश्चय करेगा वह पुरुप दुःखोसे छुटकारा पा लेता है।

ससारके दु ख और उनके शमनका अधिकार—ससारमे दु ख इस प्रकार है जैसे अग्निसे उबलता हुआ जल हो। जैसे अग्निसे उबलता हुआ जल खलबलाया करता है, वह अपनेमे स्थित रह नही पाता है और ऐसा भी नही है कि अपनेसे अलग कही बाहरमे जल स्थित हो जाता हो। न अपने मे स्थित है, न बाहर स्थित है, किन्तु दुःस्थ है, अपने ही अगल बगल खलबलाता रहता है। ऐसे ही इस ससारके दु.ख जब इस जीवपर आते है तो इस जीवका यह परिणमन न अपनेमे स्थित है, न किसी बाहरमे चला गया, किन्तु अपने आपके प्रदेशोमे खलबल करता हुआ यह बना रहता है। ऐसे दु.खसे भी छुटकारा वह पुरुष पा लेता है जो निजस्वभावको भली प्रकार जानकर उस अपने स्वभावको ग्रहण करता है।

संतापशमनका उपाय—देखिये अग्निसे खूब आक्वक्यमान (जलते हुए) उस जलको शीतल करनेका हम आप क्या उपाय करते है कि जो आग लगी है उसे अलग करदें और नई आग उसमें न डाले तो वह अत्यन्त उबलता हुआ पानी शीतल हो जाता है। ऐसे ही इस ससार अवस्थामें हम दुःखसे उबल रहे है। इस दुःखको शमन करना है तो यही उपाय करना होता है कि पहिलेके बंध तो अलग करदें और नवीन बध इसमे डालें नही तो यह दु ख शान्त हो जायगा। जितने भी बन्धन हैं वे स्नेहसे है। किसी भी परद्रव्यसे स्नेह न हो तो वहाँ कोई बन्धन ही अनुभवमे नही आता। गाय बछियासे बँधी है, बछिया गायसे बँधी है, गायसे मालिक बँधा, है यह परस्परका बन्धन स्नेहसे है। यह तो एक जो प्रकट व्यवहारमे समझमे आ रहा है, उसकी बात है। यह जीवास्तिकायमे जो स्नेहभाव उत्पन्न होता है उसका निमित्त पाकर नवीन कर्म बन्धनको प्राप्त होते है। यह सर्व स्नेहका बन्धन है। यदि पूर्ण बन्धको दूर करना है, भावी बधको आने नही देना है तो यह कर्तव्य होगा कि अपने को स्नेहरहित बनावें।

संतापशमन—जैसे जघन्य स्निग्ध गुणके अभिमुख जो परमाणु है उस परमाणुका बन्धन नही होता, ऐसे ही स्नेह जीर्ण शीर्ण हो जाय तो उस जीवका भी बन्धन न होगा। यह बन्धन कैसे दूर हो, उसका उपाय यही है कि रागद्वेषकी परिणतिका विनाश किया जाय। यह रागद्वेष परिणति कर्मबधकी सततिको बढाने वाली है। जो पुरुष इस रागद्वेष परिणतिको शिथिल करता है उसका वह स्नेह जिसे चिकनाई कहो, लेश्या कहो, जीर्ण शीर्ण हो जाती है, और यह चिकनाई जब दूर हो गई तो जैसे जघन्यगुणकी चिकनाई वाले परमाणुका बध नही होता ऐसे ही इस जीर्ण स्नेह वाले आत्माका बन्धन न होगा। जब बन्धन न होगा अर्थात् पूर्वबध तो मिट जाय और भावी बध न आये तो इसका दु ख छूट जायगा। जैसे कि नई आग न लगाये, पुरानी आग दूर करदे तो वह खलबलाहट वह सतप्तता दूर हो जाती है।

हितप्रयोगकी आवश्यकता—हाँ लो देखो भैया! सबसे बडा कठिन काम तो यही है ना कि रागद्वेषकी वृत्तिको दूर करदें। उसका उपाय क्या है? दो पहलवान थे, एक था तगडा और एक था अत्यन्त कमजोर। और वह हँसी मजाक करने वाला था। किसी प्रसगमे तगडे पहलवानने कहा कि हमसे कोई भी लड सकता है। तो वह कमजोर पहलवान बोला कि हम तुमसे लडेंगे, तुम्हें तो हम खडे होते ही होते पछार देंगे, मगर शर्त एक यह है कि जब तुम हमारे पास आना तो गिर जाना। अरे फिर पछारना ही क्या है? यही तो एक कठिन काम है। यह काम कैसे बने? उसका उपाय क्या है? उसका उपाय यह है कि तत्काल जो कुछ भी गुजर रहा हो उस प्रसगमे अपनी विवेक ज्योतिको जगा ले, विकसित कर लें। अर्थात् अपने वर्तमानकालमे जो विभावपरिणमन होते हैं उन विभावपरिणमनोसे

भिन्न अनादिनिधन शुद्धज्ञायक स्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूं—इस प्रकार इन विभावपरिणमनो से अपने आत्माको जुदा प्रतीतिमे ले लें, यही है रागद्वेष परिणतिके मिटानेका उपाय। यह बात केवल बातमे रहे तो रागद्वेप परिणति नही मिटती। यह मर्म प्रयोगरूपमे आये तो राग द्वेपकी परिणति मिटती है। यह काम प्रयोगसाध्य हुआ करता है।

दृष्टान्तपूर्वक हितप्रयोगकी आवश्यकताका समर्थन—बच्चोको तैरनेकी कला पुस्तको से सिखा देनेके बाद भी उन्हे नदीमे कूदनेको कह दिया जाय तो कूदकर वे तैर नही सकते। भले ही उन्होने वचनोसे तैरना खूब सीखा है किन्तु तैरना तो प्रयोगसाध्य बात है। इस ही प्रकार अपने आपके सम्वन्धमे जो भी उपदेश मिले है उन्हे केवल बातो तक ही रक्खें तो वह अनुभूति नही जगती। अनुभूति तो प्रयोगसाध्य बात है। ज्ञान और ज्ञानकी दृढता, ज्ञानकी स्थिरता यही तो एक प्रयोग है। जो पुरुष सर्वप्रयत्नोसे अपने शुद्ध अतस्तत्त्वको दृष्टिमे रखते है वे पुरुष रागद्वेषकी परिणतिका विनाश करते है।

कष्टमे साहस—और भी देखो, जिसे अपनेपर बुखार गुजर जाय तो उस छाये हुए बुखारमे यह रोगी अपनेमे कैसी हिम्मत वनाता है? दूसरे लोग देखकर घबडा जायें, बडा कठिन बुखार है, पर जिसपर गुजरती है वह अपना अतःसाहस बनाये है सहनेका, क्योकि खुदपर गुजर रही है ना। केवल मालूम कर ले यह कि मुझको अब बडा तीव्र बुखार होगा और अब यह टाइफाइड बन जायगा तो उसको कितनी घबडाहट होती है और जब रोग आ जाय तो उसको सहनेकी शक्ति उसमे आ जाती है। जो भी कष्ट आयें उसे बराबर सहे, लघन किये पडा रहे, ये सब बातें उसके लिए आसन हो जाती है। हमपर आ रहे है ये रागद्वेष विभावपरिणमन, अनुभूत हो रहे है, पर उनको ही तो देख-देखकर हमे उनसे न्यारा होकर अपने आत्मतत्त्वके देखनेका साहस बनाना है, न कि उन विभावपरिणमनोसे पोडित होकर कायर बने रहना है। यह बात तो अब तक बनी ही रही तभी तो अनादिसे अब तक यह ससार चला आ रहा है।

भेदविज्ञानका प्रयोग—ये विकार जो मुझमे अनुभूयमान हो रहे है ये कर्मबन्धोकी सततिसे हुए है। ये नये-नये आते है। जैसे बीजारोपण होना है। नये-नये वृक्ष लगाये जा रहे है, ऐसे ही नये-नये विकार वृक्ष इसमे लगाये जा रहे हैं। यह कर्मबन्ध सतति अनादिकालके रागद्वेप परिणामोंके कारण हुई है। और इस विभावमे, कर्मबन्धनमे यह अनादि सतति, परस्परका निमित्तनैमित्तिक भाव, कार्यकारणभाव यह चल रहा है। उससे जो यहाँ यह विकारारोपण हुआ है इन विकारोको ही दृष्टिमे रखकर ये मै नही हू, मैं इनसे भिन्न शाश्वत चित्स्वरूप पदार्थ हू, इस प्रकार अपनेको इस वर्तमान कालमे अनुभूयमान विभावोसे न्यारा जो अपनेको निरखेगा वही इन रागद्वेपोका विनाश कर सकेगा।

कल्याणमय पुरुषार्थ—सब पुरुषार्थोंमे एक निचोडरूप सार पुरुपार्थ यह है कि वर्तमान विभावपरिणामोसे न्यारे अपने आपके उस चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति बनाये रहना। इस पुरुपार्थमे सब तत्त्व आ जाते है। सब तत्त्वोंका जो प्रयोजन है वह प्रयोजन आ जाता है। प्रतिक्रमण और प्रायश्चित इस ही एक वर्तमानके उपायसे गर्भित है। जब वर्तमानमे आये हुए विकारोसे भिन्न अपने धाममे हम पहुचते है उपयोग द्वारा तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि पूर्व कालमे जो कर्मबन्धन किया था वह कर्मबन्धन अब निष्फल हो रहा है। इसका अर्थ यही हुआ ना कि भावीकालमे हम पीडित हो सकते थे, ऐसा कर्मबन्ध होनेका था वह अब नही हो रहा है। एक मात्र पुरुपार्थ शान्तिके लिए हम आपको यह करना है।

स्वरूपनिर्णयमे उत्थान—उत्थानकी बातें तभी बनती है जब हम अपनेको ऐसा निश्चव कर ले कि हम स्वरूपसे अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी सत् है। केवल एक चेतनाका ही कार्य करने वाला यह मैं एक आत्मा परमात्मतत्त्व हू, ऐसा अपने स्वभावमे निश्चय हो तो ये सब बातें फिर बनने लगती है और इस विधिसे यह जीव दुःखोसे छूट जाता है। मै चैतन्यस्वभावी हू, यह निश्चय भी कही अन्यत्र नही करना है, अपने आपमे निश्चय करना है और वह अपने आपमे इस निज जीवास्तिकायके अन्तर्गत है। देखिये निजकी बात भेदरूपसे कही जा रही है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेदकी दृष्टिसे यह मै भी अपने उपयोगमें विभिन्न जचने लगता हू और तब फिर यह षट्कारक प्रक्रिया चलने लगती है।

पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य व तत्त्वके विश्लेषणमे दृष्टान्त—सिद्धान्त ग्रथोमे अपने आत्मा के सम्बधमे दो चार जगह बताया है जीवद्रव्य, जीवास्तिकाय जीव पदार्थ और जीवतत्त्व। जोव है ये चारो, फिर इनके साथ पदार्थ द्रव्य तत्त्व अस्तिकाय ये जुदे-जुदे बोलनेकी क्या जरूरत है? बात यह है कि हम किसी भी पदार्थको निरखते है तो चार दृष्टियोसे निरखा करते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। यह चौकी है तो जब इस पिण्डदृष्टिसे निहारते है तो यह चौकी पिण्डात्मक नजर आयी। जब क्षेत्रदृष्टिसे निहारते है तो यह चौकी इतनी लम्बी चौडी ऊँची इस आकार नजर आयी। जब हम इस चौकीकी परिणति कालकी दृष्टिसे निहारते है तो यह पुरानी है, कमजोर है, पुष्ट है—ये सब बाते नजर आती है और जब इस चौकीकी भावकी दृष्टि से देखते हैं तो ये स्पर्श, रस, गध, वर्ण, आदिक रूपसें दिखती है।

जीवमें पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य व तत्त्वका विश्लेषण—ऐसे ही जब हम इस जीवको पिण्डदृष्टिसे देखते है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखते है अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखते है तो यह गुणपर्ययवान जीव पदार्थ नजर आता है। जब हम अपने आपको क्षेत्रकी भूमिकासे देखते है तो यह असख्यातप्रदेशी अस्तिकाय है, यो जीवास्तिकायके रूपसे दृष्टिमे आता है। इसको ही जब हम कालदृष्टिसे निरखते है तो इसने अनेक पर्यायें पायी दिखी, यो हम इसे जीवद्रव्यके रूपमे निर-

खते है और जब भावदृष्टिकी प्रधानतासे निरखते हैं तो यह तो एक चैतन्यस्वरूप जो भी इसका स्वभाव है उस स्वभावको लक्ष्यमे लेकर हम इसे जीवतत्त्वके रूपमे निरखते है तो यह मै चैतन्यस्वभावी आत्मा हू, सो यह मै स्वय ऐसा हू और यह मैं जीवास्तिकायके अन्तर्गत हू अर्थात् अपने प्रदेशोमे ही बसने वाला हू। ऐसे इस स्वभावको जो पुरुष जानता है वह ससारके इन समस्त दु खोको दूर कर देता है। पञ्चास्तिकायके प्रथम अधिकारमे इसकी समाप्तिसूचक ये दो गाथायें चल रही है। अब दुःखका छूटना किस क्रमसे होता है, इसका वर्णन इस दूसरी गाथामे कर रहे हैं।

मुणि ऊण एतदट्ठं तदणुग्गमणुज्भदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ॥१०४॥

शास्त्राध्ययनका फल—जो जीव विशिष्ट स्वसम्वेदन ज्ञानके द्वारा इस नित्य आनन्दस्वभावी शुद्ध जीवास्तिकाय नामक पदार्थको जानता है, मानता है और उसका ही अनुलक्षण करके अनुकरण करके उसका आश्रय करता है, उस रूपसे परिणमनमे उद्यमी बनता है वह पुरुष मोहको दूर करके रागद्वेषको प्रशान्त करके ससारसे निवृत्त हो जाता है। इसमे ज्ञान श्रद्धान और चारित्रकी शिक्षा दी गई है। यद्यपि ज्ञान, सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्वका साथ पानेपर होता है यो साथ हुए तो भी वहाँ भी जो सम्यग्दर्शनके पूर्व ज्ञान होता है उस ज्ञानकी भी बडी महिमा है। ज्ञान द्वारा जो अपने आपका निर्णय करता है तो जब वह निर्णय प्रथम बार अनुभवके रूपमे उतर आता है—ओह बिल्कुल सही है, यही तो है तब वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है और फिर इस अनुभूतिके बाद इस प्रकारका आत्मोपयोग न भी हो तो भी वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस शास्त्रका प्रयोजनभूत, अर्थभूत तो यह शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा है। इस अपने आपको जो कोई भी जीव जानता है और फिर उस ही अर्थको उसही स्वभावसे अनुगमन करनेके लिए उद्यमी होता है उसके दर्शनमोहनीयका विनाश हो जाता है।

सम्यग्ज्ञानमे व्यक्त परिचय—हमारे उन्नयनका बाधक है मोहभाव और मोहभावमे प्रबल है दृष्टिमोह। अर्थात् जो सम्यग्दर्शनका लोप करे ऐसा मिथ्या अभिनिवेश यही है प्रबल बन्धक। तो अपने आपके अनुगमनमे उद्यमी पुरुषके दृष्टिमोहका विनाश होता है उससे होता हैं स्वरूपका परिचय और अब जिसके बारेमे पहिले तो वह अव्यक्तरूपसे आत्माको कह रहा था, अब इस ही आत्माको यह स्वसवेदन प्रत्यक्षीभूत ढगसे अपने आत्माको जानने लगा, कहने लगा। स्वरूपपरिचय हो गया ना, जिससे अधिक परिचय होता है। लोग उसमे यह-यह ज्यादा बोला करते है और जिससे उपेक्षा होती है, साधारण परिचय होता है उसके सम्बन्धसे वह वह की आवाज ज्यादा हुआ करती है। अब यहाँ हुआ है ज्ञानीको स्वरूपपरिचय। उस

स्वरूपपरिचयसे अब ज्ञानज्योति प्रकाशमान हो जाती है, प्रकट हो जाती है तब इसका राग और द्वेष शान्त होने लगता है । मोह मिटा कि रागद्वेष स्वयं शान्त हो जाते हैं ।

मोहक्षयसे रागद्वेषका विनाश—वृक्षकी जड कटी तो यह गिरा हुआ वृक्ष जैसे सूखने के उन्मुख रहता है और कुछ दिनोमे वह पेड सूख जाता है । ऐसे ही मोहके दूर होते ही, अज्ञानके दूर होते ही ये रागद्वेष सूखने लगते है । जहाँ रागद्वेष शान्त हुए वहाँ भावी बध और पूर्वबन्ध नष्ट हो जाता है । अब पुनः बधके कारण रहे नही, राग द्वेष रहे नही तो यह जीव अपने स्वरूपमे स्थित होकर नित्य प्रतापशील रहता है । अनन्तज्ञान अनन्तदर्शनके विकाससे सर्वका ज्ञाताद्रष्टा रहे और अपने अनन्त आनन्द अनन्त शक्तिमय होनेसे सदा निराकुल रहे, ऐसा अनन्त प्रताप अपने आपके चैतन्यस्वभावमे शुद्धविधिसे उपयोगमे परिणत होनेका प्रताप इस जीवके अनन्तकाल तक रहता है ।

अधिकारसमाप्तिपर उपसंहार—यो जो कुछ ज्ञान पाया, जहाँ तक पाया हम आपने उस सिलसिलेमे इस शास्त्रका कितना उपयोग हो रहा है, जिस उपयोगपथसे चलकर हम मुक्ति जैसी स्थितिके निकट हो जायें, यो निहारिये और स्ववृत्तिमे उद्यत होइये । इस प्रकार इस अधिकारमे कल्याणकी प्राप्तिका उपायभूत यह पचास्तिकायोका प्रतिपादन किया है ।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ॥

पञ्चास्तिकाय प्रवचन पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

अभिवदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीर ।
तेसि पयत्थभग मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि ॥१०५॥

नव पदार्थोंके वर्णनका संकल्प—अपुनर्भवके कारणभूत श्री महावीर भगवानको अभिनन्दन करके अब पूर्ववर्णित ५ अस्तिकायोके पदार्थोंका भग अर्थात् ९ पदार्थोंके रूपसे विस्तार और मोक्षके मार्गको कहूगा । प्रथम अधिकारमे षड्द्रव्य और ५ अस्तिकायोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया था और उस प्रतिपादनके माध्यमसे विवेकी ज्ञानी सतपुरुषोको शुद्ध तत्त्वकी बात कही थी । अब इस ही शुद्ध आत्मतत्त्वका कैसे अवतार हो, कैसे इसकी उपलब्धि हो, इसका मार्ग कहा जायगा । और वह मोक्षका मार्ग ९ पदार्थोंके विवरणके रूपसे कहा जायगा । इस गाथामे आप्त भगवान श्री महावीर स्वामीका स्तवनपूर्वक इस ही बातकी प्रतिज्ञा की गई है ।

अपुनर्भवके कारण श्री महावीर भगवान—भगवान महावीर स्वामी अपुनर्भवके कारणभूत है । अर्थात् इस समय जो यह महाधर्मतीर्थ प्रवर्तमान हो रहा है उसका मूलकर्ता भगवान महादेवाधिदेव श्री वर्द्धमान स्वामी है । इन प्रभुकी भावस्तुति इसमे की गई है । अपुनर्भव नाम है फिरसे ससारमे न आना । अ मायने नही, पुनर् मायने फिरसे, भव मायने ससार । अब फिरसे ससारमे नही आना है ऐसी स्थितिका नाम है अपुनर्भव । ये प्रभु इस अपुनर्भवके स्वय कारण है और भव्य जीवोको अपुनर्भव मिले, ससारसकटोसे मुक्ति मिले, इसका भी यह निमित्त कारण है, क्योकि महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे और द्वादशागकी रचना होनेकी परम्परामे यह आज जो कुछ भी द्रव्यकी चर्चा, वस्तुका स्वरूप मिल रहा है उस ही परम्पराकी देन है । ऐसे अपुनर्भवके कारणभूत भगवान महावीर स्वामीको सिरसे अभिवादन करते है ।

सकटमोचन उपायकी आवश्यकता—भैया ! सदाके लिए शकाये दूर हो जाये, सदा के लिए सकट समाप्त हो जाये, ऐसा उपाय करना अच्छी बात है या नही ? उत्तर तो यही

सब कोई देंगे कि यह तो बडी अच्छी बात है कि ससारके सकट सदाके लिए समाप्त हो जायें। पर ससारके सकट सदाको समाप्त हो जायें इसका उपाय जो सुगम और स्वाधीन है, केवल अपने ज्ञान और अपनी वृत्तिके ही आधीन है, जिस उपायमे पराधीनता रच भी नही है, केवल एक आध्यात्मिक साहसकी आवश्यकता है, वह उपाय इस मोही जगतमे कितना कठिन लग रहा है ? यह जीव केवल मानने माननेका ही तो विकल्प कर रहा है कि और कुछ भी बाह्य पदार्थोंमे कर पाता है, इसकी मान्यताका निमित्त पाकर आत्मामे योग होता है और उसका निमित्त पाकर उसके अनुरूप बाह्यमे भी प्रवर्तन होता है। यो बात चल उठी समस्त ससारके कार्योंकी, लेकिन इस जीवने अपना मूलमे क्या किया है ? केवल एक मान्यता। तो यह मानो जब बाह्य पदार्थोंकी अपनायत करती हुई पद्धतिसे मान्यता होती है तब इस जीवको क्लेश और बन्धन होता है, और जब बाह्यपदार्थोंको अपनानेकी पद्धति नही होती है, किन्तु निजको निज माननेकी पद्धति बनती है तब इस जीवको ज्ञानानुभूति होती है और सदाके लिए सकट छूट जायें—इसका उपाय बनता है।

यथार्थ विश्राम—जैसे दिनभर बहुत काम करनेके बाद थकान हो जाती है और उस थकानको दूर करनेके लिए रात्रिको निद्रा लेनेकी जरूरत होती है, विश्राम लेनेकी आवश्यकता होती है, उस विश्रामके बाद प्रातःकाल फिर श्रम करनेकी क्षमता होती है। तो थकान दूर करनेके लिए जैसे यहाँ विश्रामकी आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनकी दौड जो रात-दिन लगा करती है उस मनकी दौडसे जो एक अद्भुत थकान इस जीवमे उत्पन्न होती है, जिस थकानके कारण यह जीव बेकार हो गया है, और बाह्य पदार्थोंका ही भरोसा रखकर यह आकुलित हो रहा है, ऐसी इस मनके विकल्पोकी थकान दूर करनेके लिए इस शुद्ध सहज चैतन्यस्वभावमे दृष्टि करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, और यह निज अध्यात्मदृष्टि निजके ही तो आधीन है और निजमे ही करना है। कोई लोग इस शरीरको जबरदस्ती पकडें, कैदमे डाल दे अथवा अन्य उपद्रव करें, तिसपर भी यह जीव यदि अपने अमूर्त जीवास्तिकायमे जब यह सुगम शान्तिका काम करना चाहता है तो वहाँ भी यह निर्बाध रहकर शान्तिका कार्य कर सकता है, इसके लिए ज्ञानकी दृढ़ता आवश्यक है।

ज्ञानकी निर्देशकता—भैया ! सारा खेल दुनियामे ज्ञानका ही तो है। कौन पुरुष किस प्रकारका ज्ञान रखता है, तब उसकी क्या चेष्टा होती है, यो ही निरखते जाइये। सारा काम, सारी व्यवस्था, सारा प्रबन्ध सब कुछ इस ज्ञानकी जडसे चला करता है तो जब हम एक जानने और माननेके सिवाय कुछ कर ही नही पाते हैं तो इन २४ घटोमे एक-आध मिनट हम अपने आपको सही रूपमे जानने माननेका यत्न तो करें। यदि हम अपनेको सही रूपमे जाननेकी दिशामे बढ़ें तो हमे यह विदित होगा ही नही कि मै अमुक नाम वाला हू, अमुक

जाति कुलका हू अथवा ऐसे देहका धारी हू, और न मै अनेक विभागोके उपद्रवका स्वभाव वाला हू। मैं तो समस्त पर और परभावोसे रहित,केवल एक चैतन्यस्वभाव मात्र हू, ऐसी दृष्टि बने तो यही है वह परमविश्राम, जिस विश्रामके बाद ये मनकी थकानें भ्रम कष्ट सब दूर हो जाते है, इस ही उपायको करके भगवान महावीर स्वामीने अर्हंत्यपद प्राप्त किया।

प्रभु महावीरकी सर्वप्रियता—प्रभु महावीर प्रचलित रीतिके अनुसार आजसे ढाई हजार वर्ष करीब पहिले हो चुके है। वे त्रसलादेवीके कुक्षिसे सिद्धार्थ राजाके गृहमे उत्पन्न हुए। इनके बालपनसे ही ज्ञान और वैराग्य की वृद्धिके कारण शुद्ध भावना रही और ब्रह्मचारी रहे। भला जो सारे विश्वको मोक्षमार्गका प्रतिपादन करने वाला होगा ऐसे तीर्थंकरका जब तक गृहमे निवास रहता है तब तक मनुष्य लोकका, देवलोकका उनके प्रति कैसा आकर्पण रहता होगा ? यहाँ कोई एक भी धनिक पुरुप या अधिकारी पुरुष या कुछ पहिले समय मे जैसे जमीदार लोग हुए थे, उनकी ही ठाठ बाी हुई थी, लोगोका आकर्षण रहता था। कोई ज्ञानी पुरुप हो, नेता हो उसके ही प्रति देख लो लोगोका कितना आकर्षण रहता है, पर जो तीन लोकका नेता है ऊर्द्ध, मध्य, पाताल लोकके इन्द्र जिनकी सेवासे अपना भाग्य सफल मानते थे उन तीर्थंकर प्रभुकी कितनी सेवा गृहस्थावस्थामे होती होगी, लोगोका कितना प्यार उनको मिलता होगा, लेकिन जिनके अतः ज्ञानप्रकाश हो जाता है उन्हे ये बाह्य प्रलोभन, ये बाह्य समागम प्रसन्न नही कर पाते हैं। वे विरक्त हुए।

प्रभु महावीरभगवानकी विरागता—विरक्त होनेके बाद प्रभु महावीर भगवानने पूर्ण मौन व्रत धारण किया। जो बडे पुरुप होते है तीर्थंकर पुरुप वे दीक्षा लेनेके बाद केवलज्ञान होनेसे पहिले बोला ही नही करते और केवलज्ञानके बाद भी वे ऐसे मुख जिह्वा वचनोंसे नही बोलते, किन्तु उनकी एक विशिष्ट दिव्यध्वनि देहसे निकलती है। जब तक थोडा जान रहे थे, केवलज्ञान नही हुआ था तब तक यह भाव बना हुआ था कि इस थोडी सी जानकारीकी स्थितिमे हम लोगोसे कुछ नही बोलना चाहते। हाँ पूर्ण आधिपत्य हो, समग्र वस्तुवोंके ज्ञानपर उस समय बोला जाय तो ठीक है। वे छद्मस्थ अवस्थामे बोले नही और जब सम्पूर्णज्ञान हो गया उन्हे तो अब बोलना ही क्या ? किससे बोलें ? कोई रागद्वेप तो है ही नही। इतना तक भी नही है कि ये महापुरुप, ये श्रेणिक, ये गणधर, ये चक्रवर्ती, ये लोग बडी भक्तिसे मेरे पास आये हैं तो मैं इनको कुछ बोल दू अथवा इन्होने प्रश्न किया है तो मैं कुछ उत्तर दे दूं, इतने तक विकल्पकी भी जहाँ गुञ्जाइश नही रही, ऐसे वीतराग सर्वज्ञभगवान किसीसे बोलते नही, किन्तु उनकी निरीह दिव्यध्वनि अद्‌भुत होती है।

महावीर भगवान और सतोका आभार—भगवान महावीर स्वामीका आज यह शासन न होता तो हम आप इस मोक्षके मार्गमे कैसे लगते ? यह जीवन तो कभी मिट

जायगा, ये समागम तो कभी बिखर जायेंगे लेकिन मोक्षमार्गकी प्रतीति बन जाय, अपने आपके सहजस्वरूपका परिचय हो जाय और यह सुहा जाय, इसकी ही रुचि जग जाय तो यह होगा महान पुरुपार्थ। जिस पुरुपार्थके बलसे हम भावी कालमे भी उत्तम धर्मपद्धतिके प्रसगमे रह सकेंगे। कितना उपकार है प्रभुका और कितना उपकार है इन साधुसतोका, ऋषि जनोका जिन्होने अपना अनुभव लेखनीबद्ध करके हम सबको ज्ञानप्रकाश किया है। इन ऋषि सतोका हमपर महान् उपकार है। धन कन कचन साम्राज्य ये सब सुलभ है, मिलना हो तो मिल जाते है, न मिलना हो तो नही मिलते है। सब उदयाधीन बात है और प्राय मिलता ही रहता है। जो अनन्त आनन्द अनन्त शक्तिका पुञ्ज है आत्मा वह कितना भी आवरणमे आ जाय तो भी इसको सहूलियते कुछ न कुछ मिलती ही रहती है जिससे यह सुखी रहे। चाहे कोई उन वैभवोका उपयोग कैसा ही करे। तो ये समस्त वैभव सुलभ है किन्तु अपने आपके स्वरूपका यथार्थज्ञान अति दुर्लभ है। जिस स्वरूपके यथार्थ ज्ञान बिना यह जीव इस ससारमे भटकता रहता है।

वक्तव्यके संप्रदान—जो जीव मोक्षसुखरूपी अमृत रसके प्यासे हैं, जिनकी केवल अन्दरसे यही एक तीव्र इच्छा जगी है कि मुझे तो अपने आपको केवल बनाना है लेकिन व्यवस्थासे भी अधिक हितकारी बात आत्महितको जिनने माना है ऐसे मोक्षसुखसुधारसके प्यासे भव्यजीवोको ये महावीर भगवान मोक्षके कारण हुए। अर्थात् इनके शासनका पालन करे जो कोई तो अनन्त ज्ञानादिक गुणोका फल इन भव्योको मिलेगा। ऐसे महावीर स्वामी आजके युगमे धर्मतीर्थके प्रवर्तक, जो स्वय रत्नत्रयस्वरूप है उनको प्रणाम करके कुन्दकुन्दाचार्य देव यह प्रतिज्ञा कर रहे है, सकल्प कर रहे हैं कि निश्चय मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार-मोक्षमार्गको कहूगा।

मोक्षमार्गके वर्णनमे नव पदार्थोके वर्णनकी प्रथम आवश्यकता—व्यवहारमोक्ष मार्गके अवयव है दर्शन और ज्ञानकी वृत्ति, श्रद्धान और ज्ञानकी वृत्ति अर्थात् रत्नत्रय, उसके विषय-भूत ये ९ पदार्थ है जिनके परिज्ञानसे व्यवहारमोक्षमार्गमे वृत्ति होती है। मै इस व्यवहार मोक्षमार्गको कहूगा। यद्यपि आगे चलकर इस अधिकारके बाद चूलिकामे मोक्षमार्गका विशेष वर्णन किया जाना है तो भी ९ पदार्थोका सक्षेपमे वर्णन किया जाना आवश्यक है। ९ पदार्थों का व्याख्यान यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि मोक्षमार्गमे लगने वाले जीवोको प्रथम ही प्रथम कहाँसे परिचय मिलता है कि ये अपने कल्याणमार्गमे फिर आगे बढ़ते रहते है, उसी प्रारम्भिक परिचयका वर्णन किया जायगा।

सम्मत्तणाणजुत्त चारित्त रागदोसपरिहीण।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीण ॥१०६॥

मोक्षमार्गका निर्देश—इस गाथामे मोक्षमार्गकी सूचना दी है। मोक्षमार्गकी प्रसिद्धिके लिए इस अधिकारमे ९ पदार्थोंका वर्णन किया जायगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे युक्त जो सम्यक्‌आचरण है वह मोक्षका मार्ग है अर्थात् सप्ततत्त्वोका यथार्थज्ञान, यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ श्रद्धानके अनुरूप अपनी सिद्धि बने, इसके लिए चारित्रका धारण यह मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्ग रागद्वेष रहित समतारससे परिपूर्ण है। यह मोक्षमार्ग बुद्धिमान पुरुषोंके, विवेकी जनोके प्रकट होता है, जो कि भव्य है, मोक्षमार्गके सन्मुख हैं।

विधि व प्रतिषेधसे विशेषणोकी विशेषकता—इस गाथामे जितने शब्द दिए गए हैं वे शब्द प्रस्तावित बातका समर्थन करते हैं और उनसे विपरीत बातका खण्डन करते है। जैसे यह बताया है कि सम्यक्त्व ज्ञानसे सहित चारित्र मोक्षका मार्ग है तो इसका अर्थ प्रतिषेध रूपमे यो ले लीजिए कि सम्यक्त्व और ज्ञानसे रहित प्रवृत्ति मोक्षका मार्ग नही है। चारित्र मोक्षका मार्ग है। तो प्रतिषेधमे यहाँ लीजिए कि अचारित्र मोक्षका मार्ग नही है। इसका प्रतिषेधक अर्थ यह ले लीजिए कि रागद्वेषसे सहित जो प्रवर्तन है वह मोक्षका मार्ग नही है। यह मार्ग मोक्षका बताया जा रहा है। मोक्षका है, इसका प्रतिषेधक अर्थ यह लीजिए कि यहाँ बधका मार्ग नही कहा जा रहा है। यह मार्ग है अमार्ग नही है। यह मार्ग भव्य जीवोको कहा जा रहा है या भव्य जीवोके हुआ करता है। इसका प्रतिषेधक अर्थ यह है कि यह मोक्षमार्ग अभव्य जीवोके नही होता है। यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धियोंके होता है। जिसे भेदविज्ञान होता है उन ही जीवोके यह मोक्षमार्ग होता है, अलब्धबुद्धियोके मोक्षका मार्ग नही होता है। जब कषाय नष्ट हो जाय तब ही यह मोक्षमार्ग होता है, कषायसे मोक्षमार्ग नही होता है।

प्रायोजनिक ज्ञानकी विशेष अपेक्षा—कथनी तो बहुत हुई है, वर्णनका विस्तार भी गहन है, पर यह विस्तार भी जिन्हे नही मालूम वे भी आत्मस्वरूपकी दृष्टिकी सम्हाल करें। जिन्हे यह भी नही मालूम कि कर्म कैसे कटते है, कैसे क्लेशोका खडन होता है, वे भी निज स्वरूपकी दृष्टिसे इस आत्मज्ञानके प्रतापसे इन सब कार्योंको कर लेते है। ज्ञान कर सकते है और समय हो, बुद्धि हो तो प्रत्येक दशाका ज्ञान करना चाहिए। नाना विषयोका ज्ञान करे, शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्यवहारशास्त्र विज्ञानवाद सबका अध्ययन करे, जिसकी दृष्टि आत्महित होती है वह प्रत्येक स्थितियोमे अपने मर्मकी बात निकाल लेगा। उसकी वृत्ति तो आत्महितमे भली प्रकार होती है लेकिन जो विविध विषयोंके ज्ञान करनेमे समर्थ नही हो रहे है वे भी यदि प्रयोजनभूत स्वपर भेदविज्ञानकी बातोको भली प्रकार समझ लें, श्रद्धामे लायें और इस ही प्रकारका भाव करें, अपने आपकी ओर ठहरे तो वे भी कुछ समय बाद सर्व प्रकारका ज्ञान करके निर्विकल्प स्थितिमे आ जाते हैं और वे रत्नत्रयकी अवस्थासे पार होकर कैवल्य अवस्था

को प्राप्त हो जाते है। हम आपका कर्तव्य यह है कि जो चौबीसो घटोमे दिल पीडित हो जाता है उसकी थकानको मेटनेके लिए, उसकी पीडाको दूर करनेके लिए निज सहज चैतन्यस्वरूपका चिंतन और ध्यान करना चाहिए। मोक्षमार्गके लिए हम आपका यह कदम बहुत उपयोगी है।

सम्मत्त सद्दहण भावाण तेसिमधिगमो णाण।
चारित्त समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥

नव पदार्थ व व्यवहार रत्नत्रय—यह दूसरा अधिकार ९ पदार्थोका चल रहा है। इसमे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष——इन ९ पदार्थोका वर्णन चलेगा। यह वर्णन मोक्षमार्गसे सम्बधित है। नौ पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और समतापरिणाम होना, विपयोमे प्रवृत्ति न करना सो सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहारदृष्टिसे कहे गए है। इस ही व्यवहार रत्नत्रयका इसमे प्रतिपादन है। वीतराग सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रणीत जो भाव है उस भावका श्रद्धान करने वाला जो परिणमन है उसका नाम है सम्यग्दर्शन। इससे पहिले अधिकारमे जो ५ अस्तिकायोका वर्णन किया है और कालसहित ६ द्रव्यो का वर्णन है, उनके ही भेदरूप ये नौ पदार्थ है। इन नौ पदार्थोमे उत्तरके ७ पदार्थ परिणमन तो जीव और पुद्गलके है, किन्तु उन परिणमनोमे किसी न किसी प्रकारसे शेषके द्रव्य निमित्तभूत है, अत. नौ पदार्थ सवके सब इन ६ द्रव्योसे सम्बन्ध रखते है।

अश्रद्धानपरिहार व श्रद्धान—नौ पदार्थोका मिथ्यादर्शनके उदयसे अश्रद्धान उत्पन्न हुआ करता था, अब उस अश्रद्धानका अभाव हो गया, अब इन्हीका श्रद्धान अन्य अपूर्वभाव पद्धतिसे होने लगा। यह मिथ्यादृष्टि जीव पहिले अपने आपको शरीर निरखकर 'यह मैं हू' ऐसी प्रतीति रखता था, अब यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्वसे न्यारे एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको परखकर अपने आपमे आनन्द बढा रहा है। आनन्द तो जब कभी भी मिलेगा हम आपको कोई भी चेतन हो, उन परपदार्थोके विकल्पसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें हम समायेंगे तब आनन्द मिलेगा। शेप प्रक्रियाएँ तो सब मेलजोलकी है। यह अज्ञानी उन प्रक्रियावोमे अपने उपयोगका व्यर्थका विस्तार बढा बढाकर हैरान हो रहा है। मैं क्या हू, इसका निर्णय सही जब तक नही हो पाता है तब तक यह जीव गरीब है।

आनन्दधामके परिचयमें अमीरी—भैया! जो आनन्दधाम है, जिसमे इसे आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दधामकी पकड न हो तो वह तो नितान्त गरीब है। ये ससारी मनुष्य जन बाहरी अचेतन पदार्थोका सचय करके उनको निरखकर मानते है कि मै बडा हू, किन्तु है वहाँ इसका कुछ? कुछ भी नही। जब आनन्द सुधारस इसके भर [illegible] तो वह अमीर कैसे? ३ लोकके जड पदार्थ भी समक्ष आ जाये तो भी वह गरीब है, क्यो गरीब

है कि आत्माका शुद्ध आनन्द सुधारसका पान यह नही कर सका है। ससारकी विधि ससार की तरह है, मोक्षकी विधि मोक्षकी तरह है। यह श्रद्धान ६ पदार्थोका यथार्थ ज्ञान ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वके परिचयका बीजभूत है अर्थात् व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण है। ६ पदार्थोकी यथार्थ श्रद्धा निज शुद्ध चैतन्यस्वभावके यथार्थ अनुभवका कारण बन सकती है।

मिथ्यात्वमे विपरीत श्रद्धा—मिथ्यादर्शनके उदयसे इसका ऐसा सस्कार बना है कि जिससे यह अपने बारेमे उल्टा ही समझता है। जैसे नावमे बैठा हुआ पुरुष अपना चलना नही देख पाता, अन्य स्थिर जो तटके निकट पेड खडे है उनका चलना निरखता है अथवा कभी-कभी रेलगाडीमे बैठा हुआ मुसाफिर यो निरखता है कि ये पेड जल्दी-जल्दी चले जा रहे हैं। मुसाफिर अपने आपकी कुछ परिणति नही निरख पाता है, किन्तु बाहरी-बाहरी ही परिणमनोको सारभूत निरखता जाता है।

अन्तस्तत्त्वमें संशय विपर्यय व अनध्यवसाय—इस मिथ्यादृष्टि जीवको सशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनो ज्ञानाभास बने हुए है। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वोमे इसे सशय है, ऐसा है या ऐसा है, ऐसा सशय बना रहता है। एक तो मिथ्यादृष्टि जीव इस तरहके होते हैं। कोई विपर्यय ज्ञानी होते हैं, हो तो कुछ और प्रकार, मानेंगे कुछ और प्रकार। जैसे जीव है तो चेतन, पर मानेगा भौतिक। इन पृथ्वी आदिक महाभूतोसे यह उत्पन्न होता है। कुछ लोग अनध्यवसाय वाले हैं, वे इस सम्बधमे कुछ जाननेकी उत्सुकता ही नही रखते है। यो सशय विपर्यय अनध्यवसायसे अधेरेमे पडे हुए मिथ्यादृष्टि जीवोके जब विवेक भाव होता है, तत्त्वज्ञानका पुरुषार्थ होता है तो ये सब कुज्ञान दूर होते है और स्पष्ट अपने आपका निश्चय हो जाता है।

निजविनिश्चयकी आवश्यकता—जिसे सुखी होना है उस ही का कुछ जब पता नही है तो सुखी होनेका मार्ग कहांसे पावेगा ? सुखी होनेके लिए समझ लो कि आखिर जिसे सुखी होना है वह मै हू क्या ? एक अपने आपके स्वरूपका विनिश्चय हुए बिना कोई सुखी नही हो सकता। ६ पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसका विस्तारसे वर्णन स्वय गाथाओमे आयगा कि ६ पदार्थ क्या है और उनका क्या स्वरूप है ? यह तो हुआ व्यवहारसम्यग्दर्शन।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्ज्ञान क्या है ? जैसा यह पदार्थ है उसका उसके स्वरूपसे ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान ज्ञानचेतना प्रधान है अर्थात् यह ज्ञातृस्वरूपके निकट है, इस कारण यह आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका बीज है। ६ पदार्थोके यथार्थ ज्ञानके उपायसे यह ज्ञानी पुरुष इस निज विशुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके निकट पहुंच जाता है, यही है

सम्यग्ज्ञान ।

सम्यक्चारित्र—सम्यक्चारित्र—जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका प्रकाश बन गया तो यह जीव कुमार्गसे छूटकर अपने ही आत्मतत्त्वमे विशेष रूपसे लगता है । जब अपने स्व-तत्त्वमे यह ठहरने लगता है, इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदार्थोमे रागद्वेषपूर्वक विकार नही रहा करते है उस समय इसका निर्विकार ज्ञानरूप परिणमन होने लगता है । वही सम-भाव है, इसीका नाम चारित्र है । यह समभाव जिस व्यक्तिमे प्रकट होता है उस समय भी यह अति रमणीक है, अपने आपको अपने आपमे बडा आराम मिलता है । जब किसी भी प्रकारका विकल्प उठता रहता है तो यह आत्मा थक जाता है । अन्तरमे जब किसी भी प्रकार का राग परिणाम जगता है उस थकानको मिटानेमे समर्थ यह समतापरिणाम है । जिस समयमे समतापरिणाम जगता है, किसी भी परवस्तुमे 'यह मेरा है' इस प्रकारका विकल्प नही उठता, उस ही समय यह अपूर्व विश्रामको प्राप्त होता है और भावीकालमे तो यह अति उत्कृष्ट अपुनर्भवके आनन्दका कारण बनता है ।

व्यवहारसम्यक्चारित्रका प्रभाव—व्यवहारसम्यक्चारित्रकी भी कितनी अपूर्व महिमा है ? कोई इन्द्रिय और मनके विषयको छोडकर परख कर सकता है । सर्व जीवोमे राग और द्वेष करनेकी परिणति न करके एक समतापरिणामसे विश्रामसे रहकर अनुभव कर सकता है कि सम्यक्चारित्रमे कितनी सामर्थ्य है । ऐसा यह त्रिलक्षण मोक्षमार्गको आगे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो दृष्टियोसे बतायेंगे । यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अथवा दर्शनज्ञान के विषयभूत जो ६ पदार्थ है उनकी सूचना भर दी गई है कि ६ पदार्थ ये हैं । यो ६ पदार्थो का वर्णन करनेके रूपमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी बात कही गई है ।

विवेक और विवेकफल—भैया ! हम अपने आपके बारेमे मोटे रूपमे इतना तो सम-झते ही रहे कि यह देह मै नही हू । मै एक जाननदेखनहार चैतन्यतत्त्व हू । इन देहादिक अचेतन पदार्थोमे जब मै आकर्षित होता हू तो कर्मोका आस्रव होता है, कर्मरूप परिणमन होता है और उन कर्मवर्गणावोकी कषायोके अनुसार स्थिति बँध जाती है, ये कर्म कितने वर्षों तक रहेगे—यह स्थिति पड जाती है और कषायोके अनुसार फल देनेकी शक्ति उनमे पड जाती है, यो ये कर्म बँध जाते है और बाह्यपदार्थोमे विकल्प न रक्खे, उनका आश्रय न करें तो यह उन आस्रव और बधोसे दूर हो जाता है, तब पहिलेके बधे हुए कर्म खिरने लगते है । इस पुरुषार्थके प्रतापसे इस जीवका निर्वाण हो जाता है । यो ६ पदार्थोको स्थूल रूपसे जाननेकी प्रारम्भिक बात यह है । अब उन पदार्थोका नाम और स्वरूप बतला रहे है ।

जीवाजीवाभावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
सवरणिज्जरबधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥१०८॥

नव पदार्थोके नाम व स्वरूप—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये ९ पदार्थोके नाम है। इन पदार्थोमे से जीवनामक पदार्थ क्या कहलाता है जिसमे चैतन्यस्वभावका सद्भाव पाया जाय, ऐसा जीवास्तिकाय ही जीव है। कुछ लोग इस जीवको और आत्माको जुदा-जुदा मानते है और उसमे आत्माका श्रेष्ठ स्वरूप बताते है और जीवका विकृत स्वरूप बताते है। उनके सिद्धान्तमे विकारी जीव ही होता है आत्मा नही होता है। जीव अनेक हैं आत्मा एक है, ऐसा माननेका उन्हे अवसर कैसे मिला ? इस मान्यताकी समस्या उनमे कैसे आयी ? उसका कारण सुनिये।

आत्मा और जीवके पार्थक्यके अध्यवसायका कारण—आत्मा और जीवका पृथक्त्व माननेका कारण यही सम्भव हो सकता है कि एक चैतन्यपदार्थमे द्रव्यत्व और पर्याय ये दो बने हुए हैं, ये अलग नही है। वे पदार्थ जो नित्य है, ध्रुव है उनमे जो शाश्वत स्वभाव है वह तो एक मूल द्रव्य है और उसका प्रतिसमयमे जो परिणमन होता है वह परिणमन पर्याय है। यो कहो शक्ति और परिणमन। यह चेतनात्मक है। जो ध्रुव शक्ति है वह और उसका जो बाहरी व्यक्त रूप है वह ये दोनो चेतन तत्वसे जुदे नहीं हैं, किन्तु इनका लक्षण परिचय तो भिन्न-भिन्न है। जो प्रतिक्षण उत्पाद व्यय होता है वह तो पर्याय है और जो शाश्वत रहे वह चित्शक्ति है। इस व्यपदेशके भेदसे, लक्षणके भेदसे अत्यन्त भिन्न मानकर परिणमन का नाम तो जीव रख दिया और चैतन्यशक्तिका नाम आत्मा रख दिया। आत्मा और जीव के पृथक् व्यपदेशकी इस व्यवस्थाके बाद तो यह भी बात फिट कर ली जायगी कि जब यह जीव अपने स्वरूपको छोडकर आत्मामे लीन हो जाता है तब इसको मोक्ष होता है। उसका भी अर्थ यही है कि जब यह जीव अपनी पर्यायका व्यामोह त्यागकर एक चैतन्यशक्तिके उपयोगमे तन्मय होकर एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वहा शक्तिके अनुरूप ही तो व्यक्ति बनती है उसका ही तो नाम निर्वाण है।

पदार्थस्वरूपव्यवस्था—जीव चाहे शुद्ध दशामे हो, चाहे अशुद्धदशामे हो, जिसमे चेतना पायी जाय वह जीवास्तिकाय ही जीव है। अजीव वह है जिसमे चेतनाका अभाव हो। ये अजीव ५ प्रकारके होते है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलअस्तिकाय, आकाशअस्तिकाय और कालद्रव्य। इस प्रकार जीव और अजीवमे ये ६ पदार्थ आ गए, उनमे मूल पदार्थ तो दो है ना—जीव और अजीव। इस मोक्षमार्गके प्रकरणमे अजीव शब्दसे अर्थ ले लो कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल। जीव और अजीव पृथक्भूत अस्तित्वसे बने हुए है। सत्ता दोनोकी निराली, न्यारी अपनी अपनी है। भिन्न-भिन्न स्वभावभूत है। जीव और पुद्गलके सयोग परिणमनसे रचे गए ७ अन्य पदार्थ है। वे किस प्रकार है ? सो सुनिये।

पुण्य और पाप—जीव अजीवके बाद पुण्य पापका नाम लिया गया है। तो पुण्य

पाप दो-दो प्रकारके होते है—एक जीवपुण्य और एक पुद्गलपुण्य अर्थात् अजीवपुण्य तथा एक जीवपाप और दूसरा अजीवपाप। इस जीवका जो शुभ परिणाम है जिसको भावपुण्य कहते है, प्रभुभक्ति दया दान परोपकार उदारता आदिक जो जीवके शुभ भाव है वे सब भाव है भावपुण्य और उसके निमित्तसे जो पुण्यकर्मबधन है, कर्मका परिणमन होता है वह है द्रव्य पुण्य। इसी प्रकार पाप भी दो प्रकारके है—एक जीवपाप और अजीवपाप। जीवका जो अशुभ परिणाम है आर्तध्यानरूप, रौद्रध्यानरूप, रागद्वेषसे विकृत मोहमे मलिन जो जीवका परिणाम है वह तो है जीवपाप। भावपाप और उस अशुभ परिणामके निमित्तसे जो कर्मोका बन्धन होता है वह है द्रव्यपाप। पुद्गलका पाप, अजीवपाप। यह ९ पदार्थोका एक साधारण रूपसे व्याख्यान चल रहा है।

आस्रव और संवर—इसके बाद नाम है आस्रव। जीवका जो मोह रागद्वेष परिणाम है वह तो है जीवास्रव और उसके निमित्तसे जो कर्मबन्ध होता है वह है अजीवास्रव, अर्थात् जीवमे रागद्वेष मोह विकारोका आना यह तो है जीवास्रव और इन परिणामोके निमित्तसे उस ही कालमे जो कार्माणवर्गणा कर्मरूपसे बन रही है उनका नाम है अजीवास्रव। आस्रव तत्त्व के बाद सम्वरका नाम लिया है। ये दोनो विरोधी है आस्रव और सम्वर, इसलिए तत्काल प्रतिपक्षका नाम लिया है। मोह रागद्वेष परिणामोका रुक जाना यह तो है जीवका सम्वर। जीवमे रागद्वेष मोह परिणाम हटे ऐसा जो अन्तरङ्ग पुरुषार्थ भाव है वह है जीवसम्वर। और इस जीवके परमपुरुषार्थके निमित्तसे जो कार्माणवर्गणावोमे अब कर्मत्व परिणमन नही हो पा रहा है, कर्मत्वपरिणमन रुक गया है वह है अजीव सम्वर। सीधा तात्पर्य यह हुआ कि रागद्वेष मोहको दूर करो, सो यह तो हुआ जीवसम्वर और फिर कर्म अपने आप ही न आयेंगे। कार्माणवर्गणावोमे कर्मरूप परिणमन न होगा तो यह हो गया कर्मसम्वर।

निर्जरा और बन्ध—सम्वरके बाद निर्जराका नाम है। निर्जरा भी दो प्रकारकी है—एक जीवसम्बधी निर्जरा और एक अजीवसम्बधी निर्जरा। कर्मशक्तिका घात करनेमे समर्थ और बहिरङ्ग अन्तरङ्ग तपस्यावोकी विशुद्धिसे बढा हुआ जो जीवका शुद्धोपयोग रूप परिणमन है वह तो है भावनिर्जरा और उस भावनिर्जराके प्रतापसे पूर्वबद्ध कर्मोका एकदेश विनाश होना यह है कर्मनिर्जरा। निर्जराका प्रतिपक्षी है बध। अत. निर्जराके बाद बधका नाम लिया गया है। बध भी दो प्रकारका है—एक जीवबध और एक अजीवबध। जो मोह रागद्वेपकी चिक्नाईका परिणाम है वह तो है जीवबध और उस चिकनाईके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणत हुए पुद्गलका जीवके साथ एकमेक हो जानेका नाम सम्मूछित बननेका नाम है बध।

मोक्ष—अत्यन्त उपादेय होनेसे अन्तमे मोक्षका नाम बताया है। लोग भी कहते है ना कि सब निपट जावो, फिर सारभूत बात कहूगा। यो मोक्षका नाम अन्तमे है। इसलिए

शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाना यह तो है भावमोक्ष। जीव निर्विकारस्वरूप है, वहीका वही रह गया, यही है मोक्ष और जीवका कर्मपुद्गलका सदाके लिए वियोग हो जाना, यही है कर्ममोक्ष। इस प्रकार ६ पदार्थोंका नाम और सक्षेपमे स्वरूप कहा गया है।

जीवा ससारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥१०६॥

जीवप्रकार—६ पदार्थोंका नाम और सक्षिप्त स्वरूप बताकर अब उनमेसे जीव नामक पदार्थके व्याख्यानका विस्तार करते है। उस प्रसगमे इस गाथामे जीवके स्वरूपका वर्णन है। जीव २ प्रकारके होते है—एक ससारी और दूसरे निर्वृत्त। ये दोनो ही जीव चेतनात्मक होते है। इनका लक्षण उपयोग है। और इनमे एक तो देह प्रवीचार है अर्थात् देह सहित है और दूसरा अदेह है। संसारी तो सदेह है और मुक्त जीव देहरहित है। जो ससारी जीव है वे अशुद्ध है और जो मुक्त जीव है वे शुद्ध है। चेतनेका स्वभाव इन दोनोमे एक समान है। समस्त जीवपदार्थ स्वरूपदृष्टिमे निर्माणमे सब चैतन्यस्वरूप है, और वह चेतना परिणमनरूप उपयोगसे परीक्षाके योग्य है। उनका लक्ष्य उस चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे ही होता है। जिसमे चैतन्यस्वभावका सद्भाव है उसे जीव कहते है।

उपाधिभेदसे जीवभेदप्ररूपण—सब जीवोका सहज सत्त्व एक ही प्रकारका है। किन्तु उपाधिके सम्बधसे और उपाधिके वियोगसे प्रथम तो ये दो भेद हुए है—ससारी और मुक्त। ससारी जीवोमे उपाधियोकी विभिन्नताके कारण नाना भेद हो जाते हैं। इससे जो ससारी जीव है वे देहसहित है, देहका उनके भोग लगा है अर्थात् वे शरीरको भोगते है। अपने ही शरीरको भोगते है, और जो मुक्त जीव है वे इस देहके प्रवीचारसे रहित है अर्थात् देहका उनके सम्बध नही है। इस प्रकार ये जीव दो भागोमे विभक्त है। सिद्ध हैं मुक्त जीव और यहां है ससारी जीव। अरहत भगवान जीवन्मुक्त कहलाते है। प्राणोसे जीवित होनेपर भी वे चार अघातिया कर्मोंसे मुक्त हैं अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति रूप चतुष्टय से सम्पन्न है वे जीवन्मुक्त कहलाते है, मुक्त ही होने वाले है।

मोक्षमे आनन्द—मोक्ष अवस्थामे कैसा आनन्द होता है, कैसी निराकुलता होती है, वह अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव करनेके उपायसे कुछ विदित होता है। बाहरी दृष्टि बनाकर या ऊपरसे सिद्ध भगवान है ऐसा निरखकर भगवानके आनन्दका ज्ञानका पता नही पाडा जा सकता। अपने आपमे ही कुछ प्रयोग बनानेपर भगवानके ज्ञान और आनन्दका पता पाडा जा सकता है। ऐसी बात हुआ करती हैं। इसका कारण यह है कि जो भगवानका स्वरूप है वही अपनेमे स्वभाव है। अपने आपके स्वभावका दर्शन करनेसे भगवानके उस व्यक्त स्वरूपके विकासका परिज्ञान होता है।

अन्तस्तत्त्वके उपलम्भकी उत्सुकता—हम लोग यद्यपि ससारी जीव है पर उपादेयता के रूपसे हमे अपने आपमे इन सब पर्दोको फोडकर अन्तरङ्गमे शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अनुभव करना है, ऐसी विकट स्थितिमे भी जहाँ शरीरका, कर्मका बन्धन है, विभावोका मलमा ऊपर छाया है, ऐसी कठिन परिस्थितिमे भी यह उपयोग इन सबको पार करके अपने अन्तःशाश्वत चैतन्यशक्तिका दर्शन कर सकता है। जैसे कि हड्डीका फोटो लेने वाला कैमरा खून, मास-मज्जा सबको पार करके, इन्हे न ग्रहण करके केवल हड्डीका फोटो ले लेता है, ऐसे ही यह उपयोग इस शरीरको विभावोको पार करके अपने आपके अन्तरगमे विराजमान जो एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभावका स्पर्श कर सकता है और इस समयकी अनुभूतिके प्रसाद से फिर विदित होता है कि मुक्त जीवोके कितना सुख है ? तब कर्तव्य यह है कि हम अपनी दृष्टि, अपना लक्ष्य, अपना यत्न आपके सहजस्वरूपपर रखनेका अधिकाधिक करें।

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवससिदा काया।
देंति खलु मोहवहुल फास वहुगा वि ते तेसि ॥११०॥

पञ्च स्थावरोका वर्णन—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय—ये ५ काय जीवसे सहित है। ये ५ काय स्थावरोके कहे गए है जिनके केवल एक ही स्पर्शनइन्द्रिय है, मात्र शरीर ही शरीर है। रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये भी प्रकट नही है। जो अगोपागसे रहित हैं वे स्थावर जीव कहलाते है। ये यद्यपि अनेक आवान्तर भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके है सो भी ये निश्चयसे उन जीवोको मोहगर्भित परविपयक रागभाव उत्पन्न करते है और स्पर्शनइन्द्रियके विषयोको देते है अर्थात् ये जीव भी स्पर्शनइन्द्रियके द्वारा अपने स्पर्श विपयको भोगते है। जैसे पेड जडोके द्वारा अनेक खाद्य और पेय पदार्थोको ग्रहण करते है और उसे शरीररूप कर डालते है, ये सब काय पुद्गलके परिणाम है जीवके द्वारा ग्रहण किए गए है।

स्पर्शनेन्द्रियज्ञानकी समानता—आवान्तर जाति भेदोसे ये एकेन्द्रिय जीव यद्यपि बहुत प्रकारके है तो भी इन सबका काम एक ही प्रकारका है। पृथ्वीमे रत्न, हीरा, सोना, चाँदी, लोहा, ताबा, मुरमुर, मिट्टी कितनी ही जातियाँ है, वे सब जातियाँ भी केवल एक स्पर्शन-इन्द्रियके विषयको भोगती है। जो उनमे मिट्टी पानी आदिका आहार है उसका ग्रहण करते है और वे भी स्पर्शन इन्द्रियका सुख भोगते रहते है। उन एकेन्द्रिय जीवोको कहाँ सुख है ? वह सुख उनका उनके ही द्वारा गम्य है। अब क्या बतायें, लेकिन बाहरमे जब कुछ यह दीखा करता है कि यह पेड खूब हरा-भरा अपनी जोस जवानीपर है, बडा पुष्ट है तो उससे अनुमान करते हैं कि यह भी खुश है, सुखी है। कोई पेड सूखता नजर आये तो उससे उसको दुःखी अनुभव करते है।

पृथ्वीकाय—एकेन्द्रियोके स्पर्शनइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है जिससे वे स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा मात्र वे ज्ञान कर पाते है। स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान ही उनके कहा है। उनके अगोपाङ्ग नही है इस कारण किसीको ये बाधा नही करते। कोई आदमी वृक्षको काटे तो वृक्ष उसे रोक नही सकता है। जैसेके तैसे खडे रहते है। तब सोच लीजिए कितनी निम्न स्थिति है। कितनी पराधीनता है? कोई पेड कट रहा है तो वह पेड उसका प्रतिरोध नही करता। चाहे जो पेडको काटे, उखाड फेंके, कुछ भी करे, पर वे पेड मना नही करते। पृथ्वी है, उसे लोग खोदते है और पत्थरोमे जिनमे जान है छेद करके सुरग डाल देते है, ऐसी कठिन कठिन बाते इस पृथ्वीपर गुजरती है, पर यह पृथ्वी जीव किससे क्या कहे? उसको दु ख सहना पडता है।

जलकाय—जलकायका जीव है, जल है, उसे लोग गर्म करदें, उबाल दे, आगपर डाल दे, जैसी चाहे स्थितियाँ कर दें। जल बेचारा क्या करे? कभी यह जल बाढके रूपमे आकर गाँवोको बहा देता है तो वह जल प्रतिरोध नही कर रहा है। वह जान करके लोगो को नही बहा पा रहा है। वह तो एक निम्नगमन स्वभाव वाला है। जहाँ नीचा स्थान पाये वहाँ वह जाय, ऐसे स्वभाव वाला है यह जल। वह और कुछ नही कर पाता। अनेक प्रकार के क्लेश भोगता रहता है। यह एकइन्द्रिय जीव। ये ज्ञानहीन होते है। अन्धकारमे पडे हुए जीव सम्यग्दृष्टि हो ही नही सकते। मिथ्यात्वके सिवाय अन्य कोई गुणस्थान भी उनके नही है। पूर्वजन्ममे यह जीव पचेन्द्रिय हुआ और द्वितीय गुणस्थानमे उसका मरण हुआ तो थोडे समयको पूर्वभवके लगारसे द्वितीय गुणस्थान हो जाता है। यह भी किन्ही आचार्योंने माना है और किन्ही ने नही माना है। एक दृष्टिमे तो अपर्याप्तमे भी एकेन्द्रियके द्वितीय गुणस्थान नही है, एक दृष्टिमे द्वितीयगुणस्थानका पूर्व सम्बन्ध कारण है। कैसी निम्न स्थिति है?

अग्निकाय और वायुकाय—अग्निको रोक दे, उसपर पानी डाल दे, खूथ दे, कितनी ही प्रकारकी स्थिति बनाकर यह अग्नि ताडित की जाती है। हवाकी बात देखो—साइकिलके पहियोमे, मोटरके पहियोमे भर दी जाती है। महीनो तक वह हवा उन पहियोमे भरी रहती है, हजारो मील दौडती है, न जाने हवापर क्या-क्या स्थितिया गुजर जाती है? बिजलीके पखे चला देनेसे न जाने कितने वायुकायिक जीवोकी हिसा होती है? इतनी बात जरूर है कि गृहस्थ वहाँ निष्प्रयोजन स्थावरजीवोका घात नही करते, त्रस जीवोका घात नही करते, पर वायुकायिक जीवोकी जो हिंसा होती है वह तो होती ही है। वनस्पतिकायिक जीवोकी बात देखो। कितना-कितना उनको छेदा भेदा जाता। उनपर नमक डाला जाता, आगमे पका लिया जाता। कितने-कितने क्लेश ये वनस्पतिकायक जीव भोगते रहते है?

एकेन्द्रियके क्लेशोका स्मरण—ये सब क्लेश हम आपने भी भोगे है एकेन्द्रिय होकर,

पर जैसे हम आपको गर्भके दुःखकी भी आज खबर नही है, किस तरहसे माँके पेटमे रहकर दु.ख सहे, इसकी भी खबर नही है किस तरहसे उस पेटके अन्दर पडे रहे, कैसी क्या स्थिति रही, इसकी ही खबर नही है तो पूर्वभवकी बातोका क्या ख्याल रहे और तो जाने दो जब हम आप ६ महीनोके थे तबकी भी तो हम आपको कुछ खबर नही है। और ६ महीनेकी तो बात क्या, साल दो सालकी उमरकी भी बाते कुछ याद नही है, हमे कुछ ख्याल नही है। इस कारण हम जानते है कि आप सबको भी ख्याल न होगा। तो जब इस ही जीवनकी बातोका ख्याल नही है तो फिर पूर्वभवकी बातोका तो ख्याल ही कैसे हो सकता है। एकेन्द्रिय जीवोकी पर्यायोमे रहकर हम आपने कैसे-कैसे क्लेश पाये थे, इसकी कुछ आज खबर है क्या ?

क्लेशोपभोगका अनुमान—हम आप सभी आगमके बलसे जानते है और दूसरे एकेन्द्रिय जीवोकी हालतको यहाँ देख रहे है। साथ यह भी समझ रहे है कि ये भी जीव है, हम भी जीव है। हम लोगोंने भी ऐसे ऐसे शरीर पाये होगे। ऐसा अनुमान करके हम आप सब जान जाते है, पर खबर कुछ नही है। इतने लम्बे समयकी भी बात जाने दो। जब जाडेके दिन आते है तो ४–५ महीना पहिले जो गर्मीसे वेदना हुई थी उस वेदना की भी खबर नही रहती है। यह तो एक ही सालके अन्दरकी बात है। और बाते तो जाने दो। जिन दिनोमे खूब तेज लू चलती है, घरोमे प्रवेश कर जाती है, खूब प्रचड गर्मी पडती है, गर्मी सही नही जाती है उस गर्मीमे ठडके दु.खोकी खबर नही रहती है, हालाकि यह एक सालके अन्दरकी ही बात है, जब इसका ख्याल नही रहता तो भव-भवान्तरोमे हमने क्या क्लेश पाये, उनका आज हम अनुमान अनुभव नही कर पाते है। लेकिन जो दूसरे जीव है वे सब भी मेरे ही समान तो है। तो जो स्थिति उनकी हो सकती है वह स्थिति क्या मेरी नही हो सकती है ? ऐसे ऐसे कठिन भोग एकेन्द्रिय अवस्थामे रहकर जीवने भोगे।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व त्रीन्द्रियोके ज्ञान—उन एकेन्द्रिय जीवोके कर्मफल चेतना प्रधान है। उनके केवल स्पर्शनइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है जिसके कारण केवल एक बहिरङ्ग स्पर्शनइन्द्रिय ही प्रकट होती है। कुछ वहाँ भी देखने से यो लगता है कि इन पेड़ पौधोकी अपेक्षा ये जो रेंगने वाले गेडुवा है इनमे कुछ जान कुछ ज्ञान ज्यादासा दिखता है। और इन रेंगने वाले गेडुवोकी अपेक्षा ठुकुर मुकुर चलने वाली इन गिजाइयोंके, इन कीडोके कुछ और ज्यादा जान, ज्ञान दिखता है। कोई कोई कीड़े तो बडे ही सुन्दर रगके होते है। जैसे किसी कीडाको महादेवका पाट कहते है। रेशमकी तरह लाल और कोमल और वह भी ठुकुर मुकुर चलता है तो ऐसा लगता है कि उन गेडुवोकी अपेक्षा इन तीन इन्द्रिय जीवोमे जान अधिक है, ज्ञान विशेष है।

नेत्रवाले जीवोका ज्ञान—कीडोकी अपेक्षा खूब मनमाने उडने वाले भवरा ततैया इनमे कुछ और विशेषज्ञान मालूम होता है। आखिर इनमे आँखें तो और बढ गई। केवल आँखें हो जानेसे बिना आँखो वाले जीवोकी अपेक्षा तो एकदम अधिक अन्तर वाला बढा हुआ विकास हो जाता है। अभी आप अन्दाज कर लो, आखोमे पट्टी न बाधी जाय और वहाँ कोई प्रकारका ज्ञान करें, यहाँ यह रक्खा है, यह फलानी चीज है, यह फला चीज खायी, यह इतर सूघा, यो और-और प्रकारका ज्ञान करे एक तो वह स्थिति और एक आँखोको पट्टी बाध दी जाय, बिना आखोके देखे हुए ज्ञान करे, यह स्थिति हो तो इन दोनो स्थितियोमे अस्पष्टता और स्पष्टताका कितना अन्तर है? तो उन तीन इन्द्रिय जीवोकी अपेक्षा इन उडने वाले चार-इन्द्रिय जीवोमे ज्ञान विशेप मालूम होता है। फिर पचेन्द्रिय और मन वाले इन जीवोके उत्तरोत्तर ज्ञानविशेप मालूम होता है।

एकेन्द्रिय जीवोकी परिस्थिति—तो इन एकेन्द्रिय जीवोके ज्ञान तो सबसे न्यून विदित होता है। ये कर्मफलचेतना प्रधान है। दो इन्द्रियके कर्मफल चेतना होने लगी। विक्रिया करते है, छुपते है, घर बना लेते है, आहार खोजते है, यहाँ न मिले तो दूसरी जगह मिले। लेकिन ये स्थावर जीव क्या करें? कैसी दयनीय स्थिति है, और कोई यह सोचे कि भाई दुःख तो हम मनुष्योको अधिक है, इन्हे क्या दुःख हैं तो ये मनुष्य भले ही ऐसी कल्पनाएँ करे, क्योकि इन्होने अपने मुखके लिए विपयोका विस्तार बढाया है, इनके कल्पनाएँ जगती है इस कारण ऐसे भले ही वे अपनी कल्पनामे बात लायें लेकिन दुःख तो इन एकेन्द्रियको हम आपसे भी विशेप अधिक है, ये बडे अघेरेमे है। इनके भी मोह तीव्र है, पर उस मोहके प्रकट करनेका साधनभूत कोई अगोपाग नही है। वे स्पर्श विपयके उपलम्यको उत्पन्न करते रहते है, स्पर्शविषयका मुख भोगते रहते हैं। सुख क्या है, दुःख ही है, लेकिन स्पर्श विषय का वे उपभोग करते है। यो ससारी जीवोके वर्णनके प्रकरणमे सर्वप्रथम ५ प्रकारके स्थावर जीवोका इसमे वर्णन किया है।

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥

एकेन्द्रिय जीवोके स्थावरनामकर्मका उदय—स्थावर नामकर्मके उदयसे पृथ्वी, जल, वनस्पति—ये तीन प्रकारके जीव एकेन्द्रिय जानना चाहिए, और साथ ही यह जानना चाहिए कि अग्नि और वायुकायिक जीव ये यद्यपि चलते है, पर स्थावर नामकर्मके उदयसे ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव ही कहलाते है। ये मनोयोगसे रहित हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वन-स्पति—इन ५ जीवोंमे एकेन्द्रियपनेका ही नियम है। रूढिके अनुसार जो चल न सकें, वहींके वहीं पडा रहे उन्हे स्थावर कहते है और जो चले उसे त्रस कहते है। तो पृथ्वी, जल और

वनस्पति ये तीन तो जहाँके तहाँ ही पडे रहते है। अग्नि और वायु ये प्रकृतया हिलते-डुलते रहते है। लेकिन इस रूढ़िसे त्रस और स्थावरका भेद नही है। नही तो जो अत्यन्त छोटा गर्भमे बालक है वह स्थावर कहलाने लगेगा। त्रस नामकर्मके उदयसे जिसको दोइन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियपना मिला है उन्हे त्रस कहते है और स्थावर नामकर्मके उदयसे जिनको पृथ्वी आदिक एकेन्द्रिय जातिके शरीर मिले है उन्हे स्थावर कहते है।

कायसे अन्तस्तत्त्वकी विभक्तता—स्थावर नामकर्मके उदयसे जो चीज इसे मिली है उससे जीवका परमार्थ स्वरूप न्यारा है। जो आज एकेन्द्रिय जीव है वे भी अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति आदिक गुणोसे अभिन्न है। उनमे भी ऐसा ही पर-मात्मतत्त्व है, किन्तु उनके अनुभूति कहाँ ? मन भी उनके नही है। उस अनुभूतिसे रहित जीवके द्वारा जो कर्म उपार्जित किए जाते है वे स्थावर नामकर्मके आधीन होनेसे ये ५ जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते है।

एदे जीवणिकाया पचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥११२॥

एकेन्द्रियोके मनपरिणामका अभाव—ये सब जीवसमूह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये ५ प्रकारके समूह मनके परिणमनसे रहित है और एकेन्द्रिय कहलाते है। इन सबके स्पर्शन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम है और शेषकी चार इन्द्रियावरणोका उदय है और नोइन्द्रियावरणका भी उदय है। ऐसी स्थितिमे यह जीव एकेन्द्रिय और असज्ञी होता है। ऐसा किन्ही भी जीवोके सम्बधमे समझ लो। जो आज चारइन्द्रिय जीव है उसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियावरण इन चारका तो क्षयो-पशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरण तथा नोइन्द्रियावरणका उदय है। ऐसी स्थितिमे वे चारइन्द्रिय और असज्ञी होते है। ये समस्त असज्ञी जीव मनके परिणमनसे रहित हैं। इन एकेन्द्रिय जीवोको निरखकर अर्थात् पृथ्वी, जल आदिक शरीरोको निरखकर लोगोंके चित्तमे यह आशका रहती है कि इनमे जीव है कहाँ ? पृथ्वीको देखकर कहा मालूम पड पाता है कि यह जीव है। तो इस एकेन्द्रियमे चेतनका परिणमन है, ऐसा सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्तपूर्वक सिद्धान्त की बात अगली गाथामे रख रहे है।

अडेसु पवड्ढता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥११३॥

क्रियाव्यापारहीनतामे भी जीवके सद्भावकी संभावनाका निश्चय—जैसे अडेके अदर पडे हुए जीवके गर्भमे रहने वाले जीवके या किसी कारणसे मूर्छाको प्राप्त हुए बेहोश हुए जीवो के बुद्धिपूर्वक व्यापार कुछ नही देखा जाता। अडेमे पडा हुआ जीव जो अभी पूर्ण कठोर

अवस्थाको भी नही प्राप्त हुआ, वह कुछ हरकत करता है क्या ? गर्भमे रहने वाला जीव जो अभी एक-दो माहका है वह पेटके अन्दर कुछ हरकत करता है क्या ? ऐसे ही जो मनुष्य मूर्छित हो जाते है, मदिरा पीकर अति बेहोश हो जाते है उनके तो हाथ पैर भी नही डुलते है, उनमे बुद्धिपूर्वक कुछ भी व्यापार नही देखा जाता । फिर भी जिस प्रकारसे लोगोंके चित्त मे यह बात रहती है कि इसमे जीव है, उनमे जीवपनेकी बात निश्चितकी जाती है उसी प्रकारसे यद्यपि एकेन्द्रियके भी बुद्धिपूर्वक व्यापार नही देखा जानेकी समानता है उन अडस्थ गर्भस्थ जीवोकी तरह, फिर भी इनमें चैतन्यका निश्चय है ।

एकेन्द्रिय जीवोमें जीवत्व—भैया ! पेडोमे तो स्पष्ट समझमे आता है कि ये जीव हैं, ये फलते है, फूलते हैं, सूखते हैं, हरे होते है । इससे लोग जानते है कि इनमे जीव है । वृक्षोंके सम्बन्धमे लोगोको सदेह नही है । सब लोग समझते है कि इनमे जीव है । कोई कहीसे पेड का छोटा पौधा लाये और उसे लगाये । वह पौधा सूख गया तो लोग कहते है कि पौधा मर गया और वह पौधा हरा भरा हो गया तो लोग कहते हैं यह पौधा हरा भरा हो गया, जी गया । उस सम्बन्धमे तो लोग निश्चय रखते है कि इनमे जीव है । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चारके सम्बन्धमे कुछ हैरानी-सी होती है जीवके सिद्ध करनेमे । लेकिन सुना गया है कि पहाड बढते है, ऊपरको उभडते हैं, जल भी वृद्धिगत होता है, अग्नि बढती है और वायु तो तेज बहती ही रहती है । किसी प्रकारसे देखो—इनमे जीवत्वका निश्चय हो जाता है ।

जीवभेदप्रतिपादनकी आवश्यकता—एकेन्द्रिय जीवका वर्णन इस गाथामे करके अब दो इन्द्रिय जीवका वर्णन किया जायगा । यह प्रकरण व्यवहार सम्यग्दर्शनका चल रहा है । और व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप बतानेके लिए जीवादिक पदार्थोंका वर्णन करना आवश्यक है । इन जीवादिक पदार्थोंका जैसे वे है तैसे ही श्रद्धान करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा है । उस ही सिलसिलेमे यह जीवके भेदका प्रतिपादन है । जीव दो प्रकारके हैं—ससारी और मुक्त । ससारी जीव दो प्रकारके है—मनरहित और मनसहित । उनमे से मन रहित जीवका वर्णन चल रहा है । ये सब एकेन्द्रिय जीव मनके परिणमनसे रहित है ।

सवुक्कमादिवाहा सखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणति रस फास जे ते बेइदिया जीवा ॥११४॥

दो इन्द्रिय जीव—शख, सीप, क्षुद्रशख, गेडुवा, जौक, सुरमुरी आदि ये सब क्रमियाँ दो इन्द्रिय जीव है । ये रस व स्पर्शको जानते हैं । इनके स्पर्शनइन्द्रियावरण और रसनाइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है । शेष इन्द्रियावरणका उदय है तथा नोइन्द्रियावरणका भी उदय है, ऐसी स्थितिमे ये दोइन्द्रिय जीव स्पर्श और रसके जानने वाले होते हैं, परन्तु इनके मन

नही है । जीवोके-शरीरकी रचना भी कितनी विचित्र-विचित्र पायी जाती है ? ये दो इन्द्रिय जीव भी कैसे विचित्र शरीर वाले है जैसे कि एकेन्द्रिय जीव अनेक विचित्र शरीर वाले है । पीपलके पेड कैसे, गेहू, चनोके पेड कैसे, बेलका फैलाव कैसा, नाना प्रकारकी वनस्पतियाँ है और साधारण वनस्पतियाँ तो और भी सूक्ष्म नाना है । पृथ्वी भी कितने प्रकारकी है ? सोना, चाँदी, रत्न, हीरा, जवाहरात, ताबा, लोहा, पत्थर, मिट्टी इत्यादि । जैसे ये नाना प्रकारके शरीर है ऐसे ही दो इन्द्रिय जीवोमे भी शरीरोकी कैसी विचित्रतायें है ?

विचित्र कायसंस्थान—यह विविध शरीर जीवको कैसे मिल जाता है, इसका कैसे ग्रहण होता है ? इस सम्बन्धको कोई तीसरा जोडता नही है । जीवने जैसा परिणाम किया उन परिणामोसे जैसा कर्मबन्ध हुआ उस उदयके अनुसार ये शरीर वर्गणाये इस प्रकार परिणम जाती है जीवका सम्बध पाकर और यो निरख लो कि इस जीवके सम्बधसे तो जीवका आकार बनता है और जीवके सम्बधसे शरीरका आकार बनता है, जो कुछ भी आज दिख रही है और उपयोगमे आ रहा है । देखो ना, यह दृश्यमान सब एकेन्द्रिय जीवोका शरीर है । पत्थर, गाटर, कागज, कपडा, जो कुछ भी आपके ये बराबर उपयोगमे आ रहे है ये सब एकेन्द्रियके शरीर है । इनका यह आकार बन कैसे गया ? ये पत्थर इतने लम्बे चौडे कैसे हो गए ? ये जब खानमे थे तो इनमे जीव था । उस एकेन्द्रिय जीवके कारण यह पत्थर बढा था । यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बधवश आकार प्रकार प्रकृतिसे हो गया है ।

दोइन्द्रिय जीवोसे अङ्ग उपाङ्गका प्रारम्भ—यह जगत चराचरमय है, इस चराचरमय जगतमे जीवत्व कितना है और अचेतनत्व कितना है, पुद्गलपना कितना है ? ऐसा भेदविज्ञान इस जीवका एक परमसाधन है शान्तिके मार्गमे बढ़नेका । इस गाथामे दोइन्द्रिय जीवों का वर्णन किया है । दोइन्द्रिय जीवसे अगोपाङ्ग प्रकट होने लगते है । कितना ऊटपटाङ्ग इनके अगोपाङ्ग होते है । बतावो जो गेडुवा है वह कितना लम्बा है, कहाँ नाभि है, कहाँ इसका मुँह है, किस तरह यह चलता है, कैसा इसका ऊटपटाग शरीर है ? फिर भी इसके अङ्गोपाङ्ग प्रकट होते है, किस ही प्रकारका हो । यहाँसे अगोपाङ्ग नामकर्मका उदय चलने लगता है ।

जूगागुभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा ।
जाणति रस फास गध तेइदिया जीवा ॥११५॥

तीन इन्द्रिय जीव—इस गाथामे तीनइन्द्रिय जीवोका प्रकार बताया गया है । ये जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियजन्य ज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोके क्षयोपशमसे व्यक्त होते है । इनमे चक्षुरिन्द्रियावरण और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय है और नोइन्द्रियावरणका भी उदय है । ऐसी स्थितिमे इस जीवके बाह्यमे तीनइन्द्रिया प्रकट हुई है—स्पर्शन,

रसना और घ्राण । इन इन्द्रियोके निमित्तसे ये जीव स्पर्श, रस और गधके जानने वाले होते है, इनके आँखें नही है और मन भी नही है, ये सब असज्ञी जीव है ।

शक्तिका तिरोभाव व आंशिक आविर्भाव—यद्यपि शुद्धनयसे देखा जाय तो इन दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय आदिक कीडा मकोडा जैसे स्वरूपसे यह आत्मतत्त्व पृथक् है । केवलज्ञान, केवलदर्शनसे यह अभिन्न है, अपनी ज्ञानशक्तिमय है, लेकिन ऐसे शुद्धज्ञानस्वरूपकी भावना जब नही रहती तो ऐसे ऐसे नाना शरीर मिलते है । इन जीवोमे मन नही है । सो ये जीव भावना कर ही नही सकते । हाँ मनसे कुछ भावना चल सकती है, सो इनके भावनाका साधनभूत मन भी नही है । तो जब भावना न बन सकी तो आत्मतत्त्वकी भावनासे जो सहज आनन्द प्रकट होता है उससे ये बिल्कुल शून्य है । हा वीर्यान्तिरायके क्षयोपशमसे कुछ इसमे ऐसी व्यक्ति हुई है कि ये दो इन्द्रियोसे अथवा तीन इन्द्रियोसे कुछ सुख ले सकते है । ऐसे ही परिणामोमे रहता हुआ यह जीव तिर्यंचगतिको भोगता है और अपनी जातिके अनुकूल विषयोमे उन्मत्त रहा करता है ।

तीनइन्द्रिय जीवकी परिस्थिति—तीनइन्द्रिय जीवोंके कुछ नाम ये है, जैसे—जुवा, खटमल, चीटी, बिच्छू गिजाइया, सुरसुरी और भी जो कीडे फिरते है, जिनके ४ पैरसे अधिक पैर रहते हैं और चलते हैं, उड नही सकते, ऐसे जीव ये तीनइन्द्रिय है । ये सब जीव स्पर्श, रस, गध आदिकको जानते है । मोही जीवोंके विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वकी सुध नही रही और इसी कारण आत्मीय आनन्दका परिचय नही रहा, वे अपने आनन्दसुधासे च्युत हो गए और वे इस ही इन्द्रियके स्वादमे मूर्छित हो गये, ऐसे जीवोके द्वारा जो जो इन्द्रिय जाति नामकर्म बधा है उस कर्मके उदयके आधीन होकर यह जीव तीनइन्द्रिय बनता है । इनके वीर्यान्तिरायका क्षयोपशम है । कुछ शक्ति तो प्रकट है और स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसना इन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरणका भी क्षयोपशम है, किन्तु श्रोत्रइन्द्रियावरण और चक्षुइन्द्रियावरणका उदय है जिससे आखोका निशान तक भी प्रकट नही हुआ है । ये जीव मन-रहित हैं ।

इन्द्रियोका क्रमिक अभ्युदय—कोई मनुष्य जन्मसे ही अधा पैदा हो और ऐसा ही अधा हो कि जिसकी आखोंके गोलक ही न प्रकट हुए हो, जैसे गोल और सफेद आखके गोलक है वे गायव हो, ऐसा भी मनुष्य पैदा हो तो भी उसके चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम है, वह न देख पा रहा, न देख पायगा चाहे अपने उस जीवनमे, लेकिन चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोपशम अवश्य है । ऐसा नही हो सकता कि चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोपशम न हो और श्रोत्र-इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो जाय ।

इन्द्रियोंके आविर्भावके क्रमका अनतिक्रम—ये पाँचो इन्द्रियां क्रमसे व्यक्त है अर्थात्

जो तीनइन्द्रिय जीव है उनके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन ही इन्द्रियाँ होगी। क्रमसे अतिक्रम न होगा कि किसीके ऐसी तीनइन्द्रियाँ बन जाये कि स्पर्शन, रसना और चक्षु इस तरह के अतिक्रमसे इन्द्रियाँ नही होगी। इस प्रसगमे एक बातका और अनुमान कर लो। जिस जीवकी जो अन्तिम इन्द्रिय होती है वह अन्य इन्द्रियोकी अपेक्षा प्रायः अधिक प्रबल होती है। जैसे दोइन्द्रिय जीवोके मुख हो गया है तो अब उनको मिट्टी वगैरह खानेका निरन्तर काम पड़ रहा है। चीटीके घ्राणइन्द्रिय प्रकट हो गयी तो उसके नाकका गधका ऐसा तीव्र विषय है कि आप मिठाई किसी जगह रखे हो वहाँ चलकर वे चीटियां पहुच जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की अन्तिम इन्द्रिय है मन। यद्यपि मन अनिन्द्रिय है तो भी यह छठी चीज मिली तो है। यह मन अतःकरण है, अन्दरकी इन्द्रिय है। तो हम आप लोगोके मनका कितना तीव्र विषय है? पल भरमे कितनी घटनाएँ मनमे ग्रहण कर लेते है और प्राय करके यह मनुष्य अथवा जो भी सज्ञी पचेन्द्रिय जीव है उनके अधिकत्तर मनका ही सुख और दुःख रहता है। यह कभी इन्द्रियजन्य सुखको भोगे तो भी उसके साथ मनका विशेष हाथ है। और इस मनके सहयोगसे सुख दु:खका अनुभव अधिक कर डालते है।

उपद्रवी मन—भैया! बहुत उपद्रवी कोई अपने आपमे पडा हुआ है तो यह मन है। कैसा कठिन मन है कि यह पकडमे नही आता, बधनमे नही आता, दिखाया नही जा सकता, किसी दूसरेके कैद भी नही कराया जा सकता। ऐसा यह अनियत फुर्तीला मन इस मनुष्यको परेशान किए हुए है। परमार्थदृष्टिसे निरखो तो इस जीवका स्वरूप तो केवल अमूर्त एक चैतन्यस्वभावमात्र है लेकिन जब इस स्वरूपको अपने उपयोगमे ग्रहण नही किया गया तो इसके अनन्तभय उत्पन्न हो गया। जीवका तो निर्भयस्वरूप है। इस भवकी मृत्यु भी आये तो भी जीवका कुछ बिगाड नही है, पर कोई जीवके इस परमार्थ स्वरूपपर दृष्टि दे उसके ही तो समझमे यह बात आयगी।

अज्ञानसे मायाजालका विस्तार—अहो निज परमार्थस्वभावपर दृष्टि न होने से बाह्य पदार्थोमे इस जीवने अपनायत की है और जिसे यह अपना-अपना मान लेगा उस चीजके वियोगमे, विनाशमे इसे नियमसे अत्यन्त कठिन क्लेश होगा। तो क्लेशसे जिसे बचना है उसका उपाय तो सीधा-सा है कि किसी परपदार्थको अपना न माने, किन्तु यह बात जब कठिन हो रही है तब बडी-बडी समस्यायें सामने रखी है, परको निज माननेकी कल्पनाएँ न जगें तो जगतमे एक भी समस्या नहीं है। ये समस्याएँ, विपदाएं, चिन्ताएँ, ये सब मोह जाल पर ही आधारित है।

शान्तिके अर्थ अपना कर्तव्य—शान्तिके लिए अपना कर्तव्य यह है कि अपने आपको सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभवमे लीजिए। परिस्थितिवश बाह्य कर्तव्य भी

करने पड रहे है, पर वे कर्तव्य ढालकी तरह समझो । जैसे ढाल शत्रुके आक्रमणका निरोधक है ऐसे ही हम आपकी जो बाह्य परिस्थिति बनती है इस स्थितिमे अनेक सकटोसे बचने के लिए ये ढाल है । प्रज्ञारूपी शस्त्रसे हम इन विभाव वैरियोका विध्वस करें और अपने आपके आनन्दधाम सहज चैतन्यस्वभावके रूपमे अनुभव किया करें । काम करनेको यही है । लेकिन इस कार्यके लिए प्रगति हमारी तभी सम्भव है जब हम वस्तुवोके स्वरूपको यथार्थ समझ लेंगे । जब चित्तमे समा जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही अपने स्वरूपमे तन्मय है । एक पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कुछ भी सम्वन्ध नही है, यह बात चित्तमे जम जाय तो ज्ञानप्रकाश और परम सहजआनन्द इस जीवके प्रकट हो सकता है । हमने जैनशासन पाया है तो इससे सम्यक् श्रद्धानका लाभ उठा सकें, इसमे ही अपनी भलाई है ।

उद्दसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतगमादीया ।
रूव रस च गध फास पुण ते वि जाणति ॥११६॥

चतुरिन्द्रिय जीव——ससारी जीवोके भेदविस्तारमे चक्षुरिन्द्रिय जीवोके प्रकारकी सूचना इस गाथामे दी गई है । जिन जीवोंके स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसनाइन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरण और चक्षुरिन्द्रियावरण इनका क्षयोपशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय है तथा नोइन्द्रियावरणका भी उदय है ऐसी स्थितिमे यह जीव चक्षुरिन्द्रिय जातिमे उत्पन्न होता है । ये जीव स्पर्श, रस, गध और वर्णके जाननहार हुआ करते हैं, मनसे रहित भी होते हैं । ये जीव भी बहिरात्मा है । ये चार प्रकारके इन्द्रियोंके विषयसुखमे आसक्त रहते हैं । इनके निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञानकी भावना ही नही बनती । तब इस ज्ञानभावनासे उत्पन्न होने वाले समतारूपी आनन्दसुधा रससे ये विमुख रहा करते है । ऐसे जीवोंके द्वारा जो उपार्जित चक्षुरिन्द्रिय जातिनामक कर्म था, उसके उदयके आधीन ये चक्षुरिन्द्रिय जीव हुए हैं । इनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम है ।

संसारी जीवोमे वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमकी साधारणता——ससारके प्रत्येक जीव मे वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम पाया जाता है अर्थात् चाहे वे निगोद भी क्यो न हो, कुछ न कुछ शक्ति वहाँ अवश्य प्रकट रहती है । वीर्यान्तराय कर्म उसे कहते है जो आत्माकी शक्तिका आचरण करे, उसमे विघ्न डाले । जैसे कोई भी ससारी जीव ज्ञानसे शून्य नही है, क्षुद्र से भी क्षुद्र ससारी जीव हो, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक भी हो उसके भी उसके योग्य मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम पाया जाता है । क्षयोपशमका अर्थ है जहाँ सर्वघातीका उदयाभावी क्षय हो और उपशम हो तथा देशघातीका उदय भी साथ हो, ऐसी स्थितिमे ज्ञान कम रहता है, पर रहता है जरूर । ऐसे ही समग्र जीवोके ससारियोके वीर्यान्तरायका क्षयोपशम पाया जाता है । वीर्यान्तरायका क्षय १२वें गुणस्थानमे होता है । वहाँ तक

क्षयोपशम ही है। इन चक्षुरिन्द्रिय जीवोके वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है और चार इन्द्रियावरणोका भी क्षयोपशम है। तब चारइन्द्रियावरण व्यक्त हो गयी और श्रोत्रइन्द्रियावरणका उदय होनेसे मन भी नही मिला। ऐसे ये जीव चतुरिन्द्रिय जातिके होते है।

संसरणसृष्टिका हेतु और उसकी प्रतिक्रिया—इन ससारी जीवोके भेदोको सुनकर चित्तमे यह निर्णय बनाये रहना चाहिए कि एक निज सहजस्वरूपके परिचयके बिना और यह आत्मा स्वय आनन्दमय है, ऐसी अनुभूतिके बिना यह जीव ऐसी-ऐसी योनियोंमे भटक रहा है। आज हम आपको जितना समागम मिला है यह समागम सदा साथ तो देगा नही, पर इन समागमोमे आसक्त होकर हम जो एक मोह मिथ्यात्व पाप बढाते है, इस पापके फलका भोगना भावीकालमे बनेगा। हम इतने सावधान रहे, इतने स्पष्ट रहे कि अन्तरङ्गमे कि जैसा सहजस्वरूप है तैसी ही दृष्टिके यत्नमे रहे। यथार्थता तो यह है, ऐसे स्वरूपकी सावधानी हम आपको मोक्षके मार्गमे ले जायगी।

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पचेंदिया जीवा ॥११७॥

पञ्चेन्द्रिय जीव—अब पञ्चेन्द्रियके प्रकारकी सूचना इस गाथामे दी जा रही है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च जो कि कोई जलचर है, कोई थलचर है, और कोई नभचर है, ये सब पञ्चेन्द्रिय जीव है। वर्ण, रस, गध, स्पर्श और शब्दके जाननहार है। इन सब जीवोमे पञ्चेन्द्रियावरणका क्षयोपशम होता है। इनमे से जिनके नोइन्द्रियावरणका उदय है वे तो असज्ञी पचेन्द्रिय है। मानसिक ज्ञानका उनके विकास नही होता है। वे केवल स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्दको ही जानते है, पर जिनके नोइन्द्रियावरणका भी क्षयोपशम होता है वे जीव सज्ञी है। इन समस्त पञ्चेन्द्रियमे से देव, मनुष्य और नारकी जीव ये तो नियमसे मन-सहित ही होते है। तिर्यंचोमे दोनो प्रकारके पचेन्द्रिय पाये जाते है। कोई पचेन्द्रिय सैनी और कोई असैनी, उनमे भी प्राय सैनी पचेन्द्रिय होते है, असैनी पचेन्द्रिय अत्यन्त कम है।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियोके भेद—पंचेन्द्रिय तिर्यंचोके ये तीन भेद किए गए है—जलचर, थलचर और नभचर। ये तीन भेद पचेन्द्रिय तिर्यंचोके हैं अर्थात् जो जीव पचेन्द्रिय हैं और तिर्यंच है उनके ये प्रकार है। जैसे इनका अर्थ है ना—जो जलमे चले सो जलचर, जो थलमे चले सो थलचर और जो आकाशमे चले सो नभचर। इन शब्दोकी व्याख्यामात्र ही सुनकर जो इन भेदोका स्वरूप समझते है उनसे पूछा जाय कि बतावो मक्खी कौन चर है? तो अक्सर ऐसा उत्तर देने लगते है कि नभचर होगी, क्योकि वह तो आकाशमे उडती है, लेकिन मक्खी कोई चर नही है, क्योकि तीन भेद पचेन्द्रिय तिर्यंचोके किए गए है। मक्खी उडती है, तिर्यच भी है, पर पचेन्द्रिय नही है। और पूछा जाय कि बतावो मनुष्य कौनसा चर है? तो

लोग अक्सर उत्तर देते है थलचर है, जमीनपर मनुष्य चलते है। ठीक है, जमीनपर चलते है, किन्तु मनुष्यको यहाँ थलचर नही कहा जा सकता, क्योकि ये तीन भेद पचेन्द्रिय तिर्यंचोके कहे गए हैं। मनुष्य भले ही थलपर चलता है, पञ्चेन्द्रिय भी है, किन्तु तिर्यंच नही है। इन तीनके प्रति पूछा जाय तो जो पञ्चेन्द्रिय हो और तिर्यंच हो उनमे छाटना चाहिए कि ये जलचर हैं, थलचर है या नभचर है ?

इन्द्रियविषयव्यामोहका फल—ससारके ये जीव इन्द्रिय सुखोमे आसक्त होकर बहिर्मुख हो जाते है अर्थात् आत्मस्वरूपमे न ठहरकर बाहरी पदार्थोकी ओर अभिमुख होते हैं। यह एक उनका मोहका ही कार्य है। यह इन्द्रियसुख वास्तविक आनन्दसे अत्यन्त विपरीत है। वास्तविक आनन्द यह है जहाँ झूठे आनन्दका अश भी न हो। इस इन्द्रियमे तो झूठा ही झूठा सुख भरा पडा है। ऐसे झूठे सुखको भोगनेमे मौज तो माना जाता है, पर शान्ति नही कही जा सकती। वास्तविक आनन्द तो दोपरहित शुद्ध प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वभावके ध्यानसे ही उत्पन्न होता है। ऐसे आनन्दसे विपरीत इन्द्रियसुखमे आसक्त होकर व किसी अशमे अमूर्च्छित रहकर इस जीवने जो पचेन्द्रिय जाति नामकर्मका बध किया था उसके उदयको पाकर आज उनकी यह स्थिति ह कि वे पचेन्द्रिय हुए है और कोई-कोई तो नोइन्द्रियावरणके उदयसे असैनी हुए है, किन्हीके नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम मिला तो वे सज्ञी हुए।

मनका कार्य—मनका काम है कि मन वाले जीव शिक्षा उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यता पायें। वे शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सकते हैं, विवेक पा सकते है। असज्ञी जीवो मे विवेकशक्ति नही होती है। जहाँ पचेन्द्रियके भेद किए जायें वहाँ सज्ञी और असज्ञी हैं। जहाँ ससारी जीवोके भेद किए जायें वहाँ एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पचेन्द्रिय ग्रहण करके यह खोज लेना है कि एकेन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय जीव तक तो शुद्ध असज्ञी होते है। शुद्धका अर्थ है केवल, उनमे और न पाया जायगा, वे सिर्फ असज्ञी असज्ञी ही होगे। पचेन्द्रियोमे कोई जीव सज्ञी होते है और कोई कोई जीव असज्ञी होते हैं।

सज्ञाओका असर—कुछ ऐसी आशका की जा सकती है कि ये चीटिया अपना घर भी बनाती है, जमीनमे से एक-एक कण चोचमे लाकर ठीक ऐसी जगह पटकती है कि जिससे उनका विल न ढके, और सही क्रमसे डालती हैं। कही वहुत ऊपर खानेकी चीज मिठाई वगैरा रखी हो तो वहाँ पहुच जाती है। इन वातोको देखकर तो यह समझना चाहिए कि उनके भी मन है, विकल्प है तव इन्हे असज्ञी क्यो कहा ? समाधान उसका यह है कि प्रत्येक जीवमे आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा—इन ससारी जीवोमे दशम गुणस्थान तक सवमे जितना सम्भव है लगी हुई हैं, वे इस ही जातिस्वभावके है, उनकी गध विपयमे प्रगति है। इससे उनके आहारसज्ञा आदिककी चतुराई अधिक है, और वे आहारसज्ञा, भय-

सज्ञा आदि इनसे प्रेरित होकर इतना काम कर डालते है। मनकी सम्भावना उन जीवोमे करनी चाहिये जिन जीवोमे यह भी सम्भव हो सके कि वे कभी तत्त्वकी बात, ज्ञानकी बात, विवेककी बात भी ग्रहण कर सके। मनसे कदाचित् आहार आदिक संज्ञावोको भी करे तो वहाँ मनकी बात मानी जा सकती है। जहाँ शिक्षा, उपदेश, ग्रहण, विवेक ये कभी सम्भव ही नही है उन चेतनोमे जो आहार वगैरहकी इतनी प्रवृत्ति देखी जाय वह सव इन सज्ञावोके माहात्म्यसे होती रहती है।

उत्कृष्ट मन—मन तो परमातमा आदि तत्त्वोको भी जाननेमे समर्थ है। जो परमात्मत्व तीन काल, तीन लोकके समस्त पदार्थोंके जाननेमे समर्थ है ऐसे विशुद्ध तत्त्वको भी जानने की शक्ति मनमे है। उत्कृष्ट मनकी बात तो यो समझ लीजिए कि मन तो यद्यपि परोक्ष है, पर परोक्षरूपसे होकर भी परोक्ष परिच्छेदन करके भी एक सामान्यतया समग्रकी दृष्टिसे यह परोक्षज्ञान विषयमे केवलीप्रभुके समान है। वह कैसे ? इसे यहाँ देखिये—जिसको समस्त द्वादशागका पूर्ण ज्ञान है और उनके मनके अनुसार सब परोक्षरूपसे, सामान्यरूपसे सब जान लिया गया जो कि केवलज्ञान जानता है। केवलज्ञानने जान लिया कि आकाश अनन्त है तो इस मनने भी जान लिया कि आकाश अनन्त है जाना अस्पष्ट, परोक्ष और स्थूलरूपसे। केवलज्ञानने स्पष्ट जाना और विशेप याने सूक्ष्मरूपसे भी जाना, आत्मीय शक्तिसे भी जाना, उसकी पद्धति और है, मनकी पद्धति और है, केवलज्ञानकी प्रत्यक्ष पद्धति है और मनकी परोक्ष पद्धति है। यह मन चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवके कभी भी सम्भव नही है। इस प्रकार पचेन्द्रियके प्रकार बताते हुए यह भेद कर दिया गया है कि देव, नारकी और मनुष्य ये तो नियमसे सज्ञी ही होते है। तिर्यंचोमे पचेन्द्रियमे दो प्रकार सम्भव हैं, चतुरिन्द्रिय तक असज्ञी ही है।

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगहा ॥११८॥

चातुर्गतिक जीवोका संक्षिप्त उपसंहार—अब पूर्वमे कहे गये ससारी जीवोके प्रकारका इसमे कुछ चूलिकात्मक वर्णन है। देव चार निकाय वाले होते है। इनके देवगति नामकर्म का उदय है और देव आयुकर्मका उदय है इसके वशसे ये देव हुए हैं। देवगति नामकर्मका कार्य तो यह है कि देवगति नामकर्मके उदयसे उस देव भव वाले जीवके देवगतिके योग्य ही भाव और परिणतियां बनती है और देव आयुकर्मके उदयका कार्य यह है कि देवायुके उदयसे यह जीव देव शरीरमे रुका रहता। सो देवगति और देव आयुके उदयसे उत्पन्न हुए वे सब देव चार प्रकारके निकाय वाले है। कोई भवनवासी है, कोई व्यन्तर हैं, कोई ज्योतिषी है और कोई वैमानिक है।

प्रथम पृथ्वीके भाग— जिस जमीनपर हम आप चलते है यह पृथ्वी बहुत मोटी है और इस पृथ्वीके तीन भाग है—खरभाग, पकभाग और अब्बहुल भाग। ये यहाँसे एक हजार योजन नीचेसे है। यह ऊपरी भाग वह खण्ड न समझना। इसके नीचे तीन खण्डोको समझो। यह प्रथम खण्डका ही ऊपरी भाग है, इनका नाम कितना अच्छा दिया गया है। कोई मनुष्य जैसे कुवा खोदता है तो सबसे पहिले खर अर्थात् सूखी मिट्टी निकलती है, और गहराईपर जानेपर फिर पकसा निकलने लगता है फिर और गहराई पर जानेपर पानी निकलता है। तो यद्यपि ऐसी बात उन भागोमे नही है, लेकिन यहाँ कुछ खोदनेपर जैसे तीन प्रकारको विशेपता मिलती है उसके अनुसार रूढिसे ये नाम रक्खे गए है, पहिला है खरभाग, दूसरा है पकभाग और नीचे का हिस्सा है अब्बहुल भाग।

देवोंका निवास स्थान—ये भवनवासी और व्यन्तर खरभाग और पकभागमे रहते है। पकभागमे तो असुर जातिके देव और राक्षस नामके देव रहते है और शेप भवनवासी और व्यन्तर खरभागमे रहते है। इनमे ऊँचे मणिखचित सुन्दर भवन है और विशेप-विशेष भवनोके निकट चैत्यालय है, अकृत्रिम सब रचना है, व्यन्तरोंमे तो कुछ व्यन्तर तो इस मध्य लोकको कई पुरानी जगहोमे रहते हैं। कही द्वीप आदिकमे निचले स्थानपर रहते हैं, आकाश मे भी अधर जहाँ चाहे रहते है, और कोई पुरानी जगह खडहर विशाल पेड इत्यादिपर जैसी उनकी रुचि होती है उस रुचिके अनुसार इन जगहोमे भी रहते है। ज्योतिपी देव सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन विमानोमे रहने वाले है, वैमानिक देव स्वर्गोमे और स्वर्गोसे ऊपर सर्वारिसिद्धि पर्यन्त इन सबमे वैमानिक देव रहते है, ये सब सज्ञी जीव होते हैं।

देव देह—देवोके शरीरमे अतिशय होता है। खून, पीप, हाड, मास, मज्जा इत्यादि अपवित्र चीजें उनके नही है। वैक्रियक जातिकी वर्गणायें उनके शरीरमे है, वे शरीरके अनेक बना लें, छोटा, बडा, लघु, वजनदार सब प्रकारका बना लें, ऐसी विविध ऋद्धियोंके वे स्वामी है। उनको कई पखवारे बाद तो श्वास लेनेका कष्ट करना पडता है और कई हजार वर्षोमे उनके भूख लगती है। सो गलेमे से अमृत झड जाता है, शान्ति हो जाती है कितना महान उनको सुख है, सुविधा है? हम आप लोग ऐसा सोच सकते है कि वे तो यदि खूब प्रभुभक्ति करें और आत्मध्यान करें, आत्माकी उत्कृष्ट साधना करें तो उनको तो सारा ही मौका है, लेकिन वे इस सुखमे रहकर ऐसे छोटे मन वाले हो जाते हैं कि उनके आत्मकल्याणकी विशेष जिज्ञासा और यत्न नही बनता। वे सदा असयमी जीव रहा करते है।

मनुष्य जीव—मनुष्य गतिमे मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे और मनुष्यायुके उदयसे ये जीव मनुष्य हुए है। ये मनुष्य दो प्रकारके है—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। जिन्हे खेती व्यापार आदिक कुछ करके आजीविका बनानी पडती है वे कर्मभूमिज है और जिन्हे स्वय ही

खडे हुए कल्पवृक्षसे सर्व इष्ट सामग्री प्राप्त हो जाती है वे भोगभूमिज है। तिर्यंच—तिर्यक्गति नामके उदयसे और तिर्यक् आयुके उदयसे यह जीव तिर्यंच होता है। समस्त स्थावर, गेडुवा आदिक दोइन्द्रिय, जू आदिक तीनइन्द्रिय, भवरा आदिक चारइन्द्रिय तथा जलचर, थलचर, नभचर आदिक पचेन्द्रिय अनेक प्रकारके तिर्यंच होते है।

नारकी जीव—नारकी जीव नरकगति तथा नरक आयुके उदयसे होते है। ये नारकी जीव ७ प्रकारकी पृथ्वियोमे उत्पन्न होनेसे ७ प्रकारके कहे जाते है और उस ही हिसाबसे इनकी लेश्याएँ आयु और क्लेशके साधन सब हुआ करते है। उन भूमियोके नाम प्रसिद्ध है—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा और महातम॰ प्रभा। इन भूमियोमे उत्पन्न होनेसे ये नारकी जीव ७ प्रकारके हो गए। नारकोमे कैसे दु ख है--यह सब वर्णन करणानुयोग त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोमे कहे गए है। रत्नप्रभाको यह जानना कि वहाँ रत्न मौजूद है, किन्तु वहाँ उतना ही उजेला है जितना कि रत्नकी प्रभा होती है। बाकी तो अधेरा ही है। अधेरा बतानेके लिए इन सातोका नाम बताया गया है।

जीवभेदपरिचयसे शिक्षा—ये देव, मनुष्य, नारकी पचेन्द्रिय ही होते है और सज्ञी ही होते है। तिर्यंचोमे भेद है—कोई तिर्यंच सैनी पञ्चेन्द्रिय होते है और कोई असैनी पञ्चेन्द्रिय होते है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय—ये जीव नियमसे असैनी ही होते है। इस प्रकार इस प्रकरणमे ससारी जीवोका भेदविस्तार कहा है। वहाँ यह शिक्षा लेना है कि हम अपने आपकी ओर नही दृष्टि देते है। इसका फल यह है कि हमे इन नाना शरीरोमे जन्म मरण करना पडता है।

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च तेवि खलु।
पापुण्णति य अण्ण गदिमाउस्स सलेस्सवसा ॥११६॥

नवीन भव धारणका हेतु—पूर्वमे बांधे हुए गति नामकर्मके क्षीण होनेपर और आयुकर्मके क्षीण होनेपर लेश्याके वश होकर अर्थात् लेश्यावोके कारण जो नवीन गति नवीन आयु बँधी थी उनके उदयके आधीन होकर यह जीव अन्य गति और अन्य आयुको प्राप्त करता है। गति नामकर्म और आयुकर्मके कारण जो भव प्राप्त हुए है अर्थात् नरकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव—ये भव आत्माके स्वभाव नही है। यह जीव इन पर-उपाधियोके उदय के वशसे नवीन-नवीन भवोको धारण किया करता है। कुछ लोग ऐसा कहते है कि मनुष्य मरकर मनुष्य बनता है, देव मरकर देव ही बनता है, पशु मरकर पशु ही बनता है तो यह कल्पना उनकी गलत है। जैसी गति जैसी आयु बँध गयी नवीन-नवीन, उसके अनुसार जीवो को भवोमे जन्म धारण करना पडता है—मनुष्य मरकर देव, नारकी तिर्यञ्च कुछ बन , तिर्यंच मरकर देव, नारकी, मनुष्य कुछ भी बन जाय। हाँ इन दो गतियोमे नियम है कि देव

मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच ही बनेगा, नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही बनेगा। ऐसा नही है कि जो जिस पर्यायमे है वह मरकर उस ही पर्यायको धारण करे। यह वर्तमान मे चल रही गति और आयु जब फल दे चुकती है, इसका अन्त समय आता है, किसी प्रकार क्षीण हो जाता है तो अब नवीन जो गति और आयु उपार्जित किया था उसका उदय होनेपर वह जीव अन्य गतिको और अन्य आयुको, अन्य भवको प्राप्त होता है।

लेश्याका प्रभाव—यह सब अपनी-अपनी लेश्यापर निर्भर है अर्थात् अपने परिणामके आधीन है। जो जीव जैसी लेश्याके वश हो, वह उस प्रकारकी गति बांधेगा। इस प्रकार लेश्यावोके होनेसे उस-उस प्रकारकी गति बँधती है। यह लेश्या कर्मोका बीज है। कषायके उदयसे अनुरञ्जित होनेकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। यह लेश्या कर्मलेपनका काम करती है। कुछ लीप दिया तो वह बँध गया। कर्मोंके लेपका कारण यह लेश्या है। केवल कषायसे भी लेप नही होता, केवल योगसे भी लेप नही होता। यद्यपि यह उदाहरण नही मिलता कि जहाँ केवल कषाय हो और योग न हो। लेकिन कषायका काम केवल कषाय है, उसको देखकर और योगका काम केवल योग है उसको निरखकर फिर समझा जाय तो लेपका कारण कषायसे रंजित योग प्रवृत्तिको ही कहा जायगा। कषायका कार्य है स्थिति बांध देना। ये कर्म इतने दिन रहे, लेकिन योगका काम है कर्मत्व परिणमन कर देना, कर्मोका आना। कर्म आयें नही तो कषाय किसकी स्थिति बांधे ? यद्यपि किसी भी जीवमे ऐसा न मिलेगा कि कषाय तो है और योग न हो। यह तो मिल जायगा कि योग तो हो और कषाय नही है। जैसे ११वें, १२वें और १३वे गुणस्थानमे कषाय तो नही है और योग है, पर ऐसा कौनसा जीव है जिसके कोई भी योग न हो, और कषाय बन रही हो ? नही है ऐसा कोई। तो भी कषायका कार्य क्या है ? इसपर दृष्टि डालनेसे यह निर्णय होता है कि कर्मलेपका काम लेश्याका है। कषायसे सहित जो योग है वह कर्मलेपका कारण है।

लेश्याविनाशका उपाय—लेश्याका विनाश करना अपना कर्तव्य होना चाहिए। लेश्याका विनाश कैसे हो ? उसका उपाय भावना है। यद्यपि मान, माया, लोभरूप जो चार कषायें है उन चार कषायोका जो उदय है, विपाक है उससे यह मैं परमात्मतत्त्व न्यारा हू। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति स्वरूप जो मेरा स्वभाव है उससे मैं अभिन्न हू। निष्कषाय और अनन्त चतुष्टयात्मक निज परमात्मतत्त्वमे जब भावना की जाती है यह मै हू, यह अमूर्त जिसके साथ किसी भी मूर्त पदार्थका आघात न हो सके और इसी कारण जो अच्छेद्य है, अभेद्य है, अव्यवहारी है ऐसा यह मै परमात्मतत्त्व जब अपने आपकी नजरमे सही रूपमे दिखने लगता है तब कषायोके विपाकका विनाश हो जाता है। अर्थात् वहाँ आकुलता नही रहती। क्षोभ वहाँ उदित होता है जहाँ अपने इस अमूर्त चैतन्यात्मक

आत्मतत्त्वकी दृष्टिको त्यागकर बाह्यपदार्थोमे अपनायतकी बुद्धि कर ली जाती है, यह सब कुछ मेरा है, बस इस परिणतिकी नीवपर सारे क्षोभ और आकुलता बना करते है । जब यह जीव समस्त परभावोसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप निज आत्मासे अभिन्न परमात्मतत्त्वमे भावना करता है तब उसके कषायके उदयका विनाश हो जाता है ।

योगनिरोधकी आवश्यकता—शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावनाके लिए शुभ अशुभ मन, वचन, कायके व्यापारका परिहार किया जाता है । मन, वचन, कायका जब अभाव होता है तो लेश्यावोका भी विनाश होता है । करना क्या चाहिए ? लक्ष्यमे तो यह हो कि मैं अपने उस शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावना करूँ । करना तो यही चाहिए और इसके लिए वर्तमानमे उद्यम और क्या चाहिए ? यह कि मन कुछ विकल्प न कर सके, किसी भी अन्य पदार्थमे उपयोग न जाय, विचारोका विस्तार न बने, ये वचन न बोले जाये, इन वचनोको रोक दिया जाय और यह काय भी हिले डुले नही, कोई प्रवृत्ति न करे, यो मन, वचन, कायको थामनेका उद्यम किया जाता है, इसलिए कि हम परमात्मतत्त्वकी भावनामे सफल हो जाये । तो यो जब योगपर हम काबू करते है और कषायके उदयमे नही जुटते है तो कषायके उदयसे रजित योगप्रवृत्तिका अभाव होनेसे फिर गतिकर्म, आयुकर्म इनका बन्धन न होगा । बन्धन न होनेसे उदय भी न होगा । तब उसमे अनन्त सुख आदिक गुणोकी प्राप्ति होगी । यह ही है मोक्ष लाभ । सदाके लिए सकटोसे छूट जानेका उपाय निष्कषाय स्वस्वरूप मात्र इस निज चैतन्यमे ही उपयोग रमा लेना है । इसके प्रसादसे फिर यह जीव बन्धनसे छूट जाता है । यह उपाय न हो तो जीवोकी स्थिति भवभवान्तरोमे भ्रमण करनेकी बनी रहती है ।

नवीनबन्धका दुष्परिणाम—भैया ! जो कर्म जो गति व आयु आज है वह तो क्रमसे फल दे देकर क्षयको प्राप्त होगी । वह तो भलेके लिए है । बूढा होना, मर जाना यह तो भले के लिए है, पर भलेके लिए तब है जब आगेको गति और आगेकी आयुका बन्ध न किया जाय, पर ऐसा ससारी जीवोमे हो कहाँ रहा है ? यह वर्तमानगति वर्तमान आयु फल दे देकर नष्ट हो रही है । लेकिन अन्य गति और अन्य आयुका बन्ध हो रहा है, क्योकि कषायें भी है, योगकी प्रवृत्ति भी है और इस ही पद्धतिसे यह जीव नवीन गतिको, नवीन आयुको प्राप्त करता है । पहिली आयु गति क्षीण हुई, नवीन आयु गतिकी प्रबलता हुई, नये-नये बने । इस प्रकार ये दोनो कर्मगति और आयु यद्यपि मेरे स्वभाव नही है फिर भी चिरकालसे ये बराबर सतान लगाये हुए है और इस आत्माको ससरण कराते रहते है । ऐसी है इन व्यामुग्ध जीवोकी स्थिति ।

आत्मानुभूतिका कर्तव्य—इस अकल्याणमय स्थितिके अभावके लिए कर्तव्य केवल

नही करना है कि हम अपने आपके स्वरूपको यथार्थदृष्टिमे ले। यह मैं आत्मतत्त्व रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित केवल चैतन्यस्वरूप हू, अमूर्त हू, अछेद्य हू, अभेद्य हू। यो अपने इस सहज स्वरूपके परिणमनसे इस आत्मामे शुद्ध वृत्ति जगती है, निराकुलताकी वृत्ति बनती है और इस वृत्तिमे जो सहज आनन्द प्रकट होता है बस वही तो आत्माका उत्कृष्ट रूप है। उस आनन्दकी अनुभूतिके प्रसादसे सर्वविभावोका क्षय हो जाता है।

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा ससारिणो अभव्वा य ॥१२०॥

जीवका द्वैविध्य——ये जितने भी ससारी जीव निकाय कहे गए है वे देहप्रवीचारका आश्रय करने वाले है अर्थात् देहधारी है, देहमे रहने वाले है, देहमे अपनेको एकमेक करने वाले भी है, किन्तु सिद्ध भगवान देहरहित है, वे देहमे नही रहते, वे शुद्ध हो गए है अर्थात् जो यह केवल सत् हैं, आत्मा ही आत्मा अब रह गए है। न शरीरका सम्बध है, न कर्मका सम्बध है और इसी कारण न उनमे किसी प्रकारकी विभाव तरंग है। उनका आत्मा अपनी ही स्वरूपानुभूतिके कारण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना हुआ है। इस प्रकार जो देहप्रवीचारी है, सदेह है वे तो ससारी है और जो देहविहीन है वे मुक्तजीव है।

ससारियोका द्वैविध्य——ये ससारी जीव यद्यपि सभी सदेह है, देहोमे रहते हैं और इस पद्धतिसे वे सब एक प्रकार है तो भी ये ससारी जीव भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकार के हैं। भव्य उन्हे कहते है जो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति करनेकी शक्ति रखते है, अभव्य उन्हे कहते है जो शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी शक्ति नही रखते है। जैसे मूंग कोई-कोई ऐसी भी होती है कि दिनभर भी बटलोहीमे आगपर रखी रहे तो भी नही पकती है, जैसे कुलड् मूंग कहा करते है। अक्सर तो मूंग पकने वाली ही होती है। मानो मनभर मूगके दानोमे कोई एक दाना कुलड मूगका होता है। अच्छे दानोकी सख्या अत्यन्त अधिक है और ऐसे कुलड् दानोकी सख्या अत्यन्त कम है, लेकिन उनमे स्वरूप देखो मूगका पाया जा रहा है। रूप, रस, गध, स्पर्श, हरित अवस्था ये सब वैसे ही वैसे है। सभी स्थितियोमे वे मूंगके दानोंके समान होनेपर भी देखिये उस मूगके दानोमें तो पकनेकी शक्ति है और कुकड् मूगके दानोमे पकनेकी शक्ति नही है। ऐसे ही ससारमे भव्य जीव तो अनन्तानन्त है, अभव्य जीव तो भव्य जीवोंके अनन्तानन्तवे भाग है, अत्यन्त कम है, किन्तु होते है कोई जीव ऐसे जिनमे शुद्ध आत्मस्वरूपके उपलब्धिकी शक्ति नही पायी जाती।

भव्य व अभव्योमे समता व विषमता—सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता अभव्य जीवो के नही पायी जाती है, लेकिन जीवका जो लक्षण है वह दोनोमे एक समान है, पर न व्यक्त हो पायेंगे वे इस तरह। जिसमें चैतन्यस्वभावका सद्भाव हो उसे जीव कहते है। ऐसा जीव-

पना जैसा भव्यमे है वैसा ही अभव्यमे है, कोई अन्तर नही है। ऐसे एक समान जीवत्वके होनेपर भी जो सम्यक्त्व प्राप्तिकी शक्ति व्यक्त नही कर पायेंगे उन्हे अभव्य कहते है। जैसे एक स्वर्णपाषाण होता है और एक अंधपाषाण होता है, ये दोनो ही स्वर्णमे पाये जाते है, पर एक पाषाणमे स्वर्ण व्यक्त हो जायगा और एक पाषाणमे स्वर्ण व्यक्त नही हो पाता, पर जाति तो वही है, ऐसे ही जीवत्व जातिसे समान होनेपर भी कोई जीव भव्य है और कोई जीव अभव्य है।

पारिणामिक भाव—यह भव्यपना और अभव्यपना न तो कर्मोंके उदयसे होता है न उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है। यद्यपि मोक्षपर्याय तो व्यक्त नही होती, यह कर्मोंके उदयसे होती है, लेकिन इस जीवमे त्रिकाल भी मोक्षपर्याय व्यक्त करनेकी शक्ति नही है। इस जीवमे ऐसी बातका होना न कर्मके उदयसे है, न उपशम क्षय क्षयोपशमसे है। इस कारण भव्यत्व भावको पारिणामिक और अभव्यत्व भावको भी पारिणामिक कहा है। जीवके ५ भावोमे पचम भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भावके ३ भेद है—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्वके भी २ प्रकार कहे है। जो १० प्राणो करके जीवे उसका भी नाम जीवत्व और एक चैतन्यस्वभावसे रहे, चैतन्य प्राणोसे रहे, जिये, उसका भी नाम है जीवत्व। तो अब पारिणामिक भावको चार रूपोमे निरख लीजिए। एक शुद्ध जीवत्व चैतन्यकी अपेक्षा जीवत्व और एक दस प्राणोकी अपेक्षा जीवत्व। भव्यत्व और अभव्यत्व इनमेसे चैतन्य प्राणो से जीवे ऐसा जीवत्व ही शुद्ध पारिणामिक भाव है। दस प्राणोसे जिये उसके कारण कहलाने वाला जीवत्व अशुद्ध पारिणामिक है और भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव भी अशुद्ध पारिणामिक है। तो ऐसे उस शुद्ध जीवत्वकी दृष्टिसे समान होनेपर भी ससारी जीव भव्य और अभव्य—यो दो प्रकारके कहे गये है।

जीवभेदव्याख्यानका प्रयोजन—यह प्रकरण है मोक्षमार्गके प्रतिपादनमे ९ पदार्थोंके वर्णनका। ९ पदार्थोंका स्वरूप जाने बिना मोक्षमार्गमे कदम क्या उठाया जायगा? सबसे प्रारम्भमे जो बात सीखना चाहिए उसका प्रतिपादन इस अधिकारमे सर्वप्रथम किया जा रहा है। ९ पदार्थोंमे सर्वप्रथम नाम है जीवपदार्थका। ये जीव कैसे-कैसे हुआ करते है इसका वर्णन यहाँ चल रहा है।

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
ज हवदि तेसु णाण जीवोत्ति य त परूविंति ॥१२१॥

भेदोमे जीवत्वका परमार्थसे अभाव—इससे पहिले जो जीवका विस्तार बताया गया है इसमे इन्द्रियोका वर्णन है, कायोका वर्णन है और उन वर्णनोंसे व्यवहारमे ऐसा विदित हुआ कि जो इन्द्रियाँ है ये ही जीव है। कोई एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय

और पंचेन्द्रिय है, ये इन्द्रियाँ जो बाह्यमे दिख रही है ये ही सब जीव है, और ये ६ प्रकारके जो काय है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय, ये ही जीव है। ऐसी बुद्धि लोगोकी व्यवहारमे क्यो बनती है ? इस कारण बनती है कि यहाँ सर्वत्र जीव और पुद्गलका परस्पर अवगाह पाया जा रहा है तो जो सामने दिखा, जिसमे हमारा व्यवहार चलता है उसकी प्रधानतासे हम जीवकी प्रधानता करने लगते है और यह कहने लगते है कि ये सब जीव है और ऐसा व्यवहारनयसे है भी।

जीवनिकायोमे अजीवत्वके एकान्तमे आपत्ति—यदि हम इन सजीव शरीरोको अजीव ही सर्वथा मानकर अपना एक कोई निर्णय बना ले तो फिर हिंसा नाम किसका है ? जो जीव है असलमे उसे तो कोई छू नही सकता। उसकी हिसा कोई क्या करेगा ? जिसको छुवा जाता है उसको एकान्तसे मान लिया अजीव पुद्गल, तो जैसे राखको चूर कर दिया तो उसमे हिसा तो नही लगती, क्योकि वह पुद्गल है, अजीव है, ऐसे ही इन कायोको चूर देनेमे फिर हिंसा क्यो लगना चाहिए, ये भी पुद्गल है। तो यद्यपि ये सब जीव है व्यवहारनयसे, यह बात ठीक है, फिर भी निश्चयनयसे देखा जाय तो उन सब ससारी जीवोमे जो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रिया पायी जाती है ये सब जीव नही है, और पृथ्वी आदिक शरीर पाये जाते है ये सब जीव नही है, क्योकि इनमे जीवका लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव नही पाया जाता, इस कारण ये सब अजीव है, जीव नही है।

सबोमे जीवत्वके प्रतिषेधका भाव—यहा एक सूक्ष्मदृष्टिका अन्तर भी निरखिये। इन ६ कायो और इन्द्रियोको एक इस पद्धतिसे कहे कि ये जीव नही हैं और एक इस पद्धति से कहे कि ये अजीव है तो इनमे भी कुछ अन्तर आ जाता है। ५ इन्द्रिया और काय जीव नही है, इनमे तो सभाल बनी हुई है। जीव चैतन्यस्वरूप है, ये जीव नही हैं और ऐसा जोर दिया गया कि इन्द्रिय और काय ये सब अजीव है। इससे निर्णयकी सभालमे कमी आयी है। ये एकान्तत अजीव ही है, पुद्गल ही है—इस प्रकारकी ध्वनि जगने लगती है। यद्यपि ये व्यवहारनयसे जीव कहलाते है तो भी निश्चयनयसे ये इन्द्रिया और ये काय जीव नही हैं, फिर कौन जीव है सो सुनिये।

परमार्थसे जीवत्वका निर्देशन—इन सब इन्द्रिय जातियोमे इन सब द्रव्यास्तिकायोमे अत जो स्वपरका परिच्छेदन करने रूपसे प्रकाशमान ज्ञान है वह ज्ञान ही जब गुणगुणीके कथचित् अभेदरूपसे निरखा जाता है तो आपको विदित होगा कि लो यह जीव है, अर्थात् इन समस्त देहधारियोमे जो प्रकाशमान एक ज्ञानभाव है वह ज्ञान ही जीव है। ऐसा सीधा कहनेमे थोडी अटक वह आ जाती है कि ज्ञान तो एक स्वभाव है, धर्म है, वह तो जीव नही है। जीवमे ही यह ज्ञान पाया जाता है, लेकिन जीव और ज्ञान भिन्न-भिन्न चीजें तो नही है।

एक ही पदार्थको जब हम उसके किसी धर्मकी मुख्यतासे कहते है तो वह धर्म धर्मी बन जाया करता है। किसी भी धर्मीको कोई शब्दोमे कह नही सकता। कहेगा तो किसी धर्मका नाम लेकर कहेगा। तो यह ज्ञान गुण हुआ और ज्ञानमे तन्मय पदार्थ गुणी हुआ। इस गुण और गुणीका अभेद करके जो बात निरखनेमे आती है वह ही जीव है ऐसा प्ररूपण करना चाहिए, ऐसा मानना चाहिए।

आत्मदृष्टिके लिये भेदपरिज्ञान—जीव पदार्थका प्रथम वर्णन चल रहा है, उसमे जीव के प्रभेदका कुछ अनेक प्रकारसे विस्तार किया गया है। इन्द्रियोकी अपेक्षासे, शरीरकी अपेक्षा से, जन्म और मरणकी अपेक्षासे, भव्यत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षासे यो अनेक प्रकारोसे जीव पदार्थोका वर्णन किया है। वे सब भेद विस्तार उपदेशकी बातें व्यवहारनयसे है। इनमे प्रयोजनीभूत जिसकी श्रद्धा करनेसे जीवको सम्यक्त्व होता है, शान्तिका मार्ग मिलता है उस जीव का स्वरूप यहाँ ध्यानमे लेते रहना चाहिये। ये इन्द्रिया और ये सब काय जीव निश्चयसे नही है, किन्तु इन सब देहके धारियोमे जो अपनेको और दूसरेको जान लेनेका स्वभाव रखने वाला ज्ञान पाया जाता है उस ज्ञानको उस ज्ञानके आश्रयभूत उससे असख्यात प्रदेशोसे अभेदरूप कर देनेपर, क्योकि स्वभावसे स्वभाववान भिन्न होता ही नही है, उस दृष्टिसे जो एक ज्ञानमयता दृष्टिमे आयी है उसे जीवरूप समझना चाहिए। और यह मै हू—इस पकारका विश्वास करके अपनेको निराकुल अनुभवमे लेना चाहिए।

जाणदि पस्सदि सव्व इच्छदि मुक्ख विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिद वा भु जदि जीवो फल तेसि ॥१२२॥

जीवके कार्य व चेतन कार्य—इस गाथामे वे सब कार्य बताये जा रहे है जो जीवके सिवाय अन्य जीवोमे न पाये जाये। यह जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुखको चाहता है, दुःखसे डरता है, हित अथवा अहितको करता है और उन हित अहित क्रियावोके फलको भोगता है। इस गाथामे जानना, देखना, चाहना, डरना करना और भोगना—इन ६ बातो पर प्रकाश डाला है। जीव चैतन्यस्वभावी है। इस कारण कर्तामे रहने वाली क्रियाका याने जाननेका देखनेका जीव ही कर्ता हो सकता है। उस जीवसे सम्बधित पुद्गल कर्ता नही होता। जैसे आकाश आदिक पदार्थ जहाँ जीव है वहाँ आकाश है, फिर भी जानने देखनेका कर्ता आकाश आदिक नही है। इसी प्रकार जीवसे सम्बधित ये शरीर ये कर्म सब कुछ है, फिर भी ये जीवके परिणमनके कर्ता नहीं होते है। सुखकी इच्छा, कर्मरूप क्रिया और दुःखसे डरनेरूप क्रिया और अपने आपमे समझा गया जो हित अथवा अहित है उसके रचनेकी क्रिया तथा चैतन्यभावके विवर्तनरूप संकल्पसे उत्पन्न हुई भोगने रूप क्रिया इनका भी कर्ता जीव ही है, अन्य कोई नही है।

सुखकी चाहना व दुःखसे डरना रूप कार्य—सुखकी इच्छा जीव ही कर सकता है, पुद्गल नही कर सकता। दुःखसे डरनेकी बात जीव ही कर सकता है, पुद्गल नही कर सकता है। एक स्वरूपकी बात है, इस बातको सुनकर ख्याल तो यह आ सकता है कि हम जीव न होते, पुद्गल ही होते तो भला था। इतने विकल्प, सकल्प, डर, शकाएँ करनेका अवसर तो न होता, किन्तु कल्पनाएँ करना व्यर्थ है। जो पदार्थ जैसा है वह वही है। यह तो एक दुःखसे भयभीत होनेकी दृष्टिमे कल्पना उठती है। जब जीवके स्वरूपकी उत्कृष्टता सोची जाय तो सर्व लोकालोकको सर्व कालसे, सर्व देशमे, एक सामान्यतया निर्दोष रूपसे जाननेकी सामर्थ्य इस आत्मामे है। समस्त द्रव्योमे सार उत्कृष्ट तो आत्मतत्त्व है। कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हम अपनेमे से विभावोको दूर करें, मिथ्यात्वको हटायें, अज्ञानभावको न पनपने दे, सबका जैसा स्वरूप है उस ही स्वरूपके जाननहार रहे तो इस प्रवृत्तिसे हमारी विजय होगी।

जीवका घातक भाव—इस जीवका घातक भाव तो मोह राग और द्वेष भाव है। इन मोहादिक भावोसे आत्माका वह शुद्ध चैतन्यप्राण जो कि स्वय आनन्दका अविनाभावी है, शुद्ध है, सारभूत है वह बरबाद हुआ जा रहा है, और इससे मोहकी तरग जो उठती है उससे यह एकदम परोपयोगी हो गया। इसमे तो कोई सदेह नही कि जब यह जीव परोपयोगी होता है, परपदार्थोंकी ओर अपना उपयोग दौडाता है उस समयमे यह विह्वल हो जाता है और जब परसे उपयोग निवृत्ति करके एक अपने आपकी ओर ही झुकता है, अपना एकत्व स्वरूप अपनी दृष्टिमे रहता है, उस समय सकट सब विदा हो जाते है।

आत्माके एकत्व स्वरूपके स्मरणका प्रभाव—अभीके वर्तमान विचारोंसे ही देख लो—देशकी विकट स्थितिमे यद्यपि बहुत-बहुत सकटोन्मुखी विकल्पोमे उपयोग रहता है और विचारणीय बाते भी होती है, फिर भी जिस कालमे यह दृष्टि जगे कि यह मैं आत्मा केवल निज स्वरूपमात्र हू, अमूर्त हू, न मेरा कोई देश है, न मेरा कोई घर है, न मेरा कोई शरीर है, ये तो क्षणिक समागम है। आज यहाँ उत्पन्न है, कल दूसरी जगह उत्पन्न हैं। मोही जीव जहाँ उत्पन्न होते है मोहवश वहाँको ही अपनाए रहा करते है। यह मै आत्मा तो एक पक्षीवत् यत्र-तत्र विहार करने वाला हू। यह आत्मा आज इस भवमे है, पहिले किसी भवमे था, आगे किसी भवमे होगा। जब इस मुझ एकाकी आत्माके सम्बधमे एकाकीपनकी दृष्टि जगती है और तब ही इसे कुछ सन्तोष भाव होता है।

ज्ञानपद्धतिपर सन्तोषकी निर्भरता—सन्तोष बाह्य पदार्थोंसे नही होता, किन्तु यह सब ज्ञानकी कलावोपर निर्भर है। ज्ञान किस पद्धतिका हो कि सन्तोष मिले, और किस पद्धतिका हो कि असन्तोष मिले ? इसका खूब विश्लेषण कर लो तो अन्तमे यही सिद्ध होगा

कि सब कुछ ज्ञानपर निर्भर है। हमारा सारा भविष्य किस प्रकारका बनेगा, यह हमारे ज्ञान पर निर्भर है। हम अपने ज्ञानका प्रयोग ज्ञानस्वभावपर करते है, अपनेको अकेला लखते है अर्थात् केवल चैतन्यस्वरूपमात्र सबसे न्यारा। मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नही, जगतमे अनन्त जीव है, ऐसे ही समागममे आये हुए ये भी जीव है। वस्तुस्वरूपमे देखो तो सारे जीव मेरे स्वरूपसे न्यारे है, त्रिकाल भी मेरा और दूसरे जीवका कोई सम्बन्ध नही हो सकता है, एकता नही हो सकती। जब भी अपने एकत्वस्वरूपपर दृष्टि जाय तो वहाँ शान्ति मिलती है।

तात्त्विक क्रियाके अवगमका प्रयोजन एकत्वविभक्तदर्शन—इस गाथामे इस जीवका शुद्ध और अशुद्धपनेका विभाग न करके एक सर्व साधारण, अन्य-अन्य साधारण कार्योको बताया जा रहा है। यह जीव पदार्थोके जाननरूप क्रियाका कर्ता है। इस जीवके साथ जो यह शरीर है, यह कर्म है, ये कोई भी इस जानन क्रियाके कर्ता नही है, इसी प्रकार देखनेरूप क्रियाके कर्ता नही है, ये है, पर ये रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है। यह शरीर था कहाँ? जीव तो पूराका पूरा यह पहिले भी था जिस गतिसे मरकर आया है, इसने जिस गतिमे अपना स्थान बनाया, रुक गया, वहाँ जो बीजभूत शरीरके कारणभूत जो थोडीसी शरीरवर्गणाये थी वे ही इस जीवके सम्बधको पाकर बढ-बढकर आज अगोपाङ्गके रूपमे इतनी फैल गयी है। यह शरीर था कहाँ मेरा? यह किस सम्बन्धसे इस प्रकारसे बनकर तैयार हुआ है? माया रूप है। और यह शरीर रहेगा कब तक? जैसे हम दूसरोके शरीरको देखा करते है। जीवके चले जाने पर लोग अपने घरमे उसे दस–पाँच मिनट भी ठहरने नही देते, जल्दीसे जल्दी निकालकर जलानेकी या जमीनमे गाडनेकी कोशिश करते है। यह शरीर मेरा है कहाँ? जिस शरीरकी ममता करके सारा जीवन किरकिरा बना दिया जाता है। मैं तो इन सबसे भिन्न एक ज्ञानमात्र त्रिकालस्थायी तत्त्व हू। यह जीव ही जानने और देखनेका कर्ता है।

चाहक्रिया—सुखके परिणमनकी ओर लगाव लगानेका जो यत्न है उस ही का नाम इच्छा है। इच्छा भी यह किसकी करता है? मुझे सुख मिले। प्रत्येक जीव सुख चाहते है और दु:खसे डरते है। जिसमे जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यताके अनुसार सुख प्राप्त करनेका यत्न करता है। दो इन्द्रिय जीव भी सुखी रहनेके लिए अपनेमे लिपट जायें, जमीन मे बिल बना ले, जिन-जिन बातो को वे करते हैं वे सुखकी चाहसे ही करते है। पशुपक्षी जो जो भी कार्य करते हैं वे सुखकी चाहसे ही तो किया करते है। हाँ मनुष्य इन सब जीवोंसे बहुत बडा जानवर है। जानवर मायने जो ज्ञानमे बडा है। यह अपना महल बनाये, वैभव बनाये, ऐश्वर्य बढाये। कितने-कितने साज शृङ्गार और कलावोसे यह सुख पाना चाहता है।

तृष्णामे निरर्गल अभिलाषा—सर्व सुविधा होनेपर भी मनुष्यके सुख पानेकी इच्छा की सीमा नही होती। क्योकि जितने भी जो कोई सुख प्राप्त हैं मोहके कारण उसे वह सुख

नही जचता है। आगेकी दृष्टि होती है, मुझे और भी सुख चाहिए। यो पाये हुए समागमोमे जो भी सुख प्राप्त होता है उसमे सन्तोष नही होता है। जैसे कोई पुरुष एक लाखका धनी है तो उसे इस एक लाखके समागमका तो सन्तोप नही होता। उसके यह इच्छा रहती है कि मै और धनी बनूं तो उस तृष्णामे पाये हुए वर्तमान समागमका भी सुख नही ले पाता है। तो इच्छामे यह इतना बढा हुआ है। इस इच्छाको यह जीव ही करता है विभाव नही करते, शरीर नही करते।

दु:खसे डरनेका कार्य—दु खसे डरनेकी बात तो प्राय: सब ससारी जीवोमे पायी ही जाती है। हर एक कोई दु:खसे डरता है और उन दु खोमे सबसे बडा दु ख माना जाता है मरणका। प्रत्येक जीव मरणसे डरते है और कोई लोग चाह-चाहकर मरण करते है। कोई लोग यह सोचते है कि बुरी तरहसे जिये तो क्या जिए। इससे तो मरना अच्छा है। वे बुरी तरहसे जीनेकी स्थितिसे इतना डरे है कि वे मरणको पसद करते है, मगर दु खसे भयशीलता प्रत्येक प्राणीमे पायी जाती है।

हिताहितक्रिया—५ वी बात कही गई है कि यह जीव हित और अहितको करता है। शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग—तीन प्रकारके उपयोग ही तो है। कोई जीव शुभोपयोगका कर्ता है। कोई अशुभोपयोगका कर्ता है और कोई शुद्धोपयोगका कर्ता है। पर ये सभीके सभी जीव इस भावसे कर्ता हो रहे है, इस पद्धतिसे कर्ता हो रहे है कि यह हित है, इसे किया जाय और यह अहित है, इसे न किया जाय। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अशुभोपयोगसे अपना हित मान रहे है और शुभोपयोग व शुद्धोपयोग उन्हे विपदा जच रहे है। उनके लिए उनका चित्त नही चाहता है। वे अशुभोपयोगसे हित मानते है और शुभोपयोगसे अहित मानते है, पर हितको करना और अहितको न करना, इस प्रकारकी जो वृत्ति है, इस क्रिया को करने वाला यह जीव ही हो सकता है, अजीव नही होता।

उपभोगक्रिया—छठवी बात यह कही गई है कि यह जीव शुभ अशुभ कर्मोका फल रूप जो उपभोग करता है, इष्ट विषयोका भोगना, अनिष्ट विषयोका भोगना अर्थात् सुख भोगना दु ख भोगना इनका भी कर्ता अर्थात् सुख दु.खका भोक्ता यह जीव ही है अन्य कोई नही हो सकता। जीव वास्तवमे भोगता किसे है? यह अशुद्ध जीव वास्तवमे अपने अशुद्ध भावोका भोक्ता हो रहा है। अपने परिणमनके सिवाय अन्य पदार्थोके परिणमनको यह जीव भोग नही सकता है। पर व्यवहारदृष्टिसे और उसमे भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे देखा जाय तो यह द्रव्यकर्मका भोक्ता है और उपचरित दृष्टिसे देखा जाय तो यह विषयोका भोक्ता है, भोजनका भोक्ता है, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकका भोक्ता है, ये बातें उपचरित दृष्टिसे हैं।

नयविभागसे उपभोगका वर्णन—भोगनेके सम्बन्धमे ये तीन दृष्टिया लाइए। कोई

लोग यह कहते है कि यह वैभवका भोक्ता है। तो कोई लोग यह कहते है कि यह कर्मफलका भोक्ता है, कर्मोंका भोक्ता है, तो कोई लोग यह कहते हैं कि यह तो अपनी कल्पनाओंका भोक्ता है। ये तीन बातें तीन नयोंसे सही होती हैं। उपचारनयसे तो यह जीव विषयोंका भोक्ता है, अर्थात् विषयोंका और सुख दु.खका कुछ सम्बध नही है, केवल भोगके परिणाम होनेके समय ये विषय ज्ञानके विषयभूत हो रहे है। लेकिन चूकि उनका आश्रय कर-करके यह अपने परिणाम बनाता है, इस कारण उनका भोक्ता बताया जाता है। कर्मोंके साथ इस जीवका निमित्तनैमित्तिक सम्बध है। अशुभ कर्म उदयमे आते है तो इस जीवके अशुभ भाव बनता है, तो चूंकि उन कर्मोंका निमित्त पाकर यह विभाव बनता है, अत. कहा जाता है कि यह जीव कर्मोंको भोगता है, पर निश्चयनयसे देखा जाय तो यह जीव अपने आपमे जो सुख दु खरूप परिणमन होता है उस परिणमनका भोक्ता है। कोई जीव शुद्ध हो तो शुद्ध निश्चयसे देखनेपर वह केवलज्ञानादिक रूप अनन्त चतुष्टय परिणमनको भोगता है। इस प्रकार शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध भावोंका भोगने वाला भी जीव है, अन्य पुद्गल आदिक नही है।

नव पदार्थोंमे प्रथम पदार्थका प्रकरण—यहाँ इस गाथासे यह सिद्ध किया गया है कि ऐसे-ऐसे असाधारण कार्य आत्माके ही सम्भव है, पुद्गल आदिकके सम्भव नही है। ९ पदार्थों के अधिकारमे यह जीवपदार्थका वर्णन चल रहा है। इनका सम्बध मोक्षमार्गसे है। मोक्ष-मार्ग जिसके प्रकट होता है उसके प्रयोजनीभूत जिन नवपदार्थोंका श्रद्धान चलता है, उनमे से जीवपदार्थका यह वर्णन है। अब जीवपदार्थके वर्णनके समय उपसहार रूपमे यह गाथा आ रही है।

एवमभिगम्म जीव अण्णेहि वि पज्जयेहिं बहुगेहि।
अभिगच्छदु अज्जीव णाणतरिदेहिं लिंगेहि ॥१२३॥

अजीव पदार्थके वर्णनकी भूमिका—इस प्रकार अन्य भी अनेक पर्यायोसे आत्माको जानकर ज्ञानसे भिन्न जो स्पर्श, रस, गध, वर्ण आदिक भाव है उन चिह्नोसे अजीवकी पहि-चान करो। यह गाथा जीव पदार्थके वर्णन और अजीव पदार्थके वर्णनकी सधिरूप है। जैसे कुछ ऊपर चिह्न बताये गए है कि इन-इन परिणमनोको देखकर हम समझें कि यह जीव है इसी प्रकार व्यवहारनयसे इन सब परिणमनोसे जो कर्म ग्रन्थोमे बताये गए है—जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान इनके भेद प्रभेद उन सब प्रसगोके द्वारा भी उन विचित्र विकल्पोसे भी तुम जीवतत्त्वकी पहिचान कर लो।

जीवका व्यवहारनयसे परिचय—ये गुणस्थान अजीवमे नही होते, जीवमे ही होते है। जीवके ही सम्यक्त्व गुण और चारित्रगुणकी अवस्था जो होती है वे गुणस्थान है, ये जीवके परिणमन है। जीव समास यद्यपि इन जीव समासोमे जो एक द्रव्य अश है वह पुद्गल है,

लेकिन यह सब कुछ होना जीवके सम्बध विना नही बनता। इस कारण जीवसमाससे भी हमे जीवका परिचय मिलता है। गतिमार्गणा नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदिक गतिया ये सब जीवकी ही तो खोज कराती है। यह जीव है, यह एकेन्द्रिय है, यह दोइन्द्रिय है, यो इन्द्रियोके द्वारा भी जीवकी खोज बनती है। यह सब वर्णन व्यवहारनयका है। इन गुणस्थान आदिक के द्वारा जीवका परिचय कराना व्यवहारनयसे है।

व्यवहारनयसे जीवका विविध परिचय—निश्चयनय तो केवल एक सहजस्वभावको दिखाया करता है। यह नाना परिणतिया वताने वाला व्यवहारनय ही है। ये ६ प्रकारके काय है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। यद्यपि ये सब शरीरके पिण्ड है, रूप, रस, गध, स्पर्श इनमे है, इस कारण ये दृश्यमान अजीव हैं। किन्तु ऐसा काय, आकार जीवके सम्बधके विना नहीं बन सकता। तो उन कायोका निर्णय करते हुए जीवका परिचय होता है, और भीतर चले तो आत्माके प्रदेशोका परिस्पद निरखा। उन प्रदेश परिस्पदोको निरखकर हम जीवको ही ढूंढ रहे है। यह मनोयोग है, यह वचनयोग है, यह काययोग है—यो निरख-निरखकर हम उस जीवका ही परिचय पा रहे है। यो ही और भीतरी अनुभवपर दृष्टि डालते है तो वेद कषायरूपसे हमे जीवका परिचय मिलता है। तो इन वर्गणावोंसे हमने व्यवहारनयसे जीव ही जाना। और भीतर चलें तो ज्ञान द्वारा ज्ञानकी चेष्टावो से हमे इस ज्ञाताका ही परिचय मिला। यह मतिज्ञानी है, यह श्रुतज्ञानी है, इस प्रकार ज्ञानके उपायसे हमने जीवको ही खोजा। सयमके उपायसे भी तो हम जीवकी पहिचान करते हैं कि यह जीव सयमी है, यह असयमी है। इस प्रकार सयमासयमके भेद वताकर हम जीवका ही तो परिचय पाते है। यो ही दर्शन, लेश्या इन सब साधनोके द्वारा हम जीवका परिचय पाते है, पर यह सब परिचय व्यवहारनयसे है।

निश्चयनयसे जीवपरिचयकी पद्धति—निश्चयनयसे तो दो प्रकारकी पर्यायोमे परिचय मिलेगा—अशुद्ध पर्यायोमे, शुद्ध पर्यायोमे। मोह रागद्वेषके परिणमनसे यह विश्वरूपता, नानारूपता उत्पन्न हुई है। अशुद्ध निश्चयनयसे हम इन अशुद्ध पर्यायोसे जीवका परिचय पाते हैं। और जब ये अशुद्ध परिणतिया नही रहती हैं तब शुद्ध निश्चयनयसे केवलज्ञानादिक शुद्ध परिणमनोसे हम जीवका परिचय पाते है। जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्वमे गतिरहित, इन्द्रियरहित—इन भेदोसे हम शुद्ध जीवका परिचय पाते है।

अजीवपरिचय—इस प्रकार जीवका परिचय प्राप्त करके अब उस अजीवका भी परिचय पावो जिस अजीवके सम्बधसे जिस अजीवमे चित्त फसाकर, जिस अजीवके प्रेमी बन-बनकर हमने अब तक नाना क्लेश भोगे है। एक अजीवका प्रेम न होता तो इस जीवको कष्ट क्या था? अब भी जितना कष्ट है वह अजीव तत्त्वके प्रेमका कष्ट है। जिसमे चैतन्यस्वभाव

नही है, जो ज्ञानसे अत्यत जुदा है, जो अनेक लिङ्गोसे, मायाजाल प्रपचोसे सहित है, आकार-प्रकार, रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक लिङ्गोके द्वारा जीवको पहिचानना, सभी अजीवोको पहिचानना। कोई अजीव जीवसे सम्बद्ध है, कोई अजीव जीवसे सम्बद्ध नही है, मगर उन सभी अजीवोको चाहे वह जीवसे सम्बद्ध हो, चाहे जीवसे असम्बद्ध हो उनसे भेदबुद्धि बनाओ। भेदबुद्धि बनानेके लिए अजीवको भी जानना होगा।

अजीवसे पृथक् होनेके उपायका अन्वेषण—जीव और अजीव जब अनादिकालसे एक सम्बधमे चले आ रहे है, एक क्षेत्रावगाही हो रहे है, निमित्तनैमित्तिक बन्धन चल रहा है तो इस सकटको हम दूर तब कर पायेंगे अर्थात् इस अजीव तत्त्वको हम अपने स्वरूपसे जुदा तब ही कर पायेंगे जब हम पहिले समझ तो लें कि ये जुदे हो सकते है। ये अजीव मुझ जीवस्वरूपसे जुदे हो सकते है, यह बात तब समझी जा सकती है जब वर्तमानमे ही हमे ऐसा परिचय मिल जाय कि ये तो अब भी न्यारे ही है। इस अजीवका स्वरूप इस अजीवमे है, इस जीवका स्वरूप इस जीवमे है। जीवमे अजीव त्रिकाल नही आता, अजीवमे जीव त्रिकाल नही आता, इस प्रकारका पार्थक्य हमे वर्तमानमे भी समझमे आये तो यह बात प्रतीतिमे बन जायगी कि ये किसी दिन एकदम जुदे-जुदे हो सकते है। उस कैवल्यस्वरूपको पानेके लिए हमे अभीसे इन पदार्थोंसे भेदविज्ञान करके 'यह मैं आत्मा केवल निज चैतन्यस्वरूपमात्र हू' ऐसी प्रतीति करनी चाहिए। इस प्रकार इस गाथा तक जीवपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ।

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीव गुणा,
तेसि अचेदणत्त भणिद जीवस्स चेदणदा ॥१२४॥

उपादेय व अनुपादेय पदार्थोंका निर्देश—जीव पदार्थका व्याख्यान करके अब जीव पदार्थसे विपरीत जो स्वरूप रखते है उन अजीव पदार्थोंका व्याख्यान किया जा रहा है। ये अजीव पदार्थ शुद्ध जीव पदार्थसे भिन्न है और ऐसा ही समझमे लानेके लिए अजीव पदार्थका वर्णन किया जाता है। इस जीवके उपादेयभूत शुद्ध जीव पदार्थ है अर्थात् इस जीवमे जो सहज निज ज्ञायकस्वभाव है तावन्मात्र ही मैं हू, इस प्रकारकी रुचि करना, ऐसी ही दृष्टि करना और इसमे ही रमण करना, यही है शुद्ध जीवपदार्थकी उपादेयता। यह शुद्ध जीव पदार्थ अशुद्ध समयसार नामसे कहा जाता है। अपने आपमे जो औपाधिक भाव जगे है उन औपाधिक भावोका स्वभावमे अधिष्ठान न मानकर केवल एक चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको निरखना, यही है शुद्ध समयसारका ग्रहण। जीवादिक जो ९ पदार्थ हैं उनका जो कुछ भी वर्णन है उन सब वर्णनोमे मर्मभूत अन्तर्गत लक्ष्य यही एक शुद्ध समयसार है। जो केवलज्ञानादिक अनन्त गुणोके स्वरूप वाला ह अर्थात् जिस स्वभावका शुद्ध विकास ही अनन्त ज्ञानादिक कहा जाता है जिसमे भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मका अभाव है। जहाँ नर-नारकादिक गतियोका

भाव है, मतिज्ञानादिक विभाव गुणोका अभाव है, ऐसा जो शुद्ध चैतन्यमात्र जीवास्तिकाय है वह उपादेयभूत है, उससे विलक्षण जो अजीव पदार्थ है उनका इस गाथामे वर्णन किया गया है।

चेतक और अचेतक पदार्थ—आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममे जीवके गुण नही है, इस कारण इन पदार्थोंको अचेतन कहा गया है। अचेतनता तो केवल जीवमे है। चेतकपना उसे कहते है जो स्व और परका परिच्छेदक हो। जीवमे समस्त सत्के ज्ञान करने का स्वभाव है। ज्ञानमे स्वय ऐसी सीमा नही पडी है कि ज्ञान यहाँ तक ही जाने। यह ज्ञान पदार्थके निकट जा जाकर जानता होता तो उसमे सीमा भी अनुमानमे लायी जा सकती थी। जहाँ-जहाँ यह ज्ञान जाता वहाँ वहाँका ज्ञान करता, किन्तु ज्ञानमे ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान अपनी जगह अपने आधारमे रहता हुआ यह जो कुछ सत् है उस सबका ज्ञाता हो जाता है। यो तीन लोक, तीन कालवर्ती समस्त पदार्थोका परिच्छेदक यह जीव ही है, क्योकि चेतकता इस जीवमे ही पायी जाती है। बाकीके समस्त द्रव्य चूकि अचेतकताका सामान्यतया उनमे सद्भाव है अत सभी अचेतन है। एक जीवमे ही चेतनता है क्योकि समस्त जीवोमे चेतनत्व पाया जाता है।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्म च अहिदभीरुत्त।
जस्स ण विज्जदि णिच्च त समणा विति अज्जीव ॥१२५॥

अजीवमे जीवकी विशेषताओका अभाव—जिसमे सुख दु ख होना, हितमे लगना, अहित क्रियायोसे डरना—ये बातें नही पायी जाती श्रमण साधुसतजन उसे अजीव कहते है। सुखका अनुभवन करना, दु खका अनुभवन करना, पदार्थका जानना, हितमे प्रवृत्ति करना, अहितसे डरना—ये सब बातें जीवमे ही दृष्टगत होती है। ये ५ बातें जिस पदार्थमे नही हैं साधु सतजन उसे अजीव कहते है। अज्ञानी जनोने तो अपना हित स्त्री पुत्रादिकमे चन्दनमाला आराम शृङ्गार आदिमे समझा है। उसका कारण क्या है? जिसमे अज्ञानी जीव हितरूप समझते हैं ऐसे वैभवके समागमोका कारण क्या है? मूल उत्तर तो पूर्वबद्ध पुण्यका उदय है। दान पूजा आदिक शुभपरिणामोके फलमे पुण्य होता है और पुण्यसे यह वैभव प्राप्त होता है। अब उन प्राप्त वैभवोका उपयोग करना यह ज्ञानी और अज्ञानीका जुदा-जुदा काम है। अज्ञानी जीव इन वैभवोसे अपना हित मानते है और ज्ञानी जीव उन वैभवोसे अपना हित नही मानते।

हित और अहितका विश्लेषण—ज्ञानी जीवका तो हित अक्षय अनन्त सुख है। वह अविनाशी अनन्त सुखमे स्वहित मानता है और उसके कारणभूत है परमात्मद्रव्य। जो निश्चय रत्नत्रयमे परिणत है ऐसा यह चैतन्यतत्त्व जो चेतन अपने आपके स्वरूपकी रुचि

करता है, अपने ही स्वरूपका ज्ञान करता है और अपने ही स्वरूपमें परिणमन करता है ऐसा यह चैतन्य पदार्थ ही हितरूप है, शरणभूत है, ऐसा भाव ज्ञानी जीवके रहता है। यहांके ये समस्त दुःख ज्ञानी जीवको अहितरूप लग रहे है। आकुलताको उत्पन्न करने वाले ये समस्त मोह विभाव ज्ञानी जीवको अहित जच रहे है। उस मोह विभावका कारण है मिथ्यात्व, रागादिकमे परिणामा गया बसा हुआ आत्मद्रव्य। इस प्रकार हित क्या है और अहित क्या है, इसकी परीक्षा जीवद्रव्य ही कर सकता है। भले ही कोई जीव अज्ञानवश अहितको हित मान ले, हितको अहित मान ले, किन्तु हित अहितके माननेकी कला जीवद्रव्यमे ही पायी जाती है।

जीव और अजीवमें भेद—हित और अहितकी परीक्षा करने रूप जो एक चैतन्य धर्म है वह चैतन्यधर्म विशेष अजीवके नही पाया जाता है, इस कारण आकाश आदिक सर्व पदार्थ अचेतन है। एक जीवद्रव्य ही चेतन है, इस प्रकार लक्षणके भेदसे जीव जुदा है, अजीव जुदा है अथवा अजीवमे व्यवहारमे आने वाला पदार्थ पुद्गल है। तो यहाँ यह ज्ञान कराया गया कि जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है। जुदा होनेपर भी आज जीव और पुद्गलका इतना घनिष्ट सयोग है, जीव और पुद्गलका घनिष्ट सयोग होनेपर भी उनमे ऐसा स्वरूप बदलता है जो उनका भेद प्रकट कर दे। भेदविज्ञानका कारणभूत स्वरूप अब अगली दो गाथावोमे कहा जा रहा है।

सढाणा सघादा वण्णरसप्फासगधसद्दा य।
पोग्गलदव्बप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥१२६॥
अरसमरूवमगधमव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥१२७॥

संस्थानका आधार—पुद्गल द्रव्यमे बहुतसी गुण और पर्यायें है, जैसे कि सस्थान, सघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गध और शव्द। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पर्यायें पुद्गलद्रव्यमे है। जिनको निरखकर यह निर्णय होता है कि यह पुद्गल द्रव्य है। सस्थान नाम आकारका है। द्वारका आकार, किवाडका आकार, शरीरका आकार जो-जो भी पदार्थ लम्बे, चौडे, मोटे आदिक आकारमे दिख रहे है ये आकार पुद्गलद्रव्यके धर्म है। आकाशका तो कोई आकार है ही नही, वह तो असीम है। धर्म, अधर्मद्रव्यका भी आकार नही है, किन्तु असख्यातप्रदेशी अस्तिकाय है तो भी लोकाकाशप्रमाण फैला हुआ है और जो एक पूरा आकार है इसका तो आकार क्या कहा जाय? जो अनादि निधन आकार है, जिसमे न कभी एक प्रदेशकी कमी होती है, न कभी एक प्रदेशकी बढोतरी होती है। जितने है ये धर्म अधर्मद्रव्य वे सब उतने ही रहेगे। ऐसी जहाँ एकरूपता ही है शाश्वत, उसे आकार क्या कहेगे? जैसा है तैसा है। जहाँ परिवर्तन होता है, अभी कुछ है, अभी कुछ बना वहाँ आकारकी आभा होती है। यो ही

कालद्रव्य एकप्रदेशी है, वह भी निराकार है। जीवद्रव्य चित्प्रकाशात्मक है उसका स्वरूप आकारकी मुख्यतासे नही है। वह भावप्रधान तत्त्व है, पर वह चैतन्यप्रकाश चूकि अस्तिकाय है और इसके साथ अनादिसे उपाधिका सम्बध है, सो उपाधिके भेदसे इसमे आकारके भेद हो रहे है। जब यह जीव जिस शरीरको ग्रहण करता है उस शरीरप्रमाण इसका आकार हो जाता है। इस जीवमे स्वय अपने आपके गुणके कारण अपने आपमे आकार नही है और यह आकार जीवका सहजस्वरूप नही है। आकार पुद्गल द्रव्यमे ही हुआ करता है।

संघातका उपादान—इसी प्रकार सघात विछुडे हुए मिल जायें, एक पिण्डरूप वन जायें, ऐसा सघात होना भी पुद्गल द्रव्यमें सम्भव है। जीव-जीव मिलकर पिण्ड नही वनते अथवा जीवके साथी अन्य कोई द्रव्य मिलकर पिण्ड नही बनते, केवल पुद्गल पुद्गल ही मिलकर ऐसे पिण्ड वन जाते है, एक स्कध बन जाता है। ऐसा सघात होना यह पुद्गलद्रव्यमे ही सम्भव है।

वर्ण, रस व स्पर्शका आधार—वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद और इनके तीव्र मदसे अनेक भेद और इन रगोके मेलसे बने हुए अनेक प्रकारके वर्ण ये समस्त वर्ण पुद्गल द्रव्यमे ही हुआ करते है। पुद्गलको छोडकर अन्य पदार्थोंमे नही होता। पुद्गल ही मूर्तिक पदार्थ है। अमूर्त पदार्थमे वर्ण नही होता है। इसी प्रकार खट्टा, मीठा, तीखा, कडुवा, कषैला ये ५ प्रकारके रस और इनके तीव्र मद भेदसे ये ही अनेक प्रकारके रस और इन रसो के मेलसे बने हुए नाना प्रकारके रस, ये सब पुद्गलमे ही सम्भव है। यद्यपि इन रसोका जानने वाला जीव है, इसमे रस है, इसका कौन अनुभव करे ? इसे समझने वाला जीव है, लेकिन यह जीव केवल समझता है, रस तो उन पुद्गलोमे उन पुद्गलोके कारण अपने आप है। रस भी पुद्गलद्रव्यमे उत्पन्न हुआ परिणमन है। इसी प्रकार स्पर्श मूलमे तो ये चार प्रकारके हैं—स्निग्ध रूक्ष शीत और उष्ण, पर इस परमाणुका जब सघात हो जाय, स्कधरूप स्थिति बन जाय तो इसमे भारी, लघु, कोमल और कठोर—ये चार परिणमन भी हो जाया करते है। ये ८ प्रकारके स्पर्श पुद्गलद्रव्यमे ही है, अन्य किसी भी द्रव्यमें नही है।

गन्ध और शब्दका उपादान—इसी प्रकार यह गध जो कि सुगध और दुर्गंधके भेदसे २ प्रकारका है, किसीको सुगध इष्ट है, किसीको दुर्गन्ध इष्ट है और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार वह इन गधोमे रमण करता है, पर यह गध तो पुद्गलमे ही सम्भव है, इसका जाननहार यह जीव है। यह गध भी पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न हुआ परिणमन है। इसी प्रकार शब्द यह पुद्गलद्रव्यकी गुणपर्याय नही है, किन्तु महास्कधके सघट्टनका निमित्त पाकर भाषावर्गणा जातिके स्कधोमे ध्वनिनामक यह द्रव्यपरिणमन होता है। शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श गुणकी परिणति नही है, किन्तु उन द्रव्योका ही एक इस प्रकारका परिणमन है। शब्द भी पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न

हुआ पर्याय है। यह तो जीव और पुद्गलके सयोगमे भेदविज्ञान करानेके लिए पुद्गलके परिणमनकी बात कही है।

जीवकी अरसादिरूपता—अब जीवतत्त्वकी बात कहते है। यह जीव रसरहित है। रस गुण वाला हो तो रस वाला कहा जाय। रस गुणसहित तो पुद्गलद्रव्य ही होता है। यह आत्मा रस गुण वाला नही है और न इसमे रस गुणके कोई परिणमन आते है। रसका ग्रहण करने वाली यह पौद्गलिक जिह्वा नामकी द्रव्येन्द्रिय है, लेकिन रहो, यह एक बाह्यसाधनभूत है, परन्तु यह जीव इन्द्रियरूप भी नही है और इस जिह्वा द्रव्येन्द्रियके कारणसे जो रस का ज्ञान होता है वह रसका ज्ञान भी जीवस्वरूप नही है। वह भावेन्द्रिय रूप ज्ञान भी एक विकारभाव है, अथवा यह रस जैसे परिच्छेद्य होता है, ज्ञेय होता है इसी प्रकार इस द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियसे यह आत्मा ज्ञेय नही होता है। भले ही यह जीव रसके आस्वादनका परिच्छेदक है, वह क्षायोपशमिक भाव है, भावेन्द्रियरूप है, पर भावेन्द्रियरूप यह जीव नही है। यह तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है तथा भावेन्द्रियके कारणसे यह रसकी तरह ज्ञानमे भी नही आता है। यह तो केवल सत्को ग्रहण करने वाला अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप ज्ञानमात्र है। रसके जानमरूप जो खण्ड ज्ञान है, रसको जाने ऐसा जो इस अखण्ड ज्ञानमे एक खण्डपना उत्पन्न होता है वह खण्डपना जीवका स्वरूप नही है। यह रस रूप भी नही होता। यह जीव अरस है। इसी प्रकार जीव रूपसहित भी नही गधसहित भी नही और शब्दसहित भी नही।

जीवकी अव्यक्तता—यह आत्मा अव्यक्त है। पुद्गलकी नाई यह आत्मा ज्ञेय नहीं है अथवा कभी-कभी यह क्रोधादिक कपायोमे व्यक्त हो जाता है। समझमे आने लगता कि इसके क्रोधकपाय जगी है, इसके मान, माया, लोभ कपायें जगी है। क्रोधादिक कपायोका समूह भी कभी-कभी व्यक्त होने लगता है। निर्मलस्वरूपकी जिन्हे उपलब्धि नही है, ऐसे जीवो की जो मिथ्यात्व रागादिक भावोंमे परिणति हो रही है ऐसे मन वालेके ये क्रोधादिक कपायें व्यक्त होनेका परिणाम होता है। पर यह परमात्मतत्त्व मेरा सहजस्वरूप है, इस तरह व्यक्त नही हो पाता है। यह तो स्वसम्वेदन ज्ञानद्वारा अन्तरात्मा पुरुषोको अपने अत स्वरूप निर्विकल्प परमसमाधिमे व्यक्त होता है। यह आत्मतत्त्व अव्यक्त है।

जीवकी असंस्थानता——इस आत्मामे किसी प्रकारका सस्थान नही है। गोल हो, चौरस हो आदिक किसी भी प्रकारके सस्थान इस आत्मामें नही है। यह अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप है, परमात्मरूप है। यह संस्थान आदिक जो कर्मप्रकृतियोमे बताये गये है उनके उदयसे इस भवमे सस्थान होता है। वह एक तो पौद्गलिक कर्मोके उदयसे उत्पन्न होता है दूसरे वह संस्थान रचना पौद्गलिक कर्मोकी रचना है। यो यह असस्थान है।

जीवका अलिङ्गग्रहणत्व—यह आत्मतत्त्व किसी चिह्नके द्वारा ग्रहणमे नही आता। जैसे धुवा देखकर हम अग्निका ज्ञान कर लेते है इस तरह कदाचित् हम कपाय आदिक देखकर इस अशुद्ध आत्माका ज्ञान तो कर लें, परन्तु जो शुद्ध आत्मा है उसका अनुमान नही बनता। उसका तो या प्रत्यक्ष होगा या कुछ न होगा। जैसे हम एक परोक्ष रूपके ज्ञानसे अशुद्ध आत्माको भाँप लेते है, इस प्रकार शुद्ध आत्माका भाँप परोक्ष ज्ञानसे नही होता, या तो भाँप होगा नही या भाँप होगा तो प्रत्यक्ष रूपसे होगा। रागादिक विकल्पोंसे रहित निजके स्वसम्वेदन ज्ञानसे प्रकट जो परम आनन्द है उस आनन्दमे स्थित उस आनन्दमे परिणत हुआ आनन्द रस जलसे जो सर्वप्रदेशोमे भर गया है, ऐसे परमयोगसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है। यह आत्मा अलिङ्ग ग्रहण है। किसी लिङ्गके द्वारा इस आत्माका ज्ञान नही होता।

जीवकी चैतन्यस्वरूपता—यह आत्मतत्त्व तो चैतन्यगुण वाला है। समस्त द्रव्योको, उनकी गुण पर्यायोको भूतकाल, भावीकाल और वर्तमान कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है वही तो सर्वज्ञ है। ऐसी सर्वज्ञताकी शक्ति प्रत्येक ससारी जीवमे पायी जाती है। वही शुद्ध चैतन्य है। हम अपने आपके इस चैतन्यस्वरूपको न जाननेके कारण अभी तक इस जगजालमे भटकने वाले बन रहे है। यह भटकना तो मजूर हो रहा है, पर ऐसा साहस नही किया जा सकता कि किसी क्षण हम समस्त परभावोसे भिन्न केवल निज सहज स्वरूपमात्र अपने आपको मान ले, हठ कर लें, एक दृढता बना ले, मैं तो ऐसा एक अमूर्त चैतन्यतत्त्व ही हू, सबसे निराला हू, ऐसा यह मोही जीव माननेको तैयार नही हो पा रहा है, इसी कारण ससारकी भटकना बन रही है।

देहबन्धन—यह जीव कभी मगरमच्छोके थूलमथूला शरीरमे बँधकर रहता है, कभी कीडा-मकोडा पेडोंके शरीरमे बँधकर रहता है। इस जीवकी कैसी अवस्था बन रही है? यह अवस्था अज्ञानके कारण है। हम अपने आपको सबसे विभक्त केवल चित्स्वरूपमात्र अनुभव नही करते। और यह अनुभव करते है कि जो यह देह है सो मैं हू। यह देह ठीक रहे तो मैं ठीक हू, इस देहका वियोग हो, मरण हो तो यह मेरा मरण है।

स्वरूपपरिचयके बिना कल्पनाबन्धन—लोग तारीफ करते है एक दूसरेकी, पर तारीफ करने वालेकी दृष्टि उस चैतन्यतत्त्वपर कहाँ रहती है? उनकी दृष्टि इस जड विभूति पुद्गल पदार्थोंपर रहती है, और यह जीव कल्पनामे यह मान लेता कि इसने मेरी स्तुति की है, इसने मेरी प्रशसा की है। इतना मोहका जाल फैला हुआ है। हम परमात्माकी जातिके हैं, मेरा ऐसा शुद्ध स्वरूप है। जो सिद्ध भगवान है, जो केवल रह गए है, उस केवल परमात्मतत्त्वमे कहाँ आकुलता है, कहाँ चिता है, कहाँ रग है, कहाँ तरग है? वह तो एक शुद्ध अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्दका अनुभव करने वाला है। ऐसी ही शक्ति हम आप सबमे मौजूद

जीवके यह अध्यवसान परिणाम होता है और उस परिणामसे फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म का बन्धन होता है, और उन कर्मोंसे फिर गतियोमे गमन होता है।

गतिगमनसे देह, इन्द्रिय, विषयग्रहण व रागद्वेषका पूर्वकारणक उद्भवन—यहाँ तक इतनी बात कही गई है। यह है लो ससारी जीव। इससे उठा अध्यवसान परिणाम। उस परिणामसे हुआ पुद्गल कर्मका बन्ध और उस पुद्गल कर्मके बन्धसे उदयकालमे हुआ नरकादिक गतियोमे गमन। इसके पश्चात् फिर इतनी बात और समझना कि गतियोमे गमन हुआ, उससे मिला देह, और देहसे हुई इन्द्रिया, और इन्द्रियोसे हुआ विषयोका ग्रहण और विपयो के ग्रहणसे फिर हुआ रागद्वेष।

पुनः पुनः चंक्रमण—अब वही चक्कर फिर लगावो। उस रागद्वेषसे हुआ कर्मबध, कर्मबन्धसे हुआ कर्मोंके उदय कालमे गतियोमे गमन, गतियोके गमनसे मिला देह, देहसे हुई इन्द्रिया, इन्द्रियोसे किया विपयोका उपभोग, उससे हुए रागद्वेष। इस प्रकारसे यह चक्र इस जीवका अनादिकालसे चल रहा है। यह एक विशिष्ट सयोग परिणामसे हुए निमित्तनैमित्तिक भावका वर्णन करने वाला उपोद्घात इसलिए करना पडा है कि यह बताये बिना पुण्य, पाप, आस्रव आदिक पदार्थोंकी उत्पत्ति विदित नही हो सकती। क्योकि यदि यह चक्र न हो, जीव और अजीवका परस्परमे निमित्तनैमित्तिक सम्बध न हो तो मोक्षका उपाय करनेकी आवश्यकता भी क्या?

पदार्थके पारिणामित्व व अपरिणामित्वके एकान्तमे अनिष्ट प्रसंग—प्रथम तो यही बतावो कि अभी मूलमे जो दो पदार्थ कहे गए है जीव और अजीव ये पदार्थ परिणामी है या अपरिणामी है? यदि इन्हे परिणामी मानते हो यह परिणमनशील है तो यह परस्पर निमित्त पाकर परिणमन कर रहे है या स्वतत्र होकर निमित्त विना सयोग बिना केवल अपने आपमे परिणमन कर रहे है। यदि धर्मादिक द्रव्योकी तरह पर-उपाधिके बिना अपने आपमे ही विपम परिणमन करते है तो फिर ७ पदार्थ कुछ नही रहे और फिर यह इन्द्रजाल यह मायाजाल फिर कुछ नही रहा। व्यवस्था क्लेश ये सब कुछ न रहने चाहिएँ। परस्पर एक दूसरे का उपाधि सम्बध पाकर यह परिणमा करता है तो जीव और पुद्गलके सयोग परिणमनरूप कुछ बात हुई तो उस ही के आधारपर यह ७ पदार्थोंकी व्यवस्था बनेगी। यदि अपरिणामी ही मान लो तब दो पदार्थ जुदे-जुदे शुद्ध रह गये, फिर पुण्य पाप आदिक घटेंगे ही नही। तो बध मोक्षका अभाव होगा।

कथञ्चित परिणामित्वमे व्यवस्था—यह जीव और अजीव पदार्थ अटपट परिणामी नही होता। ऐसा भी नही है कि जीव और पुद्गल मिल करके परिणामी बन जायें तो जीव और पुद्गलकी सयोग रूप कुछ एक चीज बन गई। वहाँ न जीव मे कुछ रहा, न अजीवमे

कुछ रहा, ऐसा एकान्त परिणामी भी नही है और एकान्तसे अपरिणामी भी नही है। कथचित् परिणामी है और कथचित् अपरिणामी है। दूसरेके परिणमनको ग्रहण नही करता, यो तो अपरिणामी है और अपने आपमे परिणमन करता रहता है यो यह परिणामी है। परिणामीका अर्थ है परिणमन करने वाला। अपरिणामीका अर्थ है कुछ भी परिणमन न करने वाला। यो कथचित् इसे परिणामी माननेपर ही आस्रव बध आदिक पदार्थोंकी व्यवस्था बनती है, फिर भी मूल पदार्थ तो ये दो ही रहे—जीव और अजीव।

सप्त पदार्थोंमे हेयत्व और उपादेयत्वका निर्णय—इन ७ पदार्थोंमे हेय और उपादेय का निर्णय करना ही इसकी जानकारीका प्रयोजन है। पुण्य और पाप ये दोनो एक ससाररूप है इस कारण दोनो ही हेयतत्त्व है। उनमे से किसी स्थितिमे पुण्यभाव उपादेय है और पापभाव सर्वथा हेय है। कुछ ऊँची भूमिकामे पहुचनेपर इस जीवके कर्तव्यमे फिर दोनोके ही दोनो भाव हेय तत्त्व हो जाते है। आस्रव और बंध ये दोनो हेय तत्त्व हैं। आस्रवका अर्थ है कर्मोंका आना और बधका अर्थ है उन कर्मोंकी स्थिति पड जाना। ये दोनो ही हेयतत्त्व है, सम्वर और निर्जरा ये उपादेय तत्त्व है, कर्मोंका निरोध हो जाना सो सम्वर है और पूर्वबद्ध कर्मोंका छोडना सो निर्जरा है। इस प्रकार सम्वर और निर्जरा ये जीवके परमकल्याणके कारणभूत है, अतएव उपादेय तत्त्व है। और मोक्ष तो सर्वप्रकार उपादेय तत्त्व है, वह तो समस्त मोक्षमार्गके पुरुषार्थका अन्तिम फल है।

संवरभावका महत्त्व—एक विशेष बात यह भी समझिये कि मोक्ष हो जानेपर पुण्य नही रहता, पाप नही रहता, आस्रव नही है, बध नही है और निर्जरा भी नही रहती, किन्तु सम्वर सदाकाल बना रहता है। सम्वरभाव मायने शुद्धोपयोग भाव। जिस भावके कारण कर्म न आये उसका नाम सम्वर है। क्या सिद्ध भगवानमे इस सम्वरका अभाव है? यदि अभाव है तो अर्थ यह है कि कर्म आने लगे। इस कारण यह सम्वर तत्त्व कितना सारभूत और उपादेय है, जो सदा रहता है, शुद्धोपयोग होनेके बाद भी रहता है। हाँ इस दृष्टिसे देखो कि कर्म आनेकी गुंजाइश थी, ऐसी योग्यता वाले जीवके और कर्म न आ सकें उसका नाम सम्वर है तो ऐसे सीमित लक्षणमे देखनेपर सम्वर न भी माना जाय, पर सम्वरका मूलसे काम तो यह है कि कर्म न आने देना। शुद्धोपयोगका दृढ़ दुर्ग पाकर यह आत्मा सर्वप्रकारकी शंकावोसे रहित रहता है। यो इन सात पदार्थोंमे हेयतत्त्व और उपादेयतत्त्व समझना।

हेय तत्त्व—अब सामान्यतया यो निरखिये कि दु:ख हेयतत्त्व है। ससारका कोई भी जीव दुःख नही चाहता है। उसका कारण है ससार। दु ख क्यो मिलता है? यह ससरण चल रहा है। यह ससारभाव है, इसके कारण दु ख प्राप्त होता है। ससारका कारण है आस्रव और बध पदार्थ, और आस्रव और बन्ध इन दोनोका कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और

मिथ्याचारित्र। यह तो हुई हेय व्यवस्था। जैसे कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग। ऐसे ही कह लीजिए—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि ससारमार्ग। ससारके कारण ये मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। तब हम शीघ्र दृष्टि डाले कि मेरा हेय क्या है? तो यो कह लीजिए कि अपने आत्मस्वरूपको छोडकर अन्य परभावोमे परमे आत्माकी प्रतीति करना यह भाव हेय है और इस ही पद्धतिसे परका ज्ञान करते रहना यह हेय है और परको सुखका हेतु मानकर उसमे रमण करना यह हेय है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये हेय है।

उपादेय तत्त्व—उपादेय तत्त्वको निरखिये—सुख उपादेय तत्त्व है। तुम्हे क्या चाहिए? उत्तर मिलेगा सुख, शान्ति। प्रत्येक जीव सुख चाहता है, और जितने भी यह पयत्न करता है वह सब सुख पानेके लिए ही करना है। चाहे कभी इसकी समझमे यह भी आये कि प्राण दे देनेसे सुख मिलेगा तो वहाँ प्राण भी दे देता है। प्राणघात कर देना भी अपने सुखके लिए समझा है। मरण करके भी यह सुख चाहता है। समस्त प्रवृत्तियोका प्रयोजन इसका सुख प्राप्त करता है। तब उपादेय तत्त्व हुआ सुख। उसका कारण है मोक्ष। मोक्षका कारण है सम्वर और निर्जरा। सम्वर निर्जराके कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। आत्माका जैसा अपने सत्त्वके कारण सहज स्वरूप है अमूर्त स्वय ज्ञानज्योतिर्मय जैसा इसका स्वरूप है उस स्वरूप रूप अपनी प्रतीति करना, ऐसा ही ज्ञान करना और इस ही रूप रमण करना यह है उपादेयतत्त्व। इस प्रकार दो मूल पदार्थ है—जीव और अजीव, और उनके सयोगसे उत्पन्न हुए अथवा उनके प्रसगसे उत्पन्न हुए ये ७ पदार्थ हैं। यो मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत श्रद्धान करने योग्य ९ पदार्थ बताये गए हैं।

भावनाओमे एकत्वभावनाकी तरह तत्त्वोमे सवरतत्त्वकी प्रमुखता—जैसे बारह भावनाओमे एकत्वभावनाका बडा प्रमुख स्थान है और उस एकत्वभावनाका बहुत कुछ अन्तःमर्म चलता रहता है। कभी माना दुनियाके इन परिवारोंसे जुदा होनेके लिए—मैं तो अकेला हू, मेरा यहाँ कोई साथी नही है, फिर इस देहमे भी जुदा समझनेके लिए माना कि मैं तो यह एक अकेला हू, यह देह भी मेरा नही। फिर अन्त जो विकल्प पिण्ड बना हुआ है उसमे भी इन विकल्पोंसे अपनेको जुदा करनेके लिए माना कि मैं तो एक अकेला हू, इन विकल्पोरूप भी मैं नही हू। फिर अपने आपमे जो ज्ञानधाराये बहती है, ज्ञानपरिणमन चलता है वह चूँकि अनित्य है, क्षणिक है, पर्यायरूप है, वहाँ भी जुदा शाश्वत अपने स्वरूपको समझनेके लिए माना जाता है कि मैं केवल शुद्ध ज्ञानशक्ति मात्र हू। इस एकत्वभावनाका बहुत अत विस्तार है, उपयोग है। ऐसे ही जानिये—इन ९ पदार्थोंमे सम्वरकी बडी प्रमुखता है।

सवरभावकी अनन्तता—सम्वर दो प्रकारके होते है—एक जीव सम्वर और एक

अजीव सम्वर। जीव सम्वर नाम है शुद्धोपयोगका। रागद्वेपरहित शुद्ध चैतन्यकी अवस्था बनाये रहना इसका नाम है शुद्धोपयोग। यही है साक्षात् जीव सम्वर, जिस विशुद्ध स्थितिके कारण कर्मरूप परिणमन नही होता उस जीवके साथ कर्मबन्ध नही होता। कर्मोको रोकने वाला परिणाम है तो जीवका यह शुद्धोपयोग है। इसीका नाम सम्वर भाव है। इस शुद्धोपयोगका, इस सम्वरभावका यदि कदाचित् विनाश हो जाय तो इसका अर्थ है अशुद्धोपयोग बन गया और अशुद्धउपयोग बना तो कर्म बन्धन होने लगा। इन सिद्ध भगवानका सदाके लिए कर्मो का आना बन्द हुआ है या कुछ समयके लिए कर्मो का आना बन्द हुआ है ? सदा के लिए कर्मोका आना बन्द है तो समझना चाहिए कि कर्मो को न आने देनेमे समर्थ जो एक सवर परिणाम है, शुद्धोपयोग है वह सदाकाल रहता है।

नव पदार्थोंमे मूल आधार—नव पदार्थोंमे हम आपको उपादेयभूत सवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन पदार्थ कहे गए है। अब ये ७ पदार्थ किसके आधारसे निकले है ? उस बीजभूत पदार्थपर दृष्टि दें तो यही तो विदित होगा कि ये जीव और अजीव (पुद्गल) इनके सयोग परिणामसे बने है, सो इन ७ पदार्थो के ये दो मूल कारण है। यदि आस्रव बध न होते तो सवर निर्जराकी क्या जरूरत थी ? इस दृष्टिसे जीव और पुद्गलके वियोग होनेपर भी जो सवर और निर्जरा तत्त्वकी बात कही गई है उसका भी सम्बन्ध जीव और पुद्गलके संयोगपर आधारित है।

संसारचक्र—इस तरह इन तीन गाथाओमे यह बताया है कि यह जो ससारी जीव है उससे हुए परिणाम, परिणामोसे हुआ नवीन कर्मबन्ध, उन कर्मोके उदयसे हुआ गतियोमे गमन, गतियोमे प्राप्त होने पर हुआ देह, देहसे हुई इन्द्रियाँ, इन्द्रियोसे हुआ विपयोका उपभोग, विषयोपभोगसे हुए रागद्वेप, इस प्रकार ससारचक्रमे पडे हुए इस जीवका परिभ्रमण हो रहा है यह ससार चक्रजाल अनादिनिधन है अथवा किसी जीवके अनादि सन्निधन है। किसीका यह चक्र समाप्त भी हो जाता है और किसीका यह चक्र समाप्त भी नही होता। अभव्य जीवोके या दूरातिदूर भव्य जीवोके यह ससारचक्र समाप्त नही होता है। निकटभव्य जीवो का यह ससारचक्र समाप्त हो जाता है।

स्वभाव और औपाधिकता—यद्यपि शुद्धनयसे देखा जाय तो यह जीव विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव वाला है, फिर भी व्यवहारसे अनादि कर्मबधके वश होनेमे इसमे आत्माको किसी न किसी रूपमे सवेदन करनेरूप अशुद्ध परिणाम होता है। उस परिणामसे कर्मबध हुआ जो कि आत्माके ज्ञानादिक गुणोका आवरण करनेमे निमित्त है। फिर उन कर्मोदयसे चारो गतियोमे गमन हुआ। ये चारो गतियाँ आत्माकी शुद्धस्थितिसे, शुद्धगतिसे, सिद्धगतिसे अथवा आत्माकी उपलब्धिसे अत्यन्त विलक्षण हैं, विभिन्न है। ऐसा ४ गतियोमे गमन हुआ और

फिर उन गतियोमे गमन होनेसे इसे देह मिला ।

निर्बन्धता व सबन्धता—देखो भैया ! कहाँ तो यह जीव शरीररहित स्वरूपवाला था, एक चिदानन्द शुद्ध ज्ञायकस्वभावी था और कहाँ उस स्थितिसे अत्यन्त विपरीत यह देह प्राप्त हुई । इस जड पौद्गलिक शरीरके बन्धनमे बध गया । अब इस देहसे इसे इन्द्रिया उत्पन्न हुईं । आत्माका तो स्वरूप अनीन्द्रिय है, अमूर्त है, परमात्मतत्त्वरूप है और ये ज्ञानके साधन और सुखके साधनभूत ये इन्द्रियाँ जड पौद्गलिक हुई है । कितना विरुद्ध ये इन्द्रिया है । ये इन्द्रिया भी इसमे उत्पन्न हुईं, फिर उन इन्द्रियोसे इसने पचेन्द्रियके विषयसुखोमे परिणमन किया । कहाँ तो आत्माका एक सहज आनन्दस्वभाव है, एक शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यानसे जो एक झलक आती है उस परम आनन्दका स्वरूप इस जीवका है और उस स्वरूपसे कितना अत्यन्त विपरीत यह विषयोका उपभोगरूप इसे सुखपरिणमन मिला है ? उस सुखपरिणमनसे इसके रागद्वेष होने लगते है । रागद्वेप जीवका स्वभाव नही है । रागद्वेषरहित अनन्त ज्ञानादिक गुणोका धाम यह आत्मतत्व है । यह अपने आपमे सहजज्ञान और आनन्दका भोक्ता रहे ऐसा इसका स्वरूप है । लेकिन ये रागद्वेष इस जीवके इस प्रकार चक्रवालमे उत्पन्न हुए है । अब रागद्वेप हुए, सो वहीका वही चक्रवाल फिर लगा लीजिए । जैसे रहटकी घडियाँ ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर आती रहती है, उनका काम चक्कर लगाना है इसी प्रकारसे यह सब चक्र ऐसा विलक्षण चक्र है कि सबके सब एक साथ घूम रहे है ।

पदार्थोंके अपरिहृतस्वभावतापर दृष्टि—इस अशुद्ध आत्माके अशुद्ध वर्णनको सुनकर, इस अशुद्धप्रक्रियाको जानकर हमे यह साहस बनाना चाहिए कि इतना होने पर भी कोई भी पदार्थ अपने सहजस्वरूपका परित्याग नही करता है । यह वस्तुका स्वरूप है । कितना भी सयोग कितनी भी गडबडियाँ हो जाने पर भी प्रत्येक वस्तु अपने रूप ही रहा करती है । तो इतनी विशेप अशुद्धतामे भी हम अपने अत विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी भावना बनायें और रागादिक विकल्पोका परिहार करे । सर्वसे भिन्न एक इस शुद्ध चित्स्वभावपर अपनी दृष्टि लागें, यही प्रयत्न मोक्षमार्गका बीजभूत है ।

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१३१॥

पुण्यपापपदार्थका व्याख्यान—नव पदार्थाधिकारमे जीव और अजीवका वर्णन करके ७ पदार्थोंके वर्णन करनेके लिए एक आवश्यक भूमि तैयार करके अब पुण्य पदार्थका व्याख्यान करते है । जिसके भावमे मोह और परद्रव्योसे प्रीति अप्रीति और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उस जीवके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते है । इस गाथामे पुण्य और पाप, इन दोनो पदार्थोंपर कुछ निर्देश किया जाता है । मोह, राग, द्वेष व चित्तकी प्रसन्नता—इन चार प्रकार

के परिणामोको बताकर पुण्य और पाप भाव भी बता दिये गए है।

मोहपरिणाम—दर्शन मोहनीयके उदयसे जो कलुपित परिणाम होता है उसे मोह कहते है। यह मिथ्यात्वभाव तो सर्वप्रकारसे पापरूप ही है, इसमे पुण्यकी बात रच भी नही आती। जहाँ गहन अज्ञान भरा हुआ है, परपदार्थोमे यह मैं हू, यह मेरा है, इस प्रकारकी वृत्ति जगी हुई है वह मोहपरिणाम तो केवल पापरूप है और यह इस आत्मप्रभुपर महान कलक है। एक मिथ्यात्व भाव न हो फिर काहेका दु:ख ? यह जीव जिस-जिस भवमे गया है उस-उस भवमे मिले हुए समागमोमे मोहपरिणाम ही करता रहा। उस मोहपरिणामसे इसे सिद्धि तो कुछ नही मिली, बल्कि यह जन्म जन्मान्तरोमे दु:ख पानेका और अपना भवितव्य निश्चित कर लेता चला आया है। आज जो कुछ पाया होगा यह कितनीसी विभूति है ? राजा सम्राट होकर अथवा इन्द्र होकर कितने प्रकारके ठाठ पाये होगे, उनके समक्ष आजकी पाई हुई विभूति क्या है ? लेकिन जिसको यह ही सर्वस्व दिख रही है उसके इस मोह और अज्ञान परिणामके लिए क्या कहा जाय ?

सत्सगके दुरुपयोगपर विषाद—इस अज्ञानी जीवकी श्रद्धा सही नही है, और जिस जीवकी श्रद्धा सही नही है वह कही चला जाय, उसका दु:ख नही मिट सकता। जिस जीव की श्रद्धा सही नही है वह कुछ भी पा ले, शान्ति नही पा सकता। अब कितना दुर्लभ जीवन पाया है, वीतराग सर्वज्ञकी वाणी सुननेमे आयी, वीतराग सर्वज्ञके स्वरूपका स्मरण करनेका अवसर मिला और वीतरागताके चाहने वाले गुरुवोका, श्रावकोका सग मिला, कितना उत्तम सग है हम आप सबका, तिसपर भी विषयवासना और मोहवासनामे ही अपना उपयोग लगाये रहे, तब बतलावो इससे बढकर और विषादकी बात क्या होगी ? जब कि यह बात है कि बाहरी चीजोका समागम आपके विकल्पोके आधारपर नही होता है।

मोहविडम्बना—भैया ! आप कुछ सोचें, जैसा होना है, जैसा उदय है वह होता है। जो बात अपने आधीन नही उसकी ओर इतना भाग रहे है और जो बात तत्काल आनन्द दे, स्वाधीन है, सारे सकटोको टाल दे ऐसी आत्मदृष्टिकी बात, प्रभुस्वरूपकी भक्तिकी बात इसे कठिन लग रही है। इन बाह्यपदार्थोंकी मूर्छा, अन्याय ये कोई शरण नही है। इस जीवको यह जीव ही शरण है जब कि वह शरणके ढगका अपना ज्ञान बनाये। यह मोहपरिणाम, यह अशुभ परिणाम, राग और द्वेष—ये नाना प्रकारके चारित्र मोहनीयके उदयसे हुआ करते है। किसी पदार्थमे प्रीतिका परिणाम होना, किसी पदार्थमे अप्रीतिका परिणाम होना यही है राग और द्वेप।

राग द्वेषकी मत्तता—रागद्वेप परिणमन भी एक पागलपन है। जब यह जीव सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है, इसका सब कुछ कर्तव्य अपने आपके गुणोमे है, अपने गुण

और प्रदेशके पुञ्जसे बाहर कही रहता नही है तब बाह्यपदार्थोंमे से किसीको इष्ट मान लेना और किसीको अनिष्ट मान लेना, यह भी अज्ञानताकी बात है या नही ? इष्ट पदार्थोंमे राग करना और अनिष्ट पदार्थोंमे द्वेष करना, यह पुण्य और पापके बधका कारण होता है। जगत मे कुछ भी पदार्थ इष्ट नही है और न कुछ भी अनिष्ट है। जीवमे जिस प्रकारका कषायभाव जगता है उस कषायभावकी पूर्तिमे जो बाह्यपदार्थ निमित्त होने लगते है, आश्रय बनते है उन्हे तो यह जीव इष्ट मानता है और कषायभावकी पूर्तिमे जो साधक नही प्रत्युत बाधक नजर आता है उसे अनिष्ट मान लेता है।

पुण्य और पाप—नाना प्रकारके चारित्र मोहनीयके उदयका निमित्त पाकर जो राग और द्वेपका परिणाम है वह पुण्य और पापका आधार है अथवा वही पुण्य और पाप है। पुण्य दो प्रकारके होते है—एक जीवपुण्य और एक अजीवपुण्य। पाप भी दो प्रकारके है—एक जीवपाप और एक अजीवपाप। जीवमे जो शुभ और अशुभ परिणाम है वह तो जीव पुण्य और जीवपाप है, इसका निमित्त पाकर जो पुद्गलकर्मका बन्ध हुआ है अथवा जो पुण्य प्रकृति है वह तो है अजीवपुण्य और जो पाप प्रकृति है वह है अजीवपाप। इस गाथा मे जीवपुण्य और जीवपापका वर्णन है। राग और द्वेप परिणाम करना यह है पुण्य और पाप। राग और द्वेपमे द्वेप तो नियमसे पाप ही है। द्वेषमे पुण्य नही होता। कही ऐसा द्वैत नही है कि यह द्वेप पुण्य है और यह द्वेप पाप है। कभी यह शका की जा सकती है कि किसीका हित करनेके लिए जो कुछ गुस्सा की जाती है, कुछ द्वेप किया जाता है वह तो पुण्य हो जायगा। सुनिये—हितका आशय रखने वालेके तो द्वेप परिणाम जगता ही नही है और मान लो किसीके हृदयमे कुछ द्वेप परिणाम बन जाय तो जितने अशमे द्वेप जगा है वह तो पापपरिणाम ही है। हाँ रागपरिणाममे २ भेद है। जो शुभ राग है वह तो पुण्य है और जो अशुभ राग है यह पाप है।

चित्तप्रसाद—रागद्वेषका मद उदय होनेपर अर्थात् चारित्र मोहनीय नामक प्रकृतिका मद उदय होनेपर जो आत्मामे कुछ विशुद्ध परिणमन होता है और इस ही कारण चित्तमे जो प्रसन्नता रहती है वह है चित्तप्रसाद परिणाम। चित्तप्रसाद परिणाम भी शुभपरिणाम है। कभी कोई दुष्ट किसीका बिगाड होनेपर जो खुश रहता है वह चित्तप्रसाद नही कहलाता। प्रसादका अर्थ खुश होना नही है किन्तु निर्मल होना है। शरदऋतुमे नदी प्रसन्न हो जाती है, तालाब प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् निर्मल हो जाते है। प्रसादका अर्थ निर्मलता है। चित्तमे विशुद्ध परिणाम होनेका नाम है चित्तप्रसाद। चित्तप्रसादका परिणाम शुभभाव है, पुण्यरूप है। यह भाव जिस जीवके होता है उसका नियमसे शुभ परिणाम होता है। शुभ परिणाम है पुण्यभाव।

मोह पाप—मोह प्रकटरूपसे पाप है, द्वेष प्रकटरूपसे पाप है और अशुभ राग पाप है। शेष सभी राग और चित्प्रसाद ये दो पुण्यभाव है। इस प्रकार पुण्य पाप पदार्थोंके वर्णन करते समय कुछ पुण्य पापके स्वरूपकी भूमिकाका दर्शन किया है। जिस कालमे जीवके मोह परिणाम होता है उस समय जीवकी क्या स्थिति होती है और पुद्गलकर्मकी क्या स्थिति होती है ? जीव तो निश्चय शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचिसे कोशो दूर रहता है। उसे अपने आत्माके स्वरूपका कुछ भान ही नही है, उस दिशाकी ओर गमन भी नही। साथ ही व्यवहार रत्नत्रयकी भी रुचिसे वह रहित रहता है। जिसके गहल मोहपरिणाम है उसे व्यवहाररत्नत्रयके पालनकी भी रुचि नही रहती है। हां कोई मद मोह वाले साधुजन व्यवहार रत्नत्रयका कदाचित् पालन करते है, फिर भी निश्चयरत्नत्रयकी रुचि उनके अन्दर नही है, अथवा यो कहो कि निश्चयरत्नत्रयके लक्ष्यके बिना जो कुछ भी रत्नत्रयके नामपर किया जा रहा है वह व्यवहाररत्नत्रय भी नही है, ऐसी जीवकी स्थिति है। यह तो बताया है शून्यताकी बात। विपरीत अभिप्रायका परिणाम मेरा नही है। हितको अहित मानना, अहितको हित मानना, अपनेको पराया मानना अथवा सुध भी न होना और परको अपना मानना—ये सारे विपरीत आशय इस मिथ्यात्व अवस्थामे हुआ करते है। यह है जीवकी परिस्थिति मोहके प्रसगमे उस समय पुद्गल कर्मकी स्थिति कैसी रहती है जिसको निमित्तमात्र पाकर जीवका विपरीत आशय बना रहता है ? वहाँ है मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय प्रकृतिका उदय।

मोहबल—यह सारी विभावसेना और सारी पौद्गलिक कर्मसेना उस मोह राजाके बूते ही जीवित है। मोहके नष्ट होनेपर धीरे-धीरे समस्त विभावोकी सेना नष्ट होने लगती है, यह तो है मोहपरिणामकी घटना। अब रागद्वेष कैसे बनते है, इसकी बात सुनो। ये नाना प्रकारके चारित्र मोह है। इन प्रकृतियोकी अपेक्षासे कोई चारित्रमोह सम्यक्त्वको प्रकट नही होने देते, कोई चारित्रमोह सम्यक्त्वमे तो बाधा नही डाल पाते, किन्तु श्रावकका व्रत नही होने देते। कोई चारित्रमोह देशव्रत तक तो कुछ बाधा नही डालते, किन्तु मुनिव्रत नही होने देते और कोई चारित्रमोह इसे अकषाय नही बनने देते। इसमे यथाख्यात चारित्र प्रकट नही हो सकता। ऐसी प्रकृतियोके भेदसे नाना प्रकारके चारित्रमोह है और फिर उनमे नाना प्रकारकी तीव्र मदकी प्रकृतिया पडी हुई है। चारित्रमोहोंके उदय होनेपर इस जीवकी क्या स्थिति होती है सो देखिये। निश्चयचारित्रसे वीतरागचारित्रसे यह जीव रहित रहता है और व्यवहार व्रत आदिक परिणाम भी इसके नही हो पाते। जिसके जिस प्रकारके चारित्रमोहका उदय है उसके उस प्रकारके अव्रत परिणाम रहा करते है। तब इसकी स्थिति क्या रहती है ? इष्ट विषयोमे प्रीति और अनिष्ट विषयोमे द्वेष जगता है, और इस ही मोहके मद उदय होनेपर चित्तमे जो एक विशुद्धि होती है वह है चित्तप्रसाद।

पुण्य पापका विवरण—इस गाथामे ४ बातें कही गई है, उन चारकी जगह आप ५ समझ लीजिए—मोह, अशुभराग, शुभराग, द्वेष और चित्तप्रसाद। इनमे से मोह, शुभराग और द्वेष ये तीन प्रकारके भाव तो पापपरिणाम है और शुभराग दान, पूजा, व्रत, शील, सयम, तपश्चरण आदिकमे जो अनुराग जचता है वह है शुभराग। और चित्तमे जो एक विशुद्ध परिणाम जगता है, प्रसाद जगता है वह है चित्तप्रसाद। यो शुभराग और चित्तप्रसाद ये तो है पुण्य भाव, शेष विभाव पापभाव है।

मुहपरिणामो पुण्ण असुहो पावति हवदि जीवस्स।
दोण्ह पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तण पत्तो ॥१३२॥

पुण्य पापका विभाग—पूर्व गाथामे पुण्यपापस्वरूपकी भूमिकामे कुछ परिणाम बताये गए थे, उन परिणामोमे तात्पर्यरूपसे विभाग कर रहे है। जीवके जो शुभ परिणाम हैं वे तो पूण्यभाव है और जो अशुभ परिणाम है वे पापभाव है। इन दोनो शुभ अशुभ परिणामो का निमित्त पाकर जो द्रव्य पिण्डरूप ज्ञानावरणादिक रूप परिणमन है वह भी शुभ और अशुभ कर्मोंकी अवस्थासे प्राप्त होता है। इस गाथामे चार चीजोपर प्रकाश डाला है—जीवपुण्य, जीवपाप, अजीवपुण्य और अजीवपाप। इस जीवके जो शुभ परिणाम उत्पन्न होते है वे द्रव्य पुण्यके निमित्तमात्र है अर्थात् नवीन पुण्य कर्मबन्ध जो हो रहा है उसका निमित्त जीवका यह शुभ परिणाम है, यह कारणीभूत है, इसके आस्रवके क्षणसे ऊपर यह भावपुण्य हो जाता है अर्थात् भावपुण्य द्रव्यकर्मोंके आस्रवका कारणभूत है वह शुभ परिणाम भावपुण्य है।

भावपुण्य व द्रव्यपुण्यमे निमित्तनैमित्तिकता—यहाँ भावपुण्य व द्रव्यपुण्यके निमित्त-नैमित्तिक प्रसगमे समझमे पहिले और पीछेपन समझना। समयकी अपेक्षा नही। जीवके शुभ परिणामोका निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य बनता है। तो यह बतलावो कि पहिले जीवका शुभ परिणाम हुआ या पहिले पुण्य कर्मका बन्ध हुआ ? निमित्त तो जीवका शुभ परिणाम है और कार्य है पुण्यकर्मका बन्ध। ये दोनो एक साथ होते है, पर जहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव निरखा जाता है, निमित्त पहिले आता है नैमित्तिकका नम्बर बादमे आता है, यह क्रम केवल समझमे है। समयमे यह क्रम नही है। जैसे दीपक जलाया, प्रकाश फैल गया, अब बतलावो कि प्रकाशका निमित्त क्या है ? दीपक। यो तो नही कोई बोला करता कि दीपकका निमित्त प्रकाश है। प्रकाशसे दीपक पैदा होता है यो कोई नही कहता। दीपकसे प्रकाश पैदा होता है। अब यह बतलावो कि पहिले दीपक है या प्रकाश ? दोनो एक साथ है, पर समझमे दीपक पहिले है प्रकाश बादमे है, यो समझो कि यह शुभ परिणाम नवीन द्रव्य पुण्यबधका कारण है। इसी प्रकार जीवमे जो अशुभ परिणाम होता है वह द्रव्य पापका निमित्त है। तो द्रव्य पापका कारण होनेसे द्रव्य पापके आस्रवसे पहिले यह अशुभ परिणाम हो गया, भावपाप हो

गया। यह भी समझका पहिचापन है।

जीवपुण्यका आधार—जिस कालमे जीवके पुण्य अथवा पापभाव होता है उस ही कालमे कर्ममे पुण्य अथवा पापरूप परिणमन हो जाता है। यह जीवपुण्य और जीवपापका लक्षण कहा है। जो जीवके शुभ परिणामोंके निमित्तसे हुआ है अथवा जो जीवके नवीन शुभ परिणामोका निमित्तभूत है, ऐसा यह जो पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन है वह द्रव्य पुण्य है। इसी प्रकार इस पुद्गलमे जो इस ही प्रकारमे ऐसा विशेष प्रकृतिरूप परिणमन है, जो अशुभ परिणाममे उत्पन्न हुआ अथवा जो अशुभ परिणामोंके उत्पन्न होनेका कारणभूत है वह द्रव्य पाप है। यो पुण्य पाप पदार्थके स्वरूप बननेके प्रकरणमे यह बात बता दी गई है कि तुम जीव-पदार्थको जीवमे देखो।

शुभ अशुभ त्रिविध उपयोगोका स्थान—जीवमे जो शुभ राग होता है विशुद्ध परिणाम होता है दान आदिका भाव, शीलपालनका भाव, पूजा भक्तिका परिणाम, व्रत तपस्या का परिणाम, परोपकारका भाव—ये सब जीवपुण्य है, और जो जीवमे क्रूर परिणाम होता है—पाचो प्रकारके पापोमे प्रवृत्त होना, व्यसनोमे फसे रहना, दगा देना, तृष्णा बढ़ाना, अहंकारमे डूबे रहना, गुस्सासे अपनेको बरबाद किए रहना, ये सारी प्रवृत्तियाँ ये जीवपाप है। निश्चय से तो जीवपुण्यभाव और जीव पापभाव ये दोनो ससारमे रोके रखने वाले हैं, फिर भी जो जीव अनादिकालसे विपत्तियोंमे फसा हुआ है, कर्म और शरीरके बन्धनमे जकडा है, इन्द्रियो द्वारा उपभोग कर-करके यह अपनेको कृतकृत्यसा मानता है, ऐसे जीवको पहिली अवस्थामे जीव पुण्य भावका एक सहारा होता है। आखिर शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामकी अपेक्षा से पवित्र भाव ही है। अशुभ परिणामके बाद किसी भी जीवको शुद्धोपयोग नही होता, न कभी हो सकता। जिस जीवके शुद्धोपयोग जगा है उससे पहिले उसका शुभ परिणाम हुआ है। तो शुभोपयोग पूर्वक तो शुद्धोपयोग होता है, किन्तु अशुभोपयोगपूर्वक शुद्धोपयोग नही होता। इस प्रकारकी दृष्टिमे भी यह शुभ परिणाम उपादेय है।

शुद्ध उपयोगका स्थान—एक शुद्ध अन्तस्तत्त्वका परिचय अनुभव करने वाले जीवकी दृष्टिमे यह शुभ परिणाम भी हेय है और अशुभ परिणाम भी हेय है। हम आपका कर्तव्य है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपका लक्ष्य रखकर अशुभ परिणामसे तो दूर हो और शुभ परिणाममे रहे और कोशिश यह करे कि हमे शुद्ध दृष्टि स्थिरतासे प्राप्त हो। यो शुद्ध तत्त्वकी ओर अभिमुख होकर शुभ परिणामसे भी निवृत्त हो लें। ऐसी प्रक्रियाकी अन्तः पद्धति हम आप सबकी होनी चाहिए।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१३३॥

कर्मकी मूर्तिकता——इस गाथामे कर्मोको मूर्तिक सिद्ध किया है। जिस कारणसे ज्ञानावरणादिक ८ कर्मोका सुख दुःखरूप फल सुख दु खको उत्पन्न करने वाले इष्ट अनिष्ट रूप मूर्तिक स्कध विषयको मूर्तिक इन्द्रियके द्वारा इस जीवके द्वारा भोगे जानेसे प्राप्त होता है, इस कारण ज्ञानावरणादिक कर्म मूर्तिक है, इस बातको अनुमान प्रमाणसे सिद्ध कर रहे है। कर्मोके फलभूत सुख दु.खके कारणभूत विषय, वे मूर्तिक पदार्थ मूर्तिक इन्द्रियके द्वारा ही भोगे जाते है। इससे यह अनुमान है, अनुमान प्रमाणमे निश्चित है कि कर्म मूर्तिक होते हैं। इसे यो समझिये कि यदि कर्म मूर्तिक न हो तो उनका फलभूत मूर्तिक इन्द्रियविषयका फल भोगनेमे नही आता।

मूर्तकर्मफल—जो कुछ फल भोगनेमे आता है स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द ये पाँचो विषय पौद्गलिक हैं। ये पुद्गलस्कध भोगनेमे आते हैं, इतना तो सब लोग जानते ही है। रसनाके द्वारा रस भोगनेमे आता, स्पर्शनइन्द्रियके द्वारा स्पर्श भोगनेमे आता, घ्राणके द्वारा गंध, चक्षुके द्वारा रूप और कर्णके द्वारा शब्द, ये पाँचो ही विषयभूत पुद्गलके परिणमन हैं। तो पुद्गलके परिणमन अर्थात् मूर्तपरिणमन भोगनेमे आते हैं तो क्यो आ रहे है, इसका जो निमित्त कारण है वह भी पौद्गलिक है, मूर्तिक है। अमूर्तसे मूर्त फल नही भोगा जा सकता। मूर्तिककर्म मूर्तिकके सम्बन्धसे अनुभूत होते है इस कारण ये कर्म मूर्तिक हैं।

कर्मफलकी अहितता—देखिये कर्मोका फल क्या मिला ? इन पुद्गलोका इष्ट अथवा अनिष्ट भोग करना पडा। नरकगतिमे नारकी जीवोको लोहेकी ताती पुतलियोंसे चिपकाया जाता। वह भी स्पर्शनइन्द्रियका भोग है, वह अनिष्ट है। यहाँ मनुष्य, देव, तिर्यञ्च अपनी स्त्रीमे आसक्त होते है यह उनका इष्ट भोग है। नरकोमे गर्म लोहरस, ताँबारस पिलाया जाता है, यह रसनाइन्द्रियका भोग है और यहाँ नाना व्यञ्जन बनाकर खाया करते है तो कोई इष्ट भोग, कोई अनिष्ट भोग है, आखिर पुद्गलकर्मके फलमे पुद्गलको ही तो भोगते हैं ससारी जीव पौद्गलिक इन्द्रियो द्वारा।

विषम कार्योंकी परापेक्षता—जितने विषम कार्य होते है उनमे कोई दूसरा कारण अवश्य होना है। जो बात घट-बढ होती है उसमे कोई दूसरा कारण होता है। स्वरूपदृष्टिसे पदार्थ तो एक रूप ही रहेगा। कोई पदार्थ विभिन्नरूप परिणमता है तो यह निश्चित है कि उसमे दूसरा कोई साथ लगा है। दूसरा पदार्थ साथ न हो तो केवल कोई भी पदार्थ एक रूप स्वभावरूप परिणमेगा। इन्द्रियके द्वारा, इन पौद्गलिक इन्द्रियोके द्वारा पौद्गलिक विषयोका सम्बध और अनुभव होता है। इससे सिद्ध है कि इसका कारणभूत कर्म भी मूर्तिक है। जब उदयमे आने वाला कर्मोका फल मूर्तिक है और वही भोगा जाता है तो समझिये कि वह कारण भी मूर्तिक है।

बद्ध जीवकी कथंचित् मूर्तता—कर्मफलका भोगने वाला जीव भी तो देखो—व्यवहारदृष्टिसे मूर्तिक बन गया। जीवका स्वभाव तो विषयोसे अतीत शुद्ध सहज परम आनन्दके भोगनेका है जो कि निर्विषय परमात्मतत्त्वकी भावनासे प्रकट होता है। वहाँ तक तो जीवकी एक शुद्ध अमूर्त सीमाकी बात थी। उस सीमाको छोडकर जो इन पौद्गलिक विषयोमे रमने लगा, इन पौद्गलिकको भोगने लगा, ऐसा भोगने वाला जीव भी मूर्त कर्मोंके सम्बधसे व्यवहार मे मूर्त बन गया। जिन इन्द्रियो द्वारा यह जीव विषयोको भोगता है वे इन्द्रिया भी पौद्गलिक है। जीवका स्वभाव नही है कि इसमे इन्द्रिया हो।

परमार्थतः इन्द्रियोंकी ज्ञानानन्दबाधकता—इन्द्रिया तो जीवके ज्ञानमे बाधक है और आनन्दमे बाधक है, पर अनादिसे बन्धनबद्ध यह जीव जब जब जिन-जिन इन्द्रियोको पाकर ज्ञान करता है तो इसे वह ज्ञानका साधक मानता है। जैसे किसी एक कमरेमे बैठा हुआ पुरुष कमरेमे खुली हुई ५ खिडकियोसे बाहर देख सकता है। कमरेमे ५ खिडकियाँ हैं तो उनकी जगहसे ही देख सकता है, पर उस पुरुषमे जो देखनेकी ताकत है क्या उस ताकतमे ये खिडकियाँ कारण है? व्यवहारमे लोग कहते है कि यह आदमी खिडकियोसे देख रहा है, पर खिडकियाँ तो एक बाह्य आलम्बन है और वस्तुतः इस पुरुषके सर्व सामर्थ्यकी बाधक है। भीत ही न हो, कुछ भी खिडकियाँ न हो तब तो यह पुरुष सर्व ओरसे देख लेता है। ऐसे ही जीवमे जाननका सामर्थ्य है, पूर्ण है, सर्व ओरसे है लेकिन जब आवरण पडा है ऐसी स्थितिमे क्षयोपशमके अनुसार इन द्रव्येन्द्रिय की खिडकियोसे जानता है और देखता है। यह जीव तो इन्द्रियरहित है। इन्द्रियरहित अमूर्त शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत ये इन्द्रियाँ है जिन इन्द्रियोके द्वारा यह जीव कर्मफलको भोगता है।

उपाधिकी सिद्धि—कर्मफल भोगनेके विषय पुद्गल है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म भी पुद्गल है। यह जीव केवल जीव ही होता तो यह विडम्बना कहाँ हो सकती थी? यह विडम्बना, यह विभिन्नता, ये विषमताये यह सिद्ध करती है कि जीवके साथ जीवके स्वरूपसे विपरीत कोई अन्य चीज लगी है, इतना तो साधारणतया निश्चित है। जीवके साथ कोई दूसरी चीज लगी है तब जीवकी यह विडम्बना है। वह दूसरी चीज क्या जीवके अनुकूल होगी? यदि जीवके स्वरूपके अनुरूप वह द्वितीय चीज है तो भी विडम्बना नही हो सकती। जीवके मुकाबलेमे जीवका प्रतिपक्ष जीवके विपरीत कोई दूसरी वस्तु लगी है जिससे ये विसमताएँ होती है।

दृष्टान्तपूर्वक उपाधिकी सिद्धि—जैसे एक जल पडा हुआ है। जल गर्म हो गया तो गर्म हो जाना यह साबित करता है कि इस जलके साथ जलके लक्षणसे विपरीत किसी दूसरी चीजका सम्बन्ध होता है तब यह जल गर्म होता है। जलके साथ जल ही जुड जाय तब तो

गर्म नही होता। जल जैसी ही चीज जलके साथ जुडनेसे जलमे विपरीत स्पर्श नही होता। कोई विपरीत ही वस्तु साथ है तब जल गर्म हुआ। चाहे सूर्यकी किरण हो, चाहे अग्नि हो चाहे बिजली हो, कुछ भी चीज जलके स्वरूपसे विपरीत स्वरूप वाली जलके संयोगमे हुई तब जल गर्म हुआ। ऐसे ही शुद्ध ज्ञायकस्वभावी इस आत्माकी जो यह विडम्बना होती है—गति, इन्द्रिय, काय आदिक रूपमे इनकी व्यक्ति हुई है तो इस विडम्बनामे कारण कोई दूसरा पदार्थ है और वह दूसरा पदार्थ जीवके स्वरूपसे विपरीत ही होगा। जीव चेतन है तो वह उपाधि अचेतन है, जीव अमूर्त है तो वह उपाधि मूर्त है। यो जीवके साथ लगी हुई उपाधि जिसको कर्म नामसे कहते हैं वह मूर्तिक है और अचेतन है।

कर्मव्यपदेशका कारण—यहाँ एक बात और खास समझनेकी है कि कर्मनाम इन उपाधिभूत पौद्‌गलिक वर्गणावोका पड गया है। थोप करके नाम हुआ है। वे पौद्‌गलिक वर्गणायें जो है सो ही है। कर्म तो उसे कहते हैं जो किया जाय। क्रियते इति कर्मः। जो जीवके द्वारा किया जाता है उसका नाम कर्म है। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका करने वाला नही होता। जो परिणमता है वह कर्ता है। जो परिणमन होता है वह कर्म है। तो जीवके द्वारा किया गया कुछ अधिकसे अधिक बहुत कुछ भी होगा तो विभाव है, राग द्वेप मोह है। इससे आगे जीवकी कुछ करतूत नही है तो जीवके द्वारा किए गए रागादिक भाव हैं और रागादिक भावोका निमित्त पाकर जिसमे अवस्था कुछ बनी है, अन्तरमे जिन वर्गणावोमे जो जीवके साथ बधको प्राप्त है उनका नाम अब कर्म पडा। तो कर्म वर्गणावोमे कर्म नाम औपचारिक है। जीवके विभावका कर्म नाम साक्षात् है। कुछ भी तो नाम रखना पडता है जो जीवके साथ उपाधिके साथ लगा हुआ है, उनका नाम कोई देव कहे, कोई भाग्य कहे, कोई तकदीर कहे, कोई विधाता कहे उसका नाम अन्वर्थक सम्बधित कर्म है। जिनकी समझमे उस कर्मवर्गणाका स्वरूप यथार्थ नही आया वे इस कर्मके बारेमे ईश्वर जैसा रूप, सृष्टा, ब्रह्मा आदिक रूपमे मानते है। तो वे कर्म औपाधिक है, मूर्त है, अचेतन है जिस कर्मके फलको यह जीब उन पौद्‌गलिक इन्द्रियोंके द्वारा पौद्‌गलिक विषयोका भोग करता है। यह विषय चल रहा है पुण्य और पापका। पुण्य और पाप पौद्‌गलिक कर्म है। पहिले कथनमे जीवपुण्य और जीवपापका वर्णन था, अब इस गाथामे अजीवपुण्य और अजीवपापका वर्णन चल रहा है। अजीव पुण्य अथवा पापकर्म मूर्तिक हैं, अचेतन है, जीवके स्वरूपसे विपरीत है।

मुत्तो फासदि मुत्त मुत्तो मुत्तेण बधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि त तेहिं उग्गहदि ॥१३४॥

बन्धन—यह मूर्त कर्म मूर्तिक कर्मोंसे स्पर्श करता है। मूर्तिक कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ जीव बन्धनमे होनेपर भी मूर्त नही बन गया। वही वह स्वय रूप, रस, गध, स्पर्शमय

नहीं हो गया, किन्तु जब हम इस जीवकी ऐसी पराधीनता देख रहे हैं कि शरीरका बंध है। शरीर चले तो जीव चले, शरीरकी कुछ अवस्था बने तो यह जीव उस अवस्थाका भोगने वाला हो जाता है। ऐसी विकट मिश्रता देख करके इस जीवको भी मूर्त कहा जाता है। तो जब ससारी जीवमे अनादिसंतानसे चला आया उदयागत मूर्तकर्म आगामी कर्मका स्पर्शन करता है तो यह मूर्तकर्म मूर्तसे परस्पर बध अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और यह मूर्तभावोसे रहित जीव उन कर्मोंका ग्रहण करता है, उनके साथ भी बँध जाता है। इस ही अर्थमे यह भी अर्थ समझो कि यह मूर्तिक कर्म मूर्तिक कर्मसे ही स्पर्श करता है और उन दोनोके बन्धनमे यह जीव अमूर्त होकर मूर्त जैसा बनकर एक परतन्त्र हो जाया करता है।

बन्धनका उदाहरण—बन्धनके मर्मका एक उदाहरण देखिये—जैसे लोग गाय बाँधते है गिरमाके द्वारा, रस्सीके द्वारा बाँधते है तो क्या रस्सी और गाय ये दोनो मुकाबलेमे आकर परस्परमे बंधते है ? नही। रस्सीका एक छोर रस्सीके दूसरे छोरके मुकाबलेमे आकर परस्पर मे बँधता है, तो बन्धनरूप स्पर्श गाँठ रस्सी रस्सीमे ही लगी, किन्तु इस गाँठके अनुसार यह गाय पराधीन हो गयी, अब बाहर कहाँ जाय ? गायका गला पकडकर और रस्सीका एक छोर पकडकर क्या गाय बाँधी जाती है ? तो जैसे रस्सीमे रस्सी ही बँधती है, फिर भी वह प्रसग ऐसा है कि उस स्थितिमे यह गाय बँधी हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ तक स्पर्शकी बात है कर्मका कर्मके साथ स्पर्श है और उस स्थितिमे जीव जीवका ही वह सब बिगाड है, कर्तव्य है। इसने विभाव किया है, अपराध है, इस कारणसे यह जीव बँध जाता है। जैसे थोडी देरको समझ लीजिए कोई गाय बहुत सीधी है। उसे एक बार जहाँ खडी कर दो वहाँ से हिले नही। तो ऐसी गायको कोई बाँधता नही है, जहाँ खडी है, खडी है। यह मोटी बात कह रहे है। जो गाय चचल है, यहाँसे वहाँ भागती है उस गायको लोग बाँधते हैं। तो यद्यपि वह बन्धन रस्सीका रस्सीसे हुआ है, मगर गायकी करतूत गायकी आदतके कारण हो तो वह बन्धन पडा हुआ है। ऐसे ही यद्यपि कर्मका कर्ममे बन्धन है, पर उस बन्धनका कारण तो जीवका विकार अपराध है।

कर्मबन्धनोमे जीवबन्धन—इस संसारी जीवमे अनादि सतानसे ये मूर्तिक कर्म प्रवर्तित चले आ रहे हैं और वे कर्म स्वय स्पर्श, रस, गध, वर्ण वाले है, सो वे आगामी कालके मूर्तिक कर्मोंको भी छूते है, वे अमूर्तिक कर्म उनके साथ स्नेह गुणके सम्बधसे बन्धनका अनुभव करते है। यह है मूर्तिक कर्मोंका बन्धनका विकार। ये कर्म कर्मसे यो बँध जाते है। निश्चयसे यह आत्मा अमूर्त है, फिर भी अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोका निमित्त पाकर इसने जो रागादिक परिणाम हुए है उनसे चिकना बनकर विशेष-निशेष रूपसे मूर्तिक कर्मोंको अवगाहता है अर्थात् अपने प्रदेशोंमे मूर्तिक कर्मोका बन्धन दे देता है और यो एक क्षेत्रावगाही बनकर यह विकट

बन्धन डाल देता है, फिर उन कर्मोंका जब उदयकाल आता है तो उस कालमे यह जीव फिर रागद्वेष करता है। उस रागद्वेषका निमित्त पाकर उदयमे आये हुए कर्मोंमे नवीन कर्मोंके बँधनेकी फिर प्रकृति हो जाती है और उससे यह लडाई, यह भिडत इस जीवके साथ तब तक चलती रहती है जब तक इस भिडतका कारणभूत कषाय शिथिल न हो जाय।

अन्तःक्रिया—देखो भैया! कितनासा तो अपराध है और विडम्बनाएँ इतनी अनेक है। अपराध जडमे इतना ही है जीवका कि इस जीवने अपने सहजस्वरूपको आपा न समझकर किसी परभावको 'यह मै हू' इतना मान लिया है। देखिये सुननेमे अपराध न कुछ जैसा है, किसीका क्या बिगाडा? किसीका न अनर्थ किया, न चोट पहुचाई, न कोई क्रिया की। इस जीवने अपने आपमे ही आरामसे भीतर ही भीतर बिना कोई अपने स्वरूपसे बाहर उत्पात मचाये सिर्फ परमे यह मैं हू, इस प्रकारका श्रद्धान बनाता है, इतनीमी अपराधवृत्तिका फल यह जगजाल बन गया है, और जब यह जगजाल मिटेगा भी तो उसके उपायमे इतना ही छोटासा कार्य करना होगा। अपने आपके स्वरूपमे अन्त ही बना हुआ कुछ बाहरमे क्रिया श्रम न करके अत यही एक भाव कर लेना है चित्प्रकाशको दृष्टिमे निरखकर कि यह मैं हू, ऐसी दृढतापूर्वक एक भाव बनाना है, फिर देखो यह सारा जगजाल भी बिखर जायगा और मिट जायगा।

जीवक्षेत्रमे कर्मोंका अवगाह—इस बधनके पसगमे इस जीवने कर्मोंको अवगाह दिया, और जब जीवने कर्मोंको अवगाह दिया, स्थान दिया तो मानो नि शक होकर अपनी ही बडी मजबूत स्थितिको रखते हुए इन मूर्त कर्मोंने भी वहाँ अपना अवगाह कर लिया। जैसे कोई नया पुरुष आता है आपके पास तो आप उसे अच्छे स्वभावसे बुलाते है, आइये साहब! तो आपके इतना कहनेसे आने वाला नि शक होकर बडे ढगसे वहाँ आ जाता है। तो जब इस मूर्त जीवने इस पराधीन जीवने इन कर्मोंको अवगाह दिया कहकर नही, किन्तु एक प्रेक्टिकल अपनी वृत्ति बनाकर जब अवगाह दिया तो ये कर्म भी नि शक होकर बडी मजबूत स्थितिके साथ इस जीवमे अवगाहको प्राप्त हो गए। यह है जीव और मूर्त कर्मका परस्परमे अवगाहरूप बधकी पद्धति।

अमूर्त जीवका मूर्तकर्मसे बन्धनपर प्रकाश—यह प्रकरण इस शकाका भी समाधान देता है कि जीव तो अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक है तो अमूर्तिक जीवके साथ कर्मका बन्धन कैसे हो जाता है? इस शकाके समाधानमे भी यहाँ काफी प्रकाश आया हुआ है। यह मूर्तकर्म मूर्तकर्मसे ही बँधता है और उनके इस प्रकारके बन्धनमे कारण है जीवकाअपराध। यह जीवका अपराध उनके बन्धनका निमित्त हुआ। यो यह त्रिगड्डु कर्मबधका प्रसग बन गया। आगामी कर्मके बधनका सीधा कारण है उदयमे आये हुए कर्म और उदयमे आये हुए कर्म इन

मूर्त कर्मोंको बाँध ले ऐसा उनमे निमित्तनैक। कारण है जीवका अपराध । यो यह जीव अपराधवश मूर्त कर्मोंसे बँध जाता है ।

स्नेहबन्धन—भैया ! एक व्यवहारिक मोटी मिसाल ले लीजिए । यह तो कर्मकी बात कही । कभी आपका किसी मित्रसे तीव्र स्नेह हो जाय तो आप उसके साथ बँधे बँधे फिरते है या नही ? उस मित्रसे बँध जानेका कारण क्या है ? आपका पुत्रसे स्त्रीसे जो मोह है वहाँ आप उससे बँधे बँधे रहते है या नही ? इस बन्धनका कारण क्या है ? आपके चित्तमे मोहपरिणाम आया, एक अपराध बना वही अपराध उस बन्धनका कारण है । हालांकि यह एक क्षेत्रावगाह बन्धन नही है । यह दृष्टान्त अन्य किस्मका है । वहाँ एक क्षेत्रावगाह बन्धन हो जाता है, पर बन्धनमें कारण यहाँ भी मोह रागद्वेषभाव है और वहाँ भी मोह रागद्वेष भाव है । यो यह जीव अपराधवश इन मूर्त कर्मोंसे बँध जाता है और ये कर्म जीवके अपराधके अनुसार पुण्य अथवा पाप दो रूपमे निश्चित हो जाते है । यदि जीवका शुभरागरूप अपराध है तो यह कर्म पुण्यरूप हो जाता है । जीवका अशुभ रागरूप अपराध है तो वह कर्म पापरूप हो जाता है । इस प्रकार जीवके साथ जो पुण्य पाप नामक दो पदार्थ लगे है इनका वर्णन इन चार गाथावोमे किया गया है, और इस वर्णनके साथ पुण्य पाप नामक पदार्थका व्याख्यान समाप्त हो जाता है ।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।१ ५।।

पुण्यास्त्रवका वर्णन—पुण्य पाप पदार्थका व्याख्यान करके अब आस्त्रव पदार्थका व्याख्यान किया जा रहा है । जिस जीवके प्रशस्त राग है, अनुकम्पासे सहित परिणाम है, चित्तमे कलुषता नही है उस जीवके पुण्य कर्मका आस्त्रव होता है । आस्त्रवोमे यहाँ पुण्यास्त्रवका वर्णन किया है, पुण्यपाप नामक दो पदार्थ होते है । वे दो पदार्थ पुण्यास्त्रव और पापास्त्रवके माध्यमसे ही निकले है । उनमे से पुण्यपदार्थका आस्त्रव कैसे होता है ? उसका इसमे वर्णन है ।

आस्त्रव और बन्धका विश्लेषण—आस्त्रव और बधमे एक भावका अन्तर है । कार्माणवर्गणामे कर्मत्वपरिणमन आना इसका नाम आस्त्रव है और वह कर्मत्व परिणमन चिरकाल तक बना रहे इसका नाम है बध । आस्त्रव और बधमे से आस्त्रव पहिले होता है और बध पीछे होता है, यह एक समझमे क्रम है तथा दो समयकी स्थिति पाये तो उसका नाम बध है और एक ही समयका कर्मत्व परिणमन हो तो उसका नाम आस्त्रव है । ऐसे आस्त्रव और बधके स्वरूप होनेसे भी आस्त्रव पहिले और बध पीछे होता है । यह भी समझ। रहता है किन्तु यह विभाग नही है कि कोई भी कर्मत्व परिणमन पहिले समयमे बध न कह-

लाये और दूसरे समयसे बंध कहलाये। यद्यपि बंधका यह लक्षण है कि एकसे अधिक समय तक स्थिति हो तो उसका नाम बंध है, लेकिन अनेक समयकी स्थिति होने पर भी बंध प्रारम्भसे ही कहलायेगा। यदि दो समयोकी स्थिति न हो तो वह बंध नही है। जब बँध होता है तो वह पहिले समयसे ही बंध कहलाता है। कोई कर्म पहिले समयमे आये और हजारो समय तक रहेगा तो क्या पहिले समयमे जीवके साथ बन्धन नहीं है ? जिसका बन्धन है उसका पहिले समयसे ही बन्धन है, और जिसको दूसरे समयकी स्थिति नहीं मिलती। जैसे ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानमे जो सातावेदनीयका आस्रव होता है उसकी २समय स्थिति नही होती। उसे ईर्यापथ आस्रव कहते है, वह बंध नही है।

आस्रव और बन्धका सम्बन्ध—कोई मनुष्य किसी रास्तेसे दौडता हुआ गेटको पार करके आगे तक चला गया तो वह चला गया, उसका आना ही आना रहा, बंध नही रहा, किन्तु वह २ मिनटको भी उस गेटमे खडा होता है तो उसका ठहरना कहलाता है। ठहरनेका ही नाम बंध है। तो वह दो मिनट ठहरा तो क्या उसे यह न कहेगे कि वह पहिले मिनटमे भी ठहरा हुआ था ? ठहरता है तो वह प्रारम्भसे ही ठहरा है और नही ठहरता है तो ठहरा हुआ ही नही। इसी प्रकार आस्रव और बंध दोनोका प्रारम्भ उस समय, फिर भी कर्मत्व परिणमनका आना और उसका चिरकाल तक रहना—इन दोनोके स्वरूपपर दृष्टि डालते है तो समझमे क्रम हो जाता है कि आस्रव पहिले हुआ और बंध उसके बाद हुआ।

आस्रवका अर्थ—आस्रवका अर्थ है कार्माणवर्गणामे कर्मत्वकी अवस्था आना। कही कर्म बाहरसे नही आता। जैसे कि लक्षण सुगमतया बोला जाता है, कर्मोके आनेका नाम आस्रव है। इस जीवमे कर्म आ जायें इसका नाम आस्रव है, तो क्या कर्म बाहरसे जीवमे आते है और फिर आकर बँधते है ? ऐसा नही है। इस जीवके प्रदेशोमे ही एक क्षेत्रावगाह रूपसे विस्रसोपचित अनन्त कार्माणवर्गणायें मौजूद है जो कर्मरूप तो नही हुई, किन्तु कर्मरूप जो हुई है उनकी भाति ये भी कार्माणवर्गणायें जीवके साथ रहती है। भवमरण होनेके बाद भी जीवके साथ जैसे बँधे हुए कर्म जाते है तैसे ही न बँधे हुए उम्मीदवार विस्रसोपचय, ये कार्माणवर्गणायें भी साथ जाती है। इस जीवमे अनन्त कार्माणवर्गणाये पहिलेसे ही मौजूद है। उन वर्गणावोमे कर्मत्वपरिणमन होना इसका नाम आस्रव है।

प्रशस्त अनुरागका परिणाम—जिस जीवके प्रशस्त राग है वह प्रशस्त राग यद्यपि वीतराग परमात्मतत्त्वसे तो भिन्न चीज है, लेकिन पचपरमेष्ठियोमे, उनके अतिशयमे, गुणोंमे अनुराग होना यही है अनुरागकी प्रशस्तता। जिसके यह होता है उसके पुण्यकर्मका आस्रव होता है। प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानार्जन, परोपकार आदिक विषयोके लगावसे रहित जो भाव हुआ करते है वे सब प्रशस्त अनुराग है। प्रशस्त अनुराग होनेपर जीवके जो कर्म बँधते है वे

पुण्य कर्म बँधते है । यद्यपि जहाँ तक बन्धन होता है वहाँ तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक ऐसा नही है कि किसी जीवके पुण्यकर्म ही बँधता हो और पापकर्म बिल्कुल न बँधता हो और सकषायतात्मक जिसके पुण्यका बन्धन हो रहा है उसके पापका बन्धन भी चलता है । साधुके १०वें गुणस्थान तक भी पापकर्मका बन्ध है, लेकिन जिसके प्रशस्त अनुराग है उसके पुण्य-कर्मका अनुभाग विशेष होता है और पुण्यबधकी वहाँ विशेषता रहती है ।

पुण्यास्रवका अघातियाकर्मसे सम्बन्ध—देखिये घातियाकर्म ४७ है, वे सभीके सभी पापकर्म कहलाते है । सम्यग्दृष्टि जीवके, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवके ७ पाप प्रकृतियोका नाश हो गया है—अनन्तानुबधी ४, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति । इनमे सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति इन दोका बध नही हुआ करता । सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये बधयोग्य नही बताये । ५ का बध होता है । इन दो की सत्ता कब आती है ? जब उपशम सम्यक्त्व होता है, तब मिथ्यात्वके ३ खण्ड हो जाते है । उनमे २ खण्ड सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति है । तो यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्वका घातक पापप्रकृतियोका आस्रव नही होता, किन्तु शेष घातिया कर्मोंका आस्रव चलता रहता है । हाँ, अघातिया कर्मोंमे पुण्यप्रकृतिका बध होना और पापप्रकृतिका बध न होना, इस दृष्टिसे पुण्य बधकी विशेषता आती है और घातिया कर्मोंका भी अति शिथिल बध चलता है ।

अनुकम्पाका परिणाम—जिस जीवके दयासहित परिणाम है, अन्तरगमे करुणाका भाव है और बाहरमे मन, वचन, कायका दयाके अनुरूप व्यापार है, ऐसा जो दयासहित परिणाम है उससे भी पुण्यकर्मका आस्रव होता है । किसी पुरुषको अपने पुत्र स्त्रीकी तकलीफ मे बहुत बडी दया आती है । स्त्री पुत्रका दु.ख देखा नही जाता, रोना आ जाता है और उसके दु खका यथाशीघ्र दूर करनेका अधिकाधिक यत्न किया जाता है, फिर भी उसे दया सहित परिणाम नही कहा है । वे जो कुछ क्रियाएँ हो रही है, वे मोहकी ठेसके कारण हो रही है । उसे मोहपरिणाममे सम्मिलित किया है । जिस जीवसे हम अपनी विषयसाधनाका कुछ ख्याल नही रखते ऐसे दु.खी जीवोको देखकर दयाका परिणाम होना सो वास्तवमे अनुकम्पा है । अनुकम्पा सहित परिणाम पुण्यके आस्रवका हेतुभूत है ।

चित्तकी अकलुषताका परिणाम—चित्तमे कलुषता न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम भी न होना, ऐसी अकलुषतासे जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है । मद-कषाय हो, शान्तिकी ओर झुकाव हो, क्रोधको हटानेका यत्न हो, मान कषायको अहित समझे, नम्रताकी वृत्ति बनाये, छल कपटको एक भयकर दाह समझकर कौन इनमे उलझे और अपने उपयोगको भूलभुलैयामे डाले, छलसे दूर रहने और सरल वृत्ति रखनेका यत्न करना, तृष्णामे न बढना, पाये हुए समागमको ही आवश्यकतासे अधिक समझकर प्रसन्नतासे

गुजारा करना और धर्मपालनके लिए अपना जीवन मानना, इस प्रकारके जो मद कषायके परिणाम होते है उन परिणामोसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है।

पुण्यास्रवके तीन मूल हेतु—इस गाथामे तीन शुभ भावोका निर्देश किया है। प्रसस्त राग, अनुकंपा परिणाम और चितमे कलुषताका अभाव—इन तीन प्रकारके शुभ परिणामोसे जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है। ये तीन प्रकारके भाव द्रव्यपुण्यके आस्रवके निमित्तमात्र है और उन द्रव्यकर्मोके आस्रवसे ऊपर भाव पुण्यास्रव होता है। अर्थात् भाव पुण्यका निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य प्रकृतियोका आस्रव हुआ करता है। उन परिणामोके निमित्तसे और योगके द्वारमे प्रवेश करने वाले पुद्गलके जो शुभकर्मका परिणमन होता है वह द्रव्यपुण्यास्रव कहलाता है। अब इस गाथामे जो तीन भाव कहे गए हैं उनका क्रमसे स्वरूप कहेगे। प्रथम प्रसस्त रागका स्वरूप बतला रहे है।

अरहतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूण पसत्थ रागोत्ति बुच्चति ॥१३६॥

प्रशस्त रागमे अर्हद्भक्ति—अरहत सिद्ध साधुवोमे भक्ति-परिणामका होना और व्यवहारचारित्रमे धर्ममे, उस धर्मके अनुष्ठानमे वासनाका होना और गुरुवोके रसिक रूपसे गुरुवोके भावके अनुरूप अपना प्रवर्तन बनाना यह सब प्रशस्त राग कहलाता है, क्योकि इस रागका विषय प्रशस्त है, शुभ है। अरहत भगवानका कैसा शुद्ध विकास है, निर्लेप, निर्दोष, कैसा उनका शुद्धस्वरूप है, परम आनन्दमय सर्वका ज्ञाता, सबमे उत्कृष्ट यह परमात्मतत्त्व है। भव्य जीवोका एकमात्र आधार यह अरहतस्वरूप है। उसका स्मरण कर करके अपने चित्तमे प्रासाद होना यही है अर्हद्भक्ति।

प्रशस्तरागमे सिद्धभक्ति—ऐसे ही सिद्धप्रभुका स्वरूप स्मरण करना सिद्धभक्ति है। सिद्धभगवान सर्वथा निर्लेप हैं। किसी भी पदार्थका सम्बन्ध नही रहा। जैसे लोकमे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य रहते है, मगर किसीसे छुवे हुए नही है। आकाशमे कुछ भी होता रहे, आकाशका क्या बिगाड होता है? आग जला दिया तो क्या आकाश जल जायगा? तो जैसे आकाश आकाशमे है और वह सबसे निर्लेप है ऐसे ही सिद्धभगवान अत्यन्त निर्लेप है। यद्यपि जहाँ सिद्धप्रभु रहते है वहाँ निगोद जीव भी रह रहे है, कर्मवर्गणाये भी भरी है लेकिन सिद्ध का परिणमन सिद्धमे है, यह सिद्ध अपने एकत्वको लिए हुए हैं, अत्यन्त निर्लेप है। अनन्त चतुष्टयसम्पन्न और शरीरादिकके लेपसे अत्यन्त रहित सिद्धप्रभुका स्मरण करके यह ही सर्वोत्कृष्ट सार है ऐसा ध्यान बनाकर जो भक्ति उमडती है वह है सिद्धभक्ति।

प्रशस्तरागमे साधुभक्ति—साधु परमेष्ठी ज्ञान वैराग्य व आनन्दकी मूर्ति है। इनका परिकरसे कुछ सम्बन्ध नही रहा, वे किसी भी जीवसे अपने किसी इन्द्रियविषयकी साधना

नही चाहते, विषयोसे भी विरक्त है। केवल जिनकी यही अभिलाषा है कि मैं अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूपके रूपमे मानता रहू, इस ही को देखता रहू, इसही मे मग्न होऊ, ऐसी जिसकी भावना रहा करती है और जो कुछ परिणति करते है तो अन्य जीवोके हितके लिए परिणति करते है। जिनका नेत्र चाल दूसरे जीवोके कल्याणका कारण होता है, जिनका गमन स्वपरके कल्याणके हेतु होता है, जिनका आहार तक भी स्वपर जीवोके कल्याणके लिए होता है ऐसे परोपकारशील स्वहितका निर्भर ध्यान रखने वाले साधु पुरुष कैसे विशुद्ध है, कैसी निर्मलता इनमे है, उनके गुणोका स्मरण कर करके चित्तमे निर्मलता प्रकट करना और ऐसे साधुवोके चरणोमे अपने आपका समर्पण करनें जैसी वृत्ति जगाना, यह सब साधुभक्ति है। इन परिणामोसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है। यह सब प्रशस्त राग कहलाता है।

प्रशस्तरागमे भक्तिका प्राधान्य—यह प्रशस्त राग एक स्थूल लक्ष्य होनेसे केवल भक्ति भक्तिकी ही प्रधानता हो, ऐसी स्थितिकी व्यवहारसे कदाचित् अज्ञानी जीनेकी भी हो सकती है अर्थात् मिथ्यात्वकी स्थिति होते हुए भी प्रशस्तराग सम्भव है तो वहाँ भी पुण्यका आस्रव हो जाता है, पर वास्तविक मायनेमे जहाँ लक्ष्यका परिचय हुआ हो फिर अरहतसिद्ध साधुवोमे भक्ति जगती है वह अति विशुद्धपरिणाम है और सातिशय पुण्यके आस्रवका कारण है। जब ज्ञानी जीव होता है और वह भी भक्ति प्रधानकी पदवी तक रहता है तो उसका यह मोक्षमार्गविषयक प्रशस्त राग होता है और यह ज्ञानी जब और ऊपर भूमिकामे बढ़ता है और शुद्ध वीतराग दशाको प्राप्त होता है तब इसके यह प्रशस्त राग उस समाधान और समाधिके अभिमुख लगता हुआ होता है।

ज्ञानीके प्रशस्त रागका प्रयोजन--ज्ञानी जीवोके यह प्रशस्तराग इन इन प्रयोजनोसे होता है कि मेरा कही अनायतनमे राग न पहुच जाय। जो कुदेव है, कुशास्त्र है, कुगुरु है अथवा विषयोके साधन है, इनके रागका खण्डन करने वाला यह प्रशस्त राग है। यद्यपि प्रभु-भक्तिमे गुरुभक्तिमे भी राग मौजूद है, पर यह राग तीव्र रागके ज्वरका विनाश करने वाला है। इस प्रशस्तरागसे अप्रशस्त रागका खण्डन हो जाता है। ऐसा यह प्रशस्त राग ज्ञानी जीवो के भी हुआ करता है।

अपना लक्ष्य—हम आपको क्या करना है और क्या बनना है? इसका ठीक निर्णय न हो तो हम धर्मपालन क्या करेगे? और इस निर्णयके लिए इसका कोई आदर्श सामने रहना चाहिए। उन आदर्शोंमे परम आदर्श है अरहत प्रभु। यह केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिसे सहित है। क्षुधा, तृषा, जन्म-मरण, शोक चिन्ता आदिक १८ दोष जिनके नही पाये जाते है, जिन्होने धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे अर्थात् रागरहित, विकल्परहित विशुद्ध ध्यानके बलसे ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोका विनाश किया है, ऐसे अर-

र्हतदेवका स्वरूप कितना आदर्श है ? हम ऐसे स्वरूपका स्मरण करके अपना यह भाव बनायें कि मुझे तो यह बनना है, मुझे धनिक नही बनना है, इस असार ससारमे यशस्वी नही बनना है। लोग भी कुछ समझे कि यह भी कोई है, मुझे इसकी चाह नही है। मै तो यह अर्हत्यस्वरूप चाहता हू, ऐसा हमारे चित्तमें आदर्श हो और ऐसा ही बननेका हमारा एक लक्ष्य हो।

अपना कर्तव्य—भैया ! निर्दोप परमात्मस्वरूपकी उपासना करके उस निर्दोप परमात्मतत्त्वमे उपयोगको रमाओ। निजमे विराजमान अतस्तत्त्वका इस जीवने उपयोग नही किया और इसी कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यानमे ही यह उलझा रहा, इससे नाना कर्मोका बन्धन हुआ है। यह बन्धन स्वरूपदृष्टिसे समतापरिणामसे टूट जाता है और वहाँ यह परमात्मस्वरूप प्रकट होता है। हमे बनना है ऐसा परमात्मतत्त्व जिसकी अन्तिम परिस्थिति सिद्धत्वकी है, ऐसा अरहत और सिद्धस्वरूपका आदर्श मानकर उनके बताये हुए मार्गपर चलना यही काम हमारे करनेको पडा है। शेप काम यथायोग्य जैसा सहज बने, पर पुरुषार्थ करके, यत्न करके तो हमे आत्माका शुद्ध विकास करना है, इसके सिवाय हमारा कोई दूसरा लक्ष्य नही है, यह भावना होनी चाहिए।

साधु आचार—साधु तीन प्रकारके होते है—आचार्य, उपाध्याय और मुनि। जो निश्चय पचाचारका आचरण करते है अर्थात् विशुद्ध अपने स्वलक्षण मात्र ज्ञानदर्शनस्वभावी अतस्तत्त्वके सम्बधमे निश्चला रुचि रखते है, जैसा स्वय सहज अपने आपके सत्त्वके कारण स्वरूप है, प्रकाश है उस रूप ही जो ज्ञान किया करते है और ऐसे ही ज्ञानमे स्थिरतासे जो रहते है अर्थात् तद्रूप परिणमन करते है ऐसा तो हुआ निश्चयदर्शनाचार, निश्चयज्ञानाचार और निश्चयचारित्राचार—इन तीन प्रकारके निश्चय रत्नत्रयोके आचरणका वे आचार्य पालन करते है।

निश्चय पञ्चाचार—निश्चय रत्नत्रयके आचारके अतिरिक्त निश्चय तपश्चरणका भी वे साधु आचरण करते है। निश्चय तपश्चरण नाम है इस प्रकारसे निज आत्मद्रव्यमे प्रतपन करना, जिस प्रकारसे परद्रव्योकी इच्छाका परिहार हो, निरीहतापूर्वक अपने आपके अतस्तत्त्व मे तपना इसका नाम है निश्चय तपश्चरण। जैसे कोई पुरुप किसी छोटीसी गुफामे जहाँ चारो ओरसे कोई रास्ता न हो बाहर ढूंढनेको, ऐसी गुफामे ठहर जाय तो उसका वह एक प्रकारका तपन है। यह तो एक कष्टरूप तपन है, किन्तु यहाँ अतस्तत्त्वमे जो ठहर जाता है, ऐसा ठहर जाना कि बाहर कही झुके भी नही, यह है चैतन्यप्रतपन। जहाँ अपने आपके प्रदेशो मे ही इतना सकुचित रूपसे ठहर जाय वहाँ होता है सहज विशुद्ध आनन्द। ऐसे आनन्दको भोगता हुआ अपने चैतन्यस्वरूपमे ठहरना इसे प्रतपन यो कहा है कि व्यवहारदृष्टिसे तो जैसे

लोकमें सकुचित जगहमे ठहर जाय, अधिक हिलने-डुलनेको स्थान न मिले तो उसे तपन कहा करते है, पर यहाँ तो प्रदेशोसे बाहर एक अणु मात्र भी यह हिलता नही है, अपने आपके प्रदेशोमे ही चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखकर तप करता है, एक तो यो यह तपन कहलाया। दूसरी बात यह है कि जो पुरुष निज चैतन्यस्वरूपमे ही मग्न हुए तो उनमे से प्रताप प्रकट होता है, जिस प्रतापके कारण रागद्वेष बैरी ठहर नही सकते। जिस प्रतापके कारण यह प्रकाश लोकालोकमे व्यापक हो जाता है, ऐसा जो चैतन्यका प्रताप फैलता है उसका नाम है निश्चय तपश्चरण। आचार्यदेव इस प्रकार निश्चय तपश्चरणका आचरण करते है तथा अपनी शक्तिको न छिपाकर अपनी शक्ति प्रमाण समस्त आचारोमे सकुशल पूर्णरूपसे अनुष्ठान करना, आत्मकार्योंको सम्पन्न करना, यही है निश्चयवीर्याचार।

निश्चय पञ्चाचारका पालन—इस प्रकार जो निश्चय पंचाचारका आचरण करता है और साथ ही जैसा आचार आदिक सूत्रोमे कहा गया है उसी प्रकार इस निश्चयके आचारो की साधना वाले व्यवहार पचाचारका भी आचरण करते है तथा दूसरोको भी उपदेश देते है। उनके त्रुटियाँ न रहे, वे निर्बाध इस मोक्षमार्गमे ठहरते रहे, इस प्रकारका मार्ग दिखानेका आदेश करते है, प्रायश्चित देते है, वे प्रभु आचार्यपरमेष्ठी कहलाते है। मुनिजन आचार्योंसे प्रायश्चित्त लेनेके भूखे रहा करते है जब कि लोककी यह प्रथा है कि या लोगोकी यह इच्छा रहती है कि मेरे अपराधका मुझे दड न मिले और मिले तो थोडेमे निपट जाये, किन्तु मुनि-राज अपनी प्रसन्नतासे यह चाहते है कि मेरे दोषोका मुझे पूरा प्रायश्चित्त मिले। ऐसी इच्छा होनेका कारण क्या है ? मुक्तिकी लगन। वे इस बातमे अपना अकल्याण समझते कि मै अप-राध करूँ और थोडेसे प्रायश्चित्तमे निपट लूँ। अरे घर द्वार किसलिए छोडा था ? एक निर्दोष मोक्षमार्गमे चलनेके लिए। अपराधके शेष रहनेसे तो मोक्षमार्ग सारा ही रुक गया। मै तो बडे टोटेमे रहूगा, ऐसी उत्कृष्ट लाभकी वाञ्छा होनेके कारण वे प्रायश्चित्तको पूर्णरूपसे ग्रहण करना चाहते है। जब कोई एक विशुद्ध सकल्प होता है और सब समूहका भी वही विशुद्ध सकल्प होता है तब वहाँ न तो आचार्यदेवको व्यग्रता होती है और न मुनिजनोको व्यग्रता होती है। जैसे भी मोक्षमार्गका काम बने उस प्रकार ही सबका व्यवहार होता है।

उपाध्यायपरमेष्ठीका प्रकाश—उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते है जो मोक्षमार्गका दूसरोको प्रतिपादन करते है और उस मोक्षमार्गकी स्वय भी भावना करते है, उस मोक्षमार्ग का परिणमन करते है ऐसे साधुवोको उपाध्याय कहा गया है। ये उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञानके पुञ्ज है, इन्हे अंगोका पूर्वोका भी विशद बोध रहता है, समस्त शास्त्रोका स्पष्ट अवगम रहता है और यह भी निर्णय है कि सर्व उपदेशोमे सारभूत यह शुद्ध जीवास्तिकाय है। ५ अस्तिकाय और ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थोंके बीचमे यह जीवास्तिकाय, यह जीवद्रव्य जीवतत्त्व जीव-

पदार्थ निश्चयसे उपादेय है।

जीवास्तिकाय और जीवद्रव्य—जब हम वस्तुको फैलावके रूपमे देखते है तो फैलाव केवल ५ वस्तुओमे पाया जाता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। इन पाँचोका नाम पञ्चास्तिकाय है। क्षेत्रकी दृष्टिसे इन सबका नाम पचअस्तिकाय है और इन ५ अस्तिकायोमे उपादेयभूत है जीवास्तिकाय। यहाँ भी क्षेत्रकी प्रधानतासे अपने जीवको देखा गया है। जब हम वस्तुओको परिणमनोकी दृष्टिसे निरखते है तो परिणमन करने वालेका नाम पडता है द्रव्य। द्रव्य ६ होते है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। ये सभी अनादिसे परिणमते चले आ रहे है, वर्तमानमे परिणाम रहे है और सदैव परिणमते रहेगे। इन ६ द्रव्यो मे उपादेयभूत है यह शुद्ध जीवद्रव्य। जैसे धर्मद्रव्यको, अधर्म, आकाशद्रव्यको जब हम इनके परिणमनको देखते है तो वहाँ परिणामन और मूलभूत द्रव्य ये दोनो एक रूपसे ही जचते है, वहाँ विषमता नही प्रकट होती है। अगुरुलघुत्व गुणके कारण जो वृद्धि हानिया होती है वे स्वरूपकी सत्ता बनानेके लिए है। यो ही हम बहुत अन्तरमे चलकर इस शुद्ध जीवद्रव्यको देखें तो अगुरुलघुत्व गुणके द्वारा जो हानि वृद्धि होती है उससे यह जीवविस्तार और यह परिणमन वे सब एकमेक रहते है। इस प्रकारके शुद्ध परिणमनकी दृष्टिसे निरखनेमे आया हुआ जो जीवद्रव्य है वह शुद्ध जीवद्रव्य उपादेयभूत है।

जीव तत्त्व और जीव पदार्थ—जब हम भावदृष्टिसे वस्तुको देखते है तो इसका नाम तत्त्व पडता है। तस्य भाव· तत्व। भावदृष्टिसे ये ६ तत्त्व है। उन्ही छहो तत्त्वोको भावदृष्टिसे देखो तो उन ६ तत्त्वोमे से उपादेयभूत यह शुद्ध जीवतत्त्व है। और जब हम एक पिण्डरूपसे निहारते है तो ये सब ६ पदार्थ होते हैं अथवा छहोके छहो पदार्थ पिण्डरूप निरखे जाये तो उन सबमे विषयभूत सार जीवपदार्थ मिलता है। इस प्रकार उपादेयका जो कथन किया करते है और भेदरूप रत्नत्रय, अभेदरूप रत्नत्रय मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते है और स्वय भी उस रूप अपनेको भाते रहते है ऐसे साधुवोको उपाध्याय कहा है।

साधुभक्ति—आचार्य और उपाध्यायके अतिरिक्त शेप जितने भी साधु है उनको मुनि कहते है। निश्चय आराधनाके द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूपका साधन करे उनका नाम साधु है। साधुत्वका लक्षण, मुनिपनेका लक्षण आचार्य और उपाध्यायमे भी है, किन्तु उपाध्याय और आचार्यमे मोक्षमार्गकी विशिष्ट व्यवस्थाके निर्देशनके कारण उपाध्याय परमेष्ठी विशेष रूप से और आचार्य परमेष्ठी विशेप रूपसे कहे गए हैं। यो जो पुरुप अरहत भगवानमे और सिद्ध भगवानमे बाह्य और आभ्यतर भक्ति करते है और आचार्य उपाध्याय साधु जनोमे भक्ति और उनकी सेवा करते हैं वे प्रशस्त रागी है। जिस प्रकार ये गुरुराज हमपर करुणा करे, इनका चित्त कैसे प्रसन्न हो उस प्रकारसे उनका अनुगमन करें, उनके अभिप्रायके अनुकूल अपनी

प्रवृत्ति बनाये, यही है वास्तविक साधुजनोकी सेवा। साधुजन किस बातसे प्रसन्न रहा करते है ? धर्मप्रभावनामे। अपने आपके आत्मामे जो धर्म अवस्थित है उस धर्मकी प्रभावना खुद करें, और दूसरे जीवोमे भी उनके धर्मकी प्रभावना निरखें तो इसमे साधुजन प्रसन्न रहा करते है अर्थात् ज्ञानी बने, श्रद्धानी बने और उस श्रद्धानके अनुसार अपने आपको अतः प्रसन्न बनायें, ऐसी धर्मप्रभावना जब यह गुरुराज निरखते है तो इनका चित्त प्रसन्न रहता है। तो जिस प्रकार उनकी कृपा बने उस प्रकार अनुगमन करना सो साधुधर्मभक्ति है।

ज्ञानीका प्रशस्त राग—मोक्षमार्गकी पद्धतिसे जो पचपरमेष्ठियोकी भक्तिमे रहता है उसका नाम प्रशस्त राग है। ज्ञानी जन जितना भी कर सकते है पचपरमेष्ठीमे राग उनका यह शुभ राग है। शुभ राग यो कहलाता कि इस रागका विपय शुभ है। लोग भोगोंकी आकांक्षासे सेवा किया करते है, किन्तु ज्ञानी पुरुष इन विपयकषायके आयतनोमे राग न पहुचे अथवा तीव्र रागज्वर न रहे, अशुभ रागका निषेध करनेके लिए वे प्रशस्त राग किया करते हैं। इस प्रशस्त रागसे पुण्यका आस्रव होता है। इस प्रकार आस्रव तत्त्वके प्रकरणमे पुण्यास्रव की व्याख्या करते हुए प्रशस्त रागका स्वरूप बताया है। अब अनुकम्पाका स्वरूप बतलाते है।

तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि त किवया तस्सेसा होदि अणुकपा ॥१३७॥

अनुकम्पाका स्वरूप—प्यासे, भूखे दुःखी प्राणीको देखकर स्वय दुःखित मन होता हुआ जो कृपासे उनका दुःख दूर करनेकी क्रियाको करता है उस पुरुषके यह अनुकम्पा कहलाती है। किसी जीवको निरखा कि यह तीव्र तृपासे व्याकुल है अथवा तीव्र रोगसे पीडित है उसको देखकर अज्ञानी जीव तो किसी भी उपायसे उसकी इस वर्तमान पीडाको दूर करनेका प्रतिकार करते है और यह अज्ञानी जीव स्वय व्याकुल होकर अनुकम्पा किया करता है। यह तो अज्ञानी जीवोकी दया करनेकी पद्धति है। किन्तु ज्ञानी जीव जब निज तत्त्वकी भावनामे नही बैठे हुए हैं उस समय दूसरे जीवोको देखकर दया तो करते है, पर उस दयाकी पद्धतिमे एक विशेपता है। स्वयं दुःखी होकर दया नही करते, सक्लेश करके दया नही करते, किन्तु सक्लेशका परित्याग करते हुए यथासम्भव प्रतिकार करते है और उस प्रतिकारमे मूलमे यह भावना रहती है कि यह जीव क्षुधा, तृषा, रोग आदि दोषोसे रहित अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र निज स्वरूप तक दृष्टि पहुचा ले तो इस औषधिके प्रतापसे इसके ये सारे सकट सदाके लिए समाप्त हो जायें। इस प्रकार ज्ञानी जीव मूलसे दया करता है।

ज्ञानी जीवके अनुकम्पापरिणाम—ज्ञानी जीव उन दुःखी जीवोको देखकर विशेप रूपसे सम्वेग और वैराग्यकी भावनाको करता है। देखिये जिनके पास परिग्रह है, घर द्वार है, ऐसा ज्ञानी जीव भी मूलमे उस प्रकारकी भावना करता है और उसकी वर्तमान वेदना

मिटानेके लिए जलपान करना, भोजन वस्त्र आदिक देना इन उपायोंको भी करता है और जिसके परिग्रह नही है, गात्र मात्र ही जिसका परिग्रह रह गया है, ऐसा साधु क्या रोटी बनाकर उसे खिलाने लगेगा ? किस प्रकारसे उसका दुःख मेटेगा ? शारीरिक सेवा कुछ कर सकता है। ज्ञानी मन पुरुषोंकी दयामे मोक्षमार्गकी भावनाकी प्रधानता रहा करती है और वे ज्ञान-औषधिसे दूसरोंके दु खको दूर करनेका यत्न करते हैं।

वेदना और चिकित्सा—इस जीवमे वेदना दो पद्धतियोसे आया करती है। एक तो शारीरिक वेदनाकी पद्धतिसे और एक मानसिक चिन्ताकी पद्धतिसे। जब शारीरिक रोगकी पद्धतिसे भी इस जीवके वेदना आती है तो उसमे भी मानसिक चिंताकी वृत्ति बनी रहा करती है। केवल शरीरकी ही वेदना हो, मनका उसमे कुछ सहयोग न हो, ऐसा हम आप सञ्ज्ञी जीवोके नही होता, असञ्ज्ञी जीवोंके सज्ञावोंके कारण होता है तो वे उपदेशके पात्र भी नहीं हैं। मन ही नही है तो उन्हे कौन उपदेश देने लगेगा ? क्या किसीको यो देखा कि भाई इस सभा मे थोडे आदमी आते हैं इनको क्या उपदेश दे ? जहाँ बहुतसे जीव हो वहाँ चलें तो जगलमे किसी जगह लाखो और करोडो चीटी फैल रही हो एक जगह, वहाँ बैठ जाय और उन्हे उपदेश देने लगे, सभामे तो '१००-५० ही आदमी आते है, यहाँ लाखो जीव है, इन्हे उपदेश दें, ऐसा तो कोई नही करता। तो ये सञ्ज्ञी जीव जो शारीरिक वेदनासे त्रस्त हैं उनके भी मानसिक चिन्ताका सहयोग है, और इसमे वह वेदना कई गुनी हो गई है उस समय दोनो प्रकार की औषधियोंकी जरूरत है। शारीरिक रोगको मिटानेकी आयुर्वेदिक औषधि और सम्वेग वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे जगे उस प्रकारसे वचन कहनेकी भी जरूरत है। तो साधु जन उस औषधिको क्रिया करते है जो औषधि गृहस्थोंके वशकी नही है, ऐसी औषधिसे दु खी जीवोका दु ख दूर करते हैं। भूख, प्यास, रोगकी वेदनाको थोडी देरको कोई आयुर्वेदिक उपचारसे शमन कर ले तो वह कुछ देर बाद फिर वेदना खडी हो जाती है, किन्तु यह अध्यात्मचिकित्सा एक ऐसी मौलिक चिकित्सा है कि जिसके प्रसादसे अनन्तकालके लिए भी कभी यह रोग आ ही नही सकता, क्योंकि उस चिकित्सासे रोगका आधार उपाधिका सग ही नही रहा, ऐसी परिस्थिति हो जाती है।

अनुकम्पाके उद्भवमे स्थिति—भैया ! दयाका भाव जब भी किसीके प्रकट होता है तो उसमे कुछ खेद आये बिना होता ही नही। अज्ञानी जीव अतिव्याकुल होकर, खेदखिन्न होकर दयाका परिणाम करते है तो ज्ञानी जीवके कभी कुछ थोडा खेद होता है और वह भी एक अध्यात्मपद्धतिके अवरोधके चिन्तनपूर्वक होता है, पर दया खेद बिना नही हुआ करती। जब तक दया करने वालेके चित्तमे स्वय दूसरे दु खीके दु खके अनुरूप किसी अशमे दु ख न जगे तब तक यह कैसे प्रतिकार करेगा ? ठडके दिनोमे भिखारी लोग रात्रिके ४-५ बजे जब

विकट तेज ठड होती है तब बिना कपडोंके खुले तनसे बडे कार्तस्वरसे चिल्लाकर धनिकोंसे प्रार्थना करते है और उस समय ठडसे घबराये हुए रजाईके बीच पडे हुए इस गृहस्थको उनके दुखका जब स्मरण होता है तो चित्त व्यग्र हो जाता है। हाय! ऐसी ठडमे ये इस तरहसे दुखी होकर चिल्ला रहे है। जब इसके चित्तमे वेदना जगी तब रजाई आदिक देकर उनका दुख दूर करनेका यत्न करते है।

साधु जनोका अनुकम्पापरिणाम—ससारी जीवोके इन रोगादिककी वेदनावोमे उनकी व्यग्रता निरखकर साधु जनोके चित्तमे यह बात समा जाती है कि अहो! देखो तो कैसा तो इनका सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है और उस स्वरूपका उपयोग न करके एक बाह्य उपयोग बनाकर कितने तीव्र व्यग्र हो रहे है ये प्राणी। इस तरह निहारकर चूकि ये साधु भी उस समय अपने स्वरूपमे मग्न नही है तो अपने स्वरूपकी अमग्नताके कारण और उसके स्वरूपकी बेहोशीका ध्यान करनेके कारण थोडा इन साधुवोके चित्तमे भी खेद उत्पन्न होता है, जिस खेद से पीडित होकर दुखी जीवोको सम्वेग और वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे उत्पन्न हो उस प्रकारका उपदेश देनेका यत्न करते है। इस प्रकार होती है ज्ञानियोके द्वारा की हुई अनुकम्पा। यह सब अनुकम्पाका भाव पुण्यकर्मके आस्रवका कारण है। इस प्रकार पुण्यास्रवके प्रकरणमे अनुकम्पा भावका स्वरूप कहा गया है।

कोधो व जदा माणो माया लोभो य चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोह कलुसोत्ति य त बुधा वेंति ॥१३८॥

कालुष्यका स्वरूप—जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ, मनको प्राप्त होकर आत्मा मे आकुलताको उत्पन्न करते है उस समय उसके परिणामोमे कालुष्य परिणाम कहा गया है। चित्तमे क्षोभ होना, चित्तका ठिकाने न रहना, यह कषायोके तीव्र उदयमे सभव है। जो पुरुष ऐसा प्रश्न करते है कि मेरा चित्त ठिकाने नही है तो उसका कारण यह लगा लेना चाहिए कि इस जीवको या तो क्रोध कषाय तीव्र जगी, जिस कषायके कारण विवेक गुण जल गये है, अब विवेक मार्गपर नही ठहर सका है, इस कारण उसका चित्त ठिकाने नही है, अथवा यो समझिये कि इतना तीव्र मानका उदय हुआ है। दूसरोको अपनेसे नीचा समझना और अपनेको उत्कृष्ट समझना और इस ही समझके अनुरूप अपनी मान्यता विशेष चाहे, यह बात जब नही बनती है तो ऐसी परिस्थितिमे चित्त ठिकाने नही रहता। अटपट मनचाहे विकल्पोकी दाहमे जलते रहना पडता है। अथवा माया कषायका तीव्र उदय हुआ है, छल कपटका परिणाम जगा है। किसीको कुछ बताना और कुछ मनमे चाहना और कुछ काम करना, जहाँ मन, वचन, काय तीनोमे विषमता हो जाती है। मन चाहता है यह और, वचन बोलना पडा है और तरहका, और शरीरसे चेष्टा की जा रही है और प्रकारसे। ऐसी विषमतामे चित्तकी बडी

व्यग्रता हुआ करती है। अथवा यो समझिये कि लोभ कषायकी तीव्रता हुई है जिस तृष्णाके वश होकर इसका चित्त ठिकाने नही है। चित्तमे जब भी व्यग्रता होती है तो कषायोंके तीव्र उदय होनेपर हुआ करती है। यह चित्त कलुषताका परिणाम पापास्रवका कारण है। खोटा परिणाम तत्काल भी खेद पहुचाता है और भविष्यमे भी बहुत काल तक खेद मानता रहेगा ऐसा देखा जाता है।

कषायोके अभावमे आत्माका लाभ—जब इस क्रोध, मान, माया, लोभका मद उदय होता है तो चित्तमे प्रसाद उत्पन्न होता है, प्रसन्नता, निर्मलता, बोझरहित, हर्षायमान चित्त रहता है। ये कषाय ही जीवको दु खके कारण हैं, कषाये हटें तो जीवको सुख आनद स्वय ही प्राप्त हो जाता है। जिसे आनन्द चाहिए उसका कर्तव्य कषायोंके हटानेका होना चाहिए। पर मोहके उदयमे जिस ही प्रवृत्तिसे क्लेश होता है उस ही प्रवृत्तिमे इसे आनन्द सूझता है। विषयोकी प्रवृत्ति खेदका ही कारण है। पचेन्द्रियोंके विषयोमे से कौनसा विषय ऐसा है जो इस जीवको शान्तिका कारण बनता हो ? शान्तिका कारण बनना तो दूर रहो, इन विषयोंके सकल्पमात्रसे ही चित्तमे व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है। जैसे कामविकार सम्बन्धी विकल्प जगा तो चाहे उस कामवासनाके अनुरूप आगे कभी बात बने या न बने, पर जिस कालमे वासना उत्पन्न हुई है उस ही कालमे इसे तीव्र व्यग्रता हुई है, फिर भोगके कालमे भी व्यग्रता और भोगनेके बादमे भी व्यग्रता।

विषयोमे व्यग्रता—खूब खोज कर लीजिये—कौनसा विषय ऐसा है जिसका उपभोग शान्तिपूर्वक होता हो ? खानेकी आसक्ति जिस पुरुषके रहती है उसके खानेमे प्रवृत्ति रसास्वादनमे प्रवृत्ति क्षोभपूर्वक होती है। चित्तमे उलझन, व्यग्रता, बाह्यदृष्टि जब तक रहती है तब तक क्षोभ उत्पन्न होता है, और मनमाना आसक्ति सहित खानेके बाद भी क्लेश होता है और कमसे कम इतना तो हो ही जाता है तुरन्त कि खाकर इसे चित्त लेटना पडता है, बेचैन होकर यह पेटपर हाथ फेरता है, व्यग्र होता है। शरीर उस समय वशमे नही रहता और उसका परिणाम भी बुरा निकलता है। इसके लिए साधन भी जुटाने होते है। सैंकडो आपत्तियाँ है। गधमे, रूपके अवलोकनमे, शब्दोके श्रवणमे सबमे चित्तकी व्यग्रता है। यह तो लोभ कषायकी बात कही है। इन्द्रियके विषयोका उपभोग करना लोभ कषायमे सम्मिलित है। अब इस ही बुनियादपर पद-पदपर इसके क्रोध, मान, माया और लोभ जगते है। उनका भी इसे बडा क्लेश भोगना होता है।

अकालुष्यकी परिस्थिति—जब इनका मद उदय हो तब चित्तमे एक प्रसाद उत्पन्न होता है। कुछ-कुछ इसे अब दुनियाके जीव समान दिखने लगते है। तीव्र कषायमे तो यह ही नजर आता था कि यह मेरा है, बाकी सब गैर है। अब इस हठमे भी कमी होने लगती

है। इसे कहते हैं अकालुष्य परिणाम। कलुषता न रही, कालिमा न रही। तो जहाँ चित्तकी कलुषता नही रहती है वहाँ पुण्यका आस्रव होता है। देखिये कभी-कभी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के भी कर्मोदयवश कलुषता उत्पन्न हो जाती है, लेकिन अन्तरङ्गमे श्रद्धान उसका निर्मल है अतएव झुकाव परकी ओर, कलुषताकी ओर नही रहता है। यद्यपि परका उपयोग करके और उस कलुषतामे थोडा चलकर वह व्यग्रता कर रहा है ज्ञानी पुरुष, किन्तु वहाँ कैसा दो धारावोका सगम है कि व्यग्रता होते हुए भी भीतरमे व्यग्रता नही है, ऐसा होना एक कितनी आश्चर्यकी और कठिन बात है ? एक ही जीवमे व्यग्रता भी लोट रही है और भीतर इसमे अव्यग्रताका भी साधन बना हुआ है।

अज्ञानीका कादाचित्क अकालुष्य—कभी अज्ञानी जीवके भी अकलुषताका परिणाम हो जाता है। जब कषाय मद हो उस समयमे अज्ञानी पुरुषके भी उस चित्तमे प्रसाद जगता है, लेकिन उसके अन्तर भीतरमे व्यग्रताका सारा साधन पड़ा हुआ है और उसकी अव्यग्रता उसका चित्तप्रसाद यो समझिये, जैसे कोई पुरुष मागे तो छाछ और दूध उसके समक्ष हाजिर कर दे तो जैसे वह पुरुष बडा प्रसन्न होता है, नम्रता दिखाता है और अपने मद कषायकी मुद्रा बनाता है। ठीक है, लेकिन उस पुरुषमे अन्तरमे व्यग्रतीकी योग्यता पडी है और उस ही पुरुषको वह कभी मागे दूध और दे दे छाछ तब उस समय निरख लो। जो पुरुष प्रशसाकी बाते सुनकर बडी नम्र और बडी निष्कषाय जैसी बातें बनाया करता है क्या ऐसी बात उसमे वास्तवमे है ? इसका निर्णय करना हो तो जब कभी निन्दा अथवा गाली-गलौचकी बात कही जाय तो उस घटनामे परीक्षा हो सकती है। अज्ञानी मोही जीवके कभी इन कषायोका मद उदय आनेपर चित्तकी अकलुषता रहती है, लेकिन अतरमे उसके मोहजन्य व्यग्रता पडी ही है।

आत्माकी सात्त्विकी वृत्ति—आत्माका स्वभाव क्रोध नही है। इसका तो सात्त्विक काम उत्तम क्षमा परिणतिरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्वेदन है। यह विषयरहित क्षमाशील शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका सम्वेदन करे, अनुभव करे कि मै तो यह ज्ञानप्रकाशमात्र हू, यह है इस जीवकी सात्त्विक वृत्ति। सात्त्विक शब्दका क्या अर्थ है ? अपने ही सत्त्वमे, अपने ही सत्त्व के कारण निरपेक्ष होकर जो बात जगे उसका नाम है सात्त्विक वृत्ति। व्यवहारमे सात्त्विक रहन-सहनका अर्थ किया जाता है—कोई आडम्बर न होना, कोई विशेष पराधीनताकी बात न लगाना उसे कहते है सात्त्विक रहन-सहन। यह अर्थ कहाँसे निकला ? इसमे भी मर्म यह पडा है कि केवल तुम्हारे ही द्वारा तुम्हारी ही आधीनतासे स्वतत्र होकर तुम अकेले अपने आप जिस प्रकार रह सकते हो उस प्रकार रहना उसको कहते है सात्त्विक रहन-सहन। फिर व्यवहारमे अर्थ उसका यह निकला कि परद्रव्योका जितना आडम्बर हटे उसे कहते है सात्त्विक वृत्ति।

सात्त्विकी वृत्तिमे क्रोध मानका अभाव—इस जीवकी सात्त्विक वृत्ति है क्षमारूप बने रहना। उस सात्त्विकतासे अत्यन्त विरुद्ध बात है क्रोध करना। क्रोध जीवका भूषण नही है, कलक है। मान कपाय भी जीवका कलक है। मान कपायमे यह जीव अपना बडप्पन चाहता है। किन्तु हे बडप्पन चाहने वाले पुरुष! जरा अपने आपके स्वरूपपर निगाह तो दे। तेरा यह शुद्ध आत्मतत्त्व निरहकार है। केवल एक ज्ञानानन्द प्रकाशका ही अनुभवन करते रहने की तेरी प्रकृति है। निरहकार शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे अत्यन्त प्रतिकूल भाव है, यह मानकपाय। मानमे आकर किसने शान्ति पाई? घमडमे आनेपर जीवकी बरबादी ही हुई।

मानका कुफल—रावणका मानकपायके कारण वध हुआ, ऐसी दुर्गति हुई और आज तक भी लोग उसको अपमान भरी दृष्टिसे देखते है। हालाकि वह पडित था, विवेकी था, बलवान था, धर्मकी प्रभावना करने वाला भी था, पर सारे गुणोपर पानी फिर गया एक अभिमानमे आकर। एक गल्ती हो गई थी, सीताको हर लिया था, पर उस गल्ती होनेपर भी उसने गल्ती नही की। अपनी उस प्रतिज्ञापर अडिग रहा कि जो परनारी मुझे न चाहेगी उसको मैं कुछ न कहूगा, और सीताको लौटा देनेका मनमे निर्णय था। क्योकि वह करे क्या? जब अपनी प्रतिज्ञा निभा रहा था तो सीताका क्या करना? लेकिन इसे इस तरह कैसे दे दिया जाय, मैं लडू और रामपर विजय पा लूं, फिर सौप दू। इस मानकपायके वश होकर उसपर क्या बीती? अपने भी जीवनमे व्यवहारमे दिन भरमे जो कष्ट होते है उन कष्टोका प्राय करके यह मानकपाय बहुत-बहुत कारण पडता है। चलना, बैठना, गोष्ठीमे, इस जगहोंमे जरा-जरासी बातमे मानकपाय जगती है, और अन्तर जल भुन जाता है। और ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसे फिर वचन निकलते है कि जिससे आपदायें ही बढती है।

सात्त्विकी वृत्तिमे मायाका अभाव—माया कपाय छल कपटके जालमे अपने आपको उलझा लेना, जैसे कहते है कि मकडी अपना जाल खुद पूरती है और उस जालमे फसी रहती है। शायद वह अपनी रक्षाके लिए जाल पूरती हो और फसी भी न रहती हो, जिस चाहे गलीसे चलकर निकल जाती हो, लेकिन उदाहरण यह है कि जाल पूरकर जालमे मकडी फसी रहती है। उससे भी विकट परिस्थिति इस मायावी जीवकी है। यह अपने आपकी कल्पनाओ मे कितने ही जाल पूरता रहता है। यो कहना, यो करना, विरुद्ध-विरुद्ध बातोकी कल्पनाएँ बनाकर उस जालमे यह बना रहता है। हे आत्मन्! जरा अपने आपके स्वभावकी महिमाको तो निरखो। तू निष्प्रपच है, बाह्य मायाजालसे भी रहित है। जो यह बनाव बन गया, शरीर मे फसा है, कर्मोंसे बँधा है, व्यग्रता कर रहा है। इस मायाजालसे भी रहित है और अतरङ्ग मे ज्ञातादृष्टा रहनेके अतिरिक्त जितने भी विभाव है, भाव प्रपच है उनसे भी तू रहित है। ऐसा प्रपचरहित शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे विपरीत यह माया कपाय है जिसके तीव्र उदय

होनेपर चित्तमे व्यग्रता उत्पन्न होती है और पापास्रव होता है ।

सात्त्विकी वृत्तिमे लोभादिक प्रपञ्चोका अभाव——लोभ बाणके बिंधे हुए सभी मनुष्य सभी जीव अपने आपमे बेचैनीका अनुभव किया करते है, जबकि ये समस्त बाह्य पदार्थ अत्यत न्यारे है, उनसे इस आत्माका कुछ भी सम्बध नही है । जैसे नन्हे-नन्हे बालकोका कुछ भी स्नेह नही है इस बडेपर । वे तो अपने खेलमे मस्त है । छोटे बच्चे तो अपनी बातमे मस्त है, पर यह बडा पुरष ही अपने मनमे कल्पनाएँ बनाकर उन बच्चोके आधीन बन रहा है । कहाँ भागे, कहाँ जाय, कहाँ रहे, बन्धन ही बन्धन बना हुआ है । तो यहाँ वे बच्चे फिर भी चेतन है, लेकिन इन अचेतन पदार्थोके प्रति जो राग बन रहा है वे अचेतन तो थूलमथूल अपनी जगह पडे हुए है, उनका कुछ भी आपपर आकर्षण नही है । वैभव, मकान, दूकान, धातु, सोना, चाँदी, ककर, पत्थर ये आपपर कुछ प्रसन्न है क्या ? ये थोडा बहुत आपको चाहते है क्या ? आपके साथ कुछ लगाव रख रहे है क्या ? वे तो अपनी जगह जड़स्वरूप रखते हुए बिराजे हुए है । यह लोभ कषाय वाला पुरुष अपने आपमे कल्पनाए उठा-उठाकर उन ज्वालावोमे जलता भुनता रहता है ।

कालुष्यके अभावमें ही आत्महित——कषाय तृप्तिका प्रतिबधक है, निर्दोष आनन्दका बाधक है । तृप्ति और सन्तोष तो शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे ही उत्पन्न होते है । अपने स्वरूपको तो देखो । स्वरूपकी भावना करनेसे एक अद्भुत आनन्द उत्पन्न होता है । तू लोभ कषायके वश होकर उस अद्भुत् सहज स्वाधीन आनन्दको बरबाद कर रहा है । ये चारो कषाये इस जीवको ससारमे भ्रमणके कारण है । ये कषायें न जगें तीव्र तो चित्तमे जो प्रसाद रहता है वह पुण्यास्रवका कारण है । कभी-कभी अनन्तानुबधी कषाय मद होनेपर यह चित्त-प्रसाद अज्ञानी जीवके भी होता है और यह चित्तप्रसाद शुभोपयोग रूप है । तो जिस ज्ञानी जीवके निर्विकार निज अतस्तत्त्वका अनुभव नही जग रहा है तब यह चित्तप्रसाद ज्ञानी जीवके रहा करता है खोटे ध्यानका परिहार करनेके लिए ।

चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसव कुणदि ॥१३९॥

पापास्रवका व्याख्यान——पुण्यास्रवके साधनका वर्णन करनेके बाद इस गाथामे पापास्रवका स्वरूप बताया जा रहा है । प्रमाद बहुलचर्या कलुषतावी वृत्ति, विषयोमे आसक्तिकी परिणति और दूसरे जीवोका संताप उत्पन्न करनेका परिणमन——ये सब अशुभ भाव है । ये पापकर्मका आस्रव किया करते है । ये अशुभभाव स्वय पापरूप है । इनको यो निरखिये कि इस ध्रुव आत्मासे ये पापभाव निकले है और इस ध्रुव आत्मासे एक उपाधिके सम्बन्धसे पापभाव निकलकर ये इस जीवके उपयोगमे आये है । यो इस पापभावका इस जीनमे

आस्रवण होता है और इस भावका निमित्त पाकर जो पापप्रकृतियोका बन्धन होना है वह है द्रव्यपापास्रव ।

प्रमादबहुल चर्या—प्रमाद नाम है उसका जो भी परिणति आत्माके शुद्धस्वभावको ढकने वाला हो । एक जगह पड़े रहना, लेटे रहना इसका नाम इस प्रकरणमे प्रमाद नहीं है किन्तु आत्माका जो चैतन्य चमत्कार परिणमन है वह शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहे इस प्रकारका विशुद्ध परिणमन है उसका प्रतिबन्ध करने वाला जो विभाव है उसका नाम प्रमाद है । उस विभाव के वश होकर जो कुछ इस जीवकी परिणति बनती है, मिथ्याचारित्र बनता है, विपरीत आचरण बनता है ये सब पापभाव है और द्रव्यपापकर्मका आस्रव करनेका कारण है । मोक्ष-मार्गमे अनुत्साह होनेका नाम प्रमाद है । जो जीवका विशुद्ध कर्तव्य है, कार्य है, सात्विकभाव है, उस भावमे आलस्य होना इसका नाम प्रमाद है । तो मोक्षमार्गके कार्योमे अनुत्साह रहने का नाम है प्रमाद । प्रमादसे पापका आस्रव होता है ।

विषयलौल्य और कालुष्य भाव—विषयोमे आसक्तिका परिणाम होना विषयलोलुपता है जो कि आत्मसुखके सम्वेदनसे अत्यन्त विरुद्ध है । विषय प्रवृत्तियोमे किसी भी जीवने सुख साता नही पायी । विषयोंसे अतीत होकर ही आत्माको वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है । शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहे इस स्थितिमे ही उसे विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्दसे प्रति-कूल विषयोकी लीनताका परिणाम हो तो यह विषयलोलुपताका परिणाम स्वय पापरूप है और द्रव्यपापकर्मके आस्रवका कारण है चित्तमे कलुपताका होना, जिसका विशेष वर्णन पूर्व गाथामे आया है ।

परिताप व अपवाद—पापास्रवके परिणाम आत्मस्वभावमे अत्यन्त प्रतिकूल है । आत्माका स्वभाव तो कलुपतारहित जैसा स्वय सहज अपने आप स्वभाव पडा हुआ है, चैतन्यभाव है, उस चैतन्यभावमे चैतन्यभावका परिणमन होना, विशुद्ध चमत्कार होना अर्थात् केवल जाननहार रहना, इस स्थितिसे अत्यन्त विपरीत भाव है । यह कलुषताका परि-णाम पापभाव है और द्रव्यपापास्रवका कारण है । यो ही दूसरे जीवका अपवाद करना, दूसरे जीवका परिताप करना—ये दोनो भी जीवस्वभावसे अत्यन्त विपरीत है । आत्माका स्वभाव निरपवाद है, अपने आपके अनुभव करनेका है, उसमे विशुद्ध आनन्द है । उससे उल्टा जो भी भाव है यह सब भाव अशुभ है । स्वय पापरूप है और द्रव्य पापके आस्रवका कारण है ।

सण्णाओ य तिलेस्सा इदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाण च दुप्पउत्त मोहो पावप्पदा होति ॥१४०॥

भावपापास्रवका वर्णन—इस गाथामे पापकर्मके आस्रवका कारणभूत भावपापास्रवका वर्णन किया है । सज्ञायें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामक ४ प्रकारकी वासनाएँ और

कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या–ये तीन लेश्याएँ इन्द्रियके विषयोके आधीन रहनेका परिणाम चार प्रकारके आर्तध्यान और चार प्रकारके रौद्रध्यान तथा बहुत प्रकारसे प्रयोग किए हुए उपयोग और मोह ये समस्त विभाव पापको उत्पन्न करने वाले होते है।

सज्ञाओसे पापास्रव—तीव्र मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई जो आहार, भय, मैथुन परिग्रहकी संज्ञाये है ये पापभावको उत्पन्न करती है। यद्यपि आहारसज्ञा छठे गुणस्थान तक है, भय ८वें गुणस्थान तक है, मैथुन ९वें गुणस्थान तक है, परिग्रह सज्ञा १०वें गुणस्थान तक है, और इस दृष्टिसे कुछ ऐसी आशका हो सकती है, तब क्या मुनियोके भी पापका बध होता रहता है? इसके उत्तरमे दो बातोपर ध्यान दीजिए विशेषतया। तीव्र मोहनीय कर्मके साथ ये सज्ञाएँ होती है तो पापबधके कारण बनती है। दूसरी बात यह है कि सज्ञावोका जो स्वरूप है उस स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो उन मुनियोके ये सज्ञाये भी किन्ही जघन्य अशोमे पायी जाती है और विशेष अशोमे शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम वैराग्य भाव भी पाया जाता है। तब जितने अशमे सज्ञावोका कार्य है उतने अशमे पापका बंध है और जितना यह विशाल क्षेत्र सम्वेग और वैराग्यका है उतना उनके पुण्यास्रव और सम्वर, निर्जराएँ चलती है, पर यह न कहा जायगा कि आहार सज्ञा पुण्यबध कराती है या भय, मैथुन, परिग्रह सज्ञा पुण्यबधका कारण है। भले ही ९९ प्रतिशत पुण्यास्रव वालेके एक प्रतिशत पापास्रब हो तो कुछ मालूम न हो, लेकिन जिस भवकी जो प्रकृति है उस भावसे उस ही प्रकारका कार्य होता है। तो ये सज्ञाएँ पापास्रवके कारणभूत है।

अशुभलेश्याओसे पापास्रव—कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ तीव्र कषायके उदयसे अनुरजित योगके प्रवर्तनमे हुआ करती है, अतएव ये तीन अशुभ लेश्याएँ पापास्रव कराने वाली है। ज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवके भी पीतपद्मशुक्ल लेश्याएँ चल रही हो तो चूकि वे शुभ लेश्याएँ है, शुभपरिणामका सम्बन्ध है, उनके भी पुण्यका आस्रव हो जाता है और कदाचित सम्यग्दृष्टि जीवके भी जैसे कि चतुर्थ गुणस्थान तक कृष्ण नील कापोत लेश्याएँ सम्भव है। ये लेश्याएँ है तो इसके कारण उनके भी पापका आस्रव चलता है। लेकिन साथमे कर्मोका विध्वस करनेमे समर्थ सम्यग्दर्शनका परिणाम होनेसे अन्य बाते भी, शुभ बातें भी अन्तः बनी रहती है, अतएव उस पापका प्राबल्य नही होता है। ये तीन लेश्याएँ पापास्रवके कारण है। यह आत्मतत्त्व कषाय और योग दोनोसे शून्य है। न इसमे कषाय करनेका स्वभाव है और न इसमे हलन-चलन करनेका स्वभाव है। अतएव विशुद्ध चैतन्यप्रकाशस्वरूप है। उससे भिन्न और कषायके उदयसे रजित योग प्रवृत्ति रूप ये तीन लेश्याएँ इस जीवके पापरूप है, पापके कारण है और जीवके शुद्ध प्राणोका घात करने वाली है।

आत्मदृष्टिका अनुरोध—भैया! इस जीवपर जो वास्तवमे आपदा आ रही है उसपर

तो यह मोही प्राणी दृष्टि नही देता और जिन पदार्थोंसे रच भी सम्बन्ध नही है उन वाह्य पदार्थोंके रहने या न रहनेको विपदा मानता है। और ऐसी मुग्ध दशामे फिर उन विपत्तियोंसे बचनेका जो भी उपाय करता है वह उल्टा ही करता है। किसी क्षण अपने स्वरूपकी खबर लो। जैनशासन पानेका तो यही लाभ है। रोज-रोज २४ घटेमे १०-५ मिनट विशुद्ध हृदय से सम्यग्ज्ञानका प्रयोग करते हुए अपने आपके आनन्दघन निर्वाध कल्याणमय परमात्मतत्त्वकी सुध ले लिया करे, इससे बढकर अन्य कुछ समृद्धि नही है। इसकी सुध बिना कषायोंके तीव्र उदयसे जो प्रवृत्तिया होती है उन प्रवृत्तियोसे पापका आस्रव होता है।

विषयाधीनतासे पापास्रव—पञ्चेन्द्रियोके विषयोंके आधीन बन जाना यह भी पापास्रवका कारण है। आत्माकी शुद्ध परिणति तो अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लेते रहे इस प्रकार की है और यह आनन्द स्वाधीन है। वह आनन्द है क्या ? जो दु ख होते हैं उन दु खोंको न न करें, आनन्द तो हाजिर ही है। जो केवल दु खके कारण है, दु खस्वरूप है, ममता और मोहसे मिले हुए है उन परिणतियोसे हट जाय, आनन्द तो स्वयमेव बना ही हुआ है। स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्दकी परिणतिमे बाधा देने वाली यह पञ्चेन्द्रियके विषयोकी आधीनता है वह पापकर्मोंका आस्रव कराती है। इन्द्रिय विषयोकी लीनता आसक्ति चाह स्वयं पापपरिणाम है और ऐसे पापपरिणामके समय पापप्रकृतियोका ही बन्ध होता है।

आर्तध्यानसे पापास्रव—इष्टवियोगज, अनिष्टसयोगज, वेदनाप्रभव और निदान ये ४ प्रकारके आर्तध्यान ये शुद्ध चैतन्यकी भावनाका विनाश करने वाले है। कल्याणार्थी पुरुषोको चाहिए तो यह कि अपनी भावना निर्दोष इच्छारहित ज्ञायकस्वरूपमात्रकी बनाएँ। इस ही मे परमकल्याण है। उस भावनाका एकदम घात कर देने वाले ये ८ प्रकारके ध्यान है—४ आर्तध्यान और ४ रौद्रध्यान। जिस समय इष्टके वियोग हो जानेपर उस इष्टभूत परपदार्थकी ओर चित्तका आकर्षण रहता है उस आकर्षणके समय इस विशुद्ध चैतन्यकी भावना कहा रह सकती है ? किसी अनिष्टका सयोग हुआ हो अथवा किसी बैरी पुरुषका समागम हुआ हो तो उस कालमे कितनी अतरगमे बेचैनी रहती है ? इसका कैसे शीघ्र विनाश हो, कैसे टले, उसके वियोगकी भावना जहाँ बनी रहती हो वहाँ शुद्ध चैतन्यकी सुध करनेका कहाँ ख्याल रह सकता है ? शारीरिक रोग होनेपर उस रोगपर ही दृष्टि रहे, यह और बढ न जाय, यह रोग मिटेगा कि नही, हाय ! मुझे बडी पीडा हो रही है, मै बरबाद हो रहा हू, मैं बहुत दुर्बल हो गया, यो इस देहके प्रति भावना रहे तो ऐसे ख्यालके समय विशुद्ध चैतन्यकी भावना कैसे हो सकती है, और निदान जो आर्तध्यानका सबसे खोटा ध्यान है, जब किन्हीं इन्द्रिय विषयोके उपभोगकी आकाक्षा रहती है तो उस चाहके समयमे चैतन्यस्वरूपकी भावना कहा रह सकती है ? निदान नामक आर्तध्यान एक दुष्ट आर्तध्यान है और यह पचम गुणस्थान तक ही बनाया

गया है । छठे गुणस्थानमे निदानका अंश नही रहता और पचम गुणस्थानमे शुभरूपसे निदान चलता है । मुझे परभवमे भी धर्मका समागम मिले, अच्छी जाति कुलमे उत्पन्न होऊँ, इस धर्म का वियोग न हो, ऐसे शुभ ध्यान होते है उन्हे भी निदान ही बताया है । ये भी करने योग्य नही कहे गए है । ये ४ प्रकारके आर्तध्यान पापास्रवके कारणभूत है ।

रौद्रध्यानसे पापास्रव—हिंसानन्द, मृपानन्द, चौर्यानन्द, विपयसरक्षणानन्द नामके ४ रौद्रध्यान ये क्रूर चित्तमे उत्पन्न होते है । भला कोई किसीको मार रहा है और उस हिसा को देखकर आनन्द माने अथवा स्वय हिसा करता हुआ आनन्द माने यह कितनी क्रूरताकी बात है ? किसीकी भूठ चुगली करके, भूठ बोलकर, भूठी गवाही देकर आनद मानना, जिसके प्रति भूठ बोला गया है उसका चित्त किसी प्रकार विह्वल हो रहा, इसकी ओर सुध नही है, बल्कि उसकी विवशता निरखकर और आनन्द मानता है, ऐसे भूठमे जिससे आनन्द माना है उस जीवका कितना क्रूर चित्त है, इसी प्रकार चोरीकी प्रवृत्ति, चाहे मजाक समझ लीजिये या कुछ सत्यका प्रतीक समझ लीजिए, लोग इस धनको ११वां प्राण कहा करते है । प्राण तो १० ही होते है । धन कोई प्राण नही है, मगर ११वा प्राण बता दिया । ऐसे परधनको कोई चुराये, उसके चुरानेका उपाय बताये और इसमे ही रुचि रहा करे, ऐसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान वालेका चित्त कितना क्रूर है, और विपयसरक्षणानन्दकी बात देखिये—अपने इन्द्रियके विषय-भूत पदार्थोंके सरक्षण करनेमे जो आनन्द मानता है उसने दूसरेको तो ओझल ही कर दिया है, खुदकी ही गरज निभानी चाही है, अपने-अपने ही मतलबका जो विपयसरक्षण किया जा रहा है उसमे भी चित्त क्रूर रहता है । इस क्रूर चित्तमे उत्पन्न हुआ यह ४ प्रकारका रौद्रध्यान पापकर्मोंके आस्रवका कारण है और यह स्वय भाव पापरूप आस्रव है । यह क्रूर परिणाम इस निर्दोष शुद्ध आतमानुभूतिकी भावना नही करने देता ।

दुःप्रयुक्त ज्ञानसे पापास्रव—आस्रव पदार्थोंके प्रकरणमे पुण्यास्रव ही का पहिली गाथावोमे वर्णन करके इसके पूर्व गाथामे और इस गाथामे पापास्रवका वर्णन किया जा रहा है । शुभ और अशुभोपयोगको छोडकर अन्य साधनोमे इष्ट भावोमे लगाया हुआ जो ज्ञान है उसे कहते है दुःप्रयुक्त ज्ञान । मिथ्यात्व और रागादिक भावोके आधीन होनेसे जो खोटे विषयो मे ज्ञान उलझता है वहाँ उपयोगका आकर्पण रहता है अर्थात् अशुभोपयोग रहता है, वह अशुभोपयोग स्वय पापरूप है और पापप्रकृतिके आस्रवका कारण है । अशुभोपयोग पापरूप है, शुभोपयोग पुण्यरूप है और शुद्धोपयोग पाप-पुण्यसे रहित अशुद्ध वर्तनारूप है । दुष्प्रयुक्त ज्ञानमे शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि नही और शुभ कार्यकी भी प्रवृत्ति नही । वहाँ तो विषयकषायोंके आधीन होकर यह कुमार्गमे लगा रहता है । यह अशुभोपयोग पापको उत्पन्न करने वाला है ।

मोहसे पापास्रव—मोह दो प्रकारका होता है—एक दर्शनमोह और एक चारित्रमोह ।

दर्शनमोहके उदयसे तो दृष्टिका व्यामोह हो जाता है, शुद्ध परख नही रह पाती। 'मैं क्या हू' इसकी वास्तविक सुध नही है। परको मै माने और मै की सुध नही रहे, ऐसी कुदृष्टि दर्शनमोहमे हो जाया करती है। यह दर्शनमोह पापको ही उत्पन्न करने वाला है। चारित्रमोहमे अनेक प्रकारके विकल्प उठते है, अनेक विभिन्न आचरण होते है। यह चारित्रमोह भी स्वसम्वेदनका विनाश करने वाला है। ये दोनो प्रकारके मोह पापपरिणामको उत्पन्न करने रूप है और पापप्रकृतियोको उत्पन्न करते है। यह सब विभाव परिणामोका समूह पापोको उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार पापास्रवके प्रकरणमे इतनी बातोको इस गाथामे कहा है। सज्ञायें, अशुभलेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, अशुभविकार, दर्शनमोह, चारित्रमोह—ये पापपरिणामको उत्पन्न करते है।

इदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहि सुट्ठुमग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहिय पापास्रव छिद्द ॥१४१॥

सवर पदार्थका आख्यान—अब सम्वर पदार्थका व्याख्यान हो रहा है। आस्रव पदार्थके वर्णनके समय २ प्रकारके आस्रव कहे गए थे—एक पापास्रव और एक पुण्यास्रव। इनमेसे पुण्यास्रवका तो वर्णन पहिले किया था और पापास्रवका वर्णन बादमे किया गया था, ऐसा वर्णन करनेका एक व्यावहारिक कारण यह हो सकता है कि सबसे पहिले इन जीवोमे पुण्यास्रवकी बात सुनायें और जिसमे कुछ चित्त लगे। जिस बातको सुनते है उस तरहका उपयोग भी तो कुछ-कुछ बनाना पडता है। तो पुण्यास्रवकी ही बात जब पहिले बतायी गयी है तो उस तरहका कुछ अपना दिमाग भी बनाया गया था और उस स्थितिमे विशुद्ध भाव, सन्तोष भाव, धर्मकी प्रीति ये सब बातें उत्पन्न हुई है। फिर पापास्रव त्यागने योग्य है, इस बातका वर्णन किया है।

पापास्रवके संवरकी प्राथमिकता—अब सवर पदार्थोके वर्णनके प्रसगमे सबसे पहिले पापास्रवका सवर बतला रहे है। इसमे भी यह कारण हो सकता है कि इस गाथासे पहिले चूँकि पापास्रवका वर्णन है तो अनन्तर होनेके कारण पापका ही सवर एकदम बता दिया गया है। दूसरा कारण यह है कि पापका सवर प्रथम ही होना जरूरी है। इससे पाप सवरको प्राथमिकता दी गई है। पापकर्म रुके तो सद्बुद्धि जगे और यह धर्मपथमे आगे चले तो फिर आगे पुण्यका भी सवर करके यह शुद्धमार्गमे एकदम बढ जायगा। और उपदेश भी यही है कि पापको पहिले रोको और बादमे स्वाधीन होकर दृढ बनकर फिर पुण्यको भी रोको और यो पाप पुण्य दोनोमे रहित होकर शुद्ध आनन्दका अनुभव करो।

सवरपद्धति—पाप और पुण्य दोनोको एकदम रोकनेको किसी भी प्राथमिक प्राणीको उपदेश नही किया गया है। कुछ समझ तो बने, कुछ पाप तो मद हो, उस पुण्य पवित्र

क्रियाके प्रसादसे ये पातक तो कम हो, फिर पाप पुण्य दोनोका भी सवर करो और किसीको ऐसा भी नही कहा गया कि पहिले पुण्यका तो सवर कर लो, पीछे पापको रोकना। ऐसा तो कहा ही नही जा सकता। वहा लग रहा है बडा अच्छा। पुण्यका रोकना बडा आसान लग रहा है। पहिले पुण्यको खतम करो, पापको पीछे देखना। यह तो सब जीवोको आसान लग ही रहा है। यह कोई सिद्धिकी बात नही है। इन्ही सब कारणोसे इस गाथामे प्रथम ही पाप के सवरका वर्णन किया गया है।

पापास्रव छिद्रका निरोध—जिन प्राणियोने इन्द्रिय मन कषाय और सज्ञा—इन सबको इस सवर मार्गके लिए अथवा सवर मार्गमे रोक दिया है तब उनके पापास्रवरूपी छिद्र आच्छादित हो गया है, ऐसा समझिये। मार्ग तो यह सवर है। उस सवरभावका निमित्त क्या है ? जितने अशोमे जितने काल तक ये इन्द्रिया कषायें सज्ञायें रुद्ध हो जाती है इनका निग्रह हो जाता है उतने अशमे उतने काल तक पापास्रवका द्वार बद हो जाता है। इन्द्रियाँ ५ है और एक मन अन्तरगकी इन्द्रिय है, इन ६ का विषय कई बार वर्णनमे आ चुका है। क्रोधादिक कषायें, आहार आदिक सज्ञाएँ ये भाव पापास्रव है और ये द्रव्य पापके आस्रवके कारण है। जब यह भाव पाप रुक गया तो द्रव्यपाप वहाँसे आ जायगा ? जैसे नावमे छिद्र है जिससे नावमे पानी भर रहा है तो सबसे पहिले छिद्र रोका जाता है, फिर पानी उलीचा जाता है। तो इस भावपापका निरोध कर देना यही है भावसवर। यह सवर द्रव्यपाप प्रकृतियोके सवरका कारणभूत है। कर्तव्य बताया गया है इसमे कि तुम ऐसा ज्ञान बनावो जिससे यह भाव पाप समाप्त हो जाय। इस संवरके मार्गसे ही हम आपको शान्तिकी प्राप्ति होगी।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुह असुह समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

आस्रवकी अपात्रता—जिस आत्माके रागद्वेष और मोह नही है, किसी भी विषयमें जिस जीवके शुभ और अशुभ कर्मोका आस्रव नही होता ऐसा योगी रागादिक दोषोसे रहित शुद्धोपयोगके कारण तपस्वी है, तपोधना है। यह आत्मा सर्वप्रकारके शुभ अशुभ सकल्पोसे रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे उत्पन्न हुए सहज आनन्दरसका भोगने वाला होता है और इस आनन्दामृतकी अनुभूतिसे उत्पन्न हुई तृप्तिके कारण यह सुख और दुखमे समान है। इसमे सुख दुख हर्ष विषाद आदिक विकार अब प्रकट नही होते है। ऐसे शुद्धोपयोगी जीव विरक्त ज्ञानी साधुसत पुरुष जिनको केवल अपने स्वरूपकी रुचि है, रुचि क्या, इस स्वरूपमात्र मै हू, इस प्रकारका जो अनुभव करते है बस वे ही समस्त सकटोके दूर रहते है। जिस जीवको अपने आपके सम्बन्धमे एतावन्मात्र मैं हू, ज्ञानप्रकाश मैं हू, ऐसा बोध नही रहता है उसकी

बाह्यमे दृष्टि जगती है और उस बाह्य दृष्टिमे यह क्षुब्ध बना रहता है।

सुख दुःखके कारणोमे समानता—ज्ञाता आत्माके समस्त परद्रव्योमे न राग है, न द्वेष है, न मोह है, केवल निर्विकार चैतन्यस्वरूप उपयोगमे है, वह सुख दु खमे समान है। जो जीव सुख और दु खको एक समान देखता है उसके यह भी श्रद्धा है कि पुण्यका कारणभूत शुभोपयोग और पापका कारणभूत अशुभोपयोग ये भी समान है। यद्यपि अपेक्षाकृत इनमे अतर है। अशुभोपयोगसे शुभोपयोग कुछ एक शान्ति और धर्मका वातावरण उत्पन्न करने वाला है, किन्तु निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वरूपके समक्ष ये दोनो प्रकारके उपयोग इसके प्रतिपक्ष हैं। यो पुण्य पाप भावमे, पुण्य पाप कर्ममे और सुख दु खमे जिसके समानताकी बुद्धि उत्पन्न हुई है ऐसे पुरुषके न पुण्यका आस्रव होता है और न पापका आस्रव होता है, किन्तु एक सवररूप ही दशा रहती है।

भावसंवर—यहाँ यह जानना कि मोह रागद्वेष वीतराग न होने रूप शुद्ध चैतन्यप्रकाशका नाम भावसम्वर है और भावसम्वरका निमित्त पाकर शुभ अशुभ कर्म परिणाम भी जो रुक जाते है वे द्रव्यसम्वर है। द्रव्यसम्वरपर इस आत्माका वश नही है, किन्तु वह तो स्वय होता ही है। यह आत्मा भावसम्वरका करने वाला है। यह आत्मा एक ज्ञानस्वरूप है, यह अपने ज्ञानका उपयोग बाह्यको अपनानेका न करे और अतःस्वरूपमात्र मैं हू ऐसी अपनी व्यवस्थित बुद्धि बनाये तो उसके सम्वरभाव प्रकट होता है।

द्वितीय गुणस्थानसे सवरका प्रारम्भ—जिस गुणस्थानमे जितने अशमे सम्वरभाव प्रकट होता है उस गुणस्थानमे उस-उस प्रकारसे कर्म प्रकृतियोका बध रुक जाता है। जैसे दूसरे गुणस्थानमे १६ प्रकारकी प्रकृतियोका बध नही होता, मिथ्यात्व, हुडक सस्थान, नपुसक वेद, असप्राप्तसृपाटिका सहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरक आयु—इन १६ प्रकृतियोका बध दूसरे गुणस्थानमे नही होता, सम्वर है। यद्यपि यह द्वितीय गुणस्थान सम्यक्त्वसे गिरनेपर होता है और उसके अयथार्थ भाव है, अनन्तानुबधी कषायका उदय है, किन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय न होनेके कारण वहाँ १६ प्रकृतियोका बध नही होता।

उपरितन गुणस्थानोमे सवरका क्रम—तीसरे गुणस्थानमे २५ प्रकृतिया और भी बधसे रुक जाती है और ये १६ और २५ मिलकर ४१ प्रकृतियाँ चौथे गुणस्थानमे भी नही बँधती है। इन २५ प्रकृतियोमे अप्रत्याख्यानावरण कषाय आदिक वे प्रकृतिया है जो अनन्तानुबधी कषायके उदयके कारण बँधा करती थी। तीसरे गुणस्थानमे अनन्तानुबधीका उदय नही है। इस कारण अनन्तानुबधीके उदयसे होने वाली प्रकृतियोका सम्वर हो जाता है। पञ्चम गुणस्थानमे १० प्रकृतियोका बध और रुक जाता है। आगे देखिये छठवेंमे ४ का, ७वें

मे ६ प्रकृतियोका, ८वेंमे १ का, ९वेंमे ३६का, १०वेंमे ५ का, १२वेमे १६ का व योगियोके १ का बध और रुक जाता है।

द्रव्यसवर—इस प्रकार जहाँ जैसा शुद्धोपयोग प्रकट हो वहाँ उतनी प्रकृतियोका बध रुक जाया करता है। यह है द्रव्यसम्वर। और कर्मप्रकृतियोके बध रुक जानेका कारणभूत जो शुद्ध भाव है वह है भावसम्वर। इस गाथामे शुभ और अशुभ परिणामोका सम्वर करनेमे समर्थ शुद्धोपयोगको भावसम्वर बताया है और भावसम्वरके आधारसे जो नवीन कर्मोका बन्ध रुक जाता है उसे द्रव्यसम्वर कहा है।

जस्स जदा खलु पुण्ण जोगे पाव च णत्थि विरदस्स।
सवरण तस्स तदा सुहासुहक दस्स कम्मस्स ॥१४३॥

शुभाशुभ कर्मोका संवरण—जिस विरत पुरुषके मन, वचन, कायमे अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम नही है उस मुनिके शुभ अशुभ भावोसे उत्पन्न होने वाले कर्मोका सवर हो जाता है। सवर नाम है आस्रवके रुकनेका। आस्रवका द्वार है मन, वचन, काय—इन तीन योगोकी प्रवृत्ति। आना और बँधना—दो काम हुआ करते है। आनेमे कारण है योग और बँधनेमे कारण है कषाय। तो योगी पुरुषकी कषाय मद रहती है और गुप्तिका यत्न रहता है। मनका वशमे करना मनोगुप्ति, वचनका वशमे करना वचनगुप्ति और कायका वशमे करना कायगुप्ति। इन युक्तियोंके बलसे आस्रवका निरोध होता है।

योगका परिणाम—व्यवहारमे भी हम देखते है। चुपचाप बैठे रहे, मत बोले तो वहाँ आपत्तिका जाल नही होता और कुछ बोले तो उन वचनोसे आपत्तिका जाल आने लगता है। भले ही कोई आपत्ति रागरूप हो, कोई आपत्ति द्वेपरूप हो, पर बोलनेके बाद क्षोभ तो होता ही है। यो ही रहो, कुछ मत सोचो कोई विपदा नही है। जहाँ मनमे सोचविचार हुआ, कल्पना जगी वहाँ ये सब विपदायें आने लगती हैं। ऐसे ही शरीरसे कोई प्रवृत्ति नही कर रहे, सम्यग्ज्ञानपूर्वक कायका निरोध किया जा रहा है वहाँ विपदा काहेकी ? जहाँ इस देहसे कोई पवृत्ति की, कुछ कार्य किया, इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पनाएँ जगी, लो इससे उसके अन्तः क्षोभ रहता है और बाहरमे किसी पुरुषको अपनी काय चेष्टा पसद आये, किसीको न पसद आये तो परकी ओरसे भी विपदा हो जाया करती है। यह तो व्यावहारिक बात है।

मानसिक योगका फल—अब जरा अन्त निरखिये—यहाँ मनमे कुछ भी हलन-डुलन हो वहाँ कर्म आ जाते है। वचनसे कुछ भी परिस्पद हुआ वहाँ कर्म आ धमकते है। ऐसे ही शरीरकी प्रवृत्तिसे योग हुआ वहाँ कर्म आ धमकते है। यहाँ तथ्यभूत बात यह जानना कि मन, वचन, कायकी हलनसे कर्म नही आते, किन्तु मन, वचनकायकी हलनसे उसका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोमे परिस्पद होता है और आत्मप्रदेशोके परिस्पदके निमित्तसे कर्म आते

हैं। कर्म आनेका कारण है योग और योग होनेका कारण है मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति। जो योगी मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे निवृत्त है, कषायोसे दूर है, शुभ परिणाम रूप पुण्यभावको अथवा अशुभ परिणामरूप पापभावको नही करता है उस जीवके उस समय शुभ अशुभ कर्म द्रव्यकर्मका सवर स्वय हो जाता है।

परिणामोकी सभालका कर्तव्य—भैया! अपनेको करनेका काम अपने परिणामोकी सम्हाल है और वास्तविक ढगसे यदि अपने परिणामोकी सम्हाल हो सकी तो वहाँ फिर सकट माने जाते है। वे सब सकट तभी तक है जब तक अपने परिणामोकी सम्हाल नही है। एक अध्यात्मक्षेत्रकी बात कही जा रही है। घरका क्या होगा, बच्चे कैसे रहेगे, गावमे पोजीशन क्या रहेगी, क्या स्थिति बनेगी, ये सारे विचार जब चलते हैं तो उपयोगमे सकट है। लगता भी ऐसा कि बात सच है। घरके बच्चे हमारे ही तो आधीन है, लेकिन अध्यात्मक्षेत्रकी ओरसे इसका समाधान लें तो अपने परिणामोकी सम्हाल कर लें तो वे कोई सकट रह सकेंगे क्या? जब अध्यात्मकी अनुभूति चल रही है तो पहिली बात तो यही है कि परिजनका विकल्प भी वहाँ नही ठहरता, सकट काहेका, और मानो अध्यात्मकी अनुभूति हो तो चुकी, पर इस समय नही है, इस समय परिजनोके प्रति ध्यान ही हो रहा है तो वहाँ भी सकट कम है, क्योकि अन्त यह प्रतीति पडी हुई है कि प्रत्येक जीव स्वय अपने-अपने स्वरूपसे सत् है और उन जीवोंके साथ उनके कर्म लगे हुए है, वे सुरक्षित रहते है, अपने-अपने कर्मोंके कारण ससारमे सुरक्षित रहते है।

पुण्यवंतोकी चिन्ताका नाटक—भला छोटे-छोटे बालक, बच्चे जो न आपको कमाकर खिला सके, न किसी काम आ रहे है, दो-दो, चार-चार, छ-छः वर्षके बच्चे कुछ आपकी सेवा भी नही कर रहे है, पर आप उन बच्चोकी कितनी प्रीतिपूर्वक सेवा करते है? गोदमे लें, खिलायें, उनका मन रखें, उन्हे प्रसन्न देखना चाहे, क्या इच्छा है उसकी पूर्तिका बडा यत्न करें तो हमे आप यह बतलावो कि पुण्य किसका विशेष है? सेवा करने वाले जो आप है, आपका पुण्य बडा है या उन छोटे बच्चोका पुण्य बडा है? छोटे बच्चोका पुण्य विशेष है। जिससे आप भी उनकी उतनी सेवा करते है। और फिर दूसरे ये बालक पूर्वभवके पुण्यके प्रसादसे यहाँ मनुष्यभवमे आये है, इन्होने अभी बडी उम्र नही पायी, इनमे विकार उद्दण्ड नही हुए, कषाये अभी इनमे विशेष जागृत नही हुईं, रागद्वेष मोहकी प्रबलता, कषायोकी प्रबलता इनमे अभी नही हुई तो इनका पुण्य आपसे विशेष है। बडोंने बडी उम्र पाकर बहुत-बहुतमे विकल्प बना डाले, उसमे कुछ आज हीनता है तो बतलावो ये पुण्यवान बालक जो तुमसे अधिक सुरक्षित है उनका भाग्य अच्छा है या आपका? भाग्य तो उन बालकोका ही अच्छा है। देखो तो गजब, समर्थोकी चिन्ता की जा रही है। तीसरी बात यह है कि जिस

जीवके जिस समय जिस विधिसे जो होनेको है उसमे हम आप क्या फर्क डाल सकेंगे ? तब अन्य चिन्ताओसे सिद्धि क्या है ?

भावसंवरके अधिकारका प्रयोग—यह ज्ञानी सत्पुरुष अपने स्वरूपकी सम्हालके कारण निराकुल रहा करता है। तब प्रधान बात क्या हुई ? कर्मोंमे जो होना है वह कर्मोंके कारण होगा, निमित्तनैमित्तिक भावोमे हो जायगा, पर प्रधान बात है आप अपने शुभाशुभ परिणामो का निरोध करें। भावसम्वर और द्रव्यसम्वर इन दोनो सम्वरोमे आपका अधिकार भावसम्वरपर है। अपने परिणामोकी सम्हाल करनेसे ही सब काम अपने आप ओटोमेटिक स्वयं हो जाते है—कल्याणके लिए जो कुछ चाहिए। तब द्रव्यपुण्य और द्रव्यपापके सम्वरका कारणभूत यह भावपुण्यसम्वर और भावपापसम्वर प्रधान है। हम अधिकाधिक अपने आपको इस प्रकारसे निहारनेका यत्न करे कि यह मै आत्मा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हू, अमूर्त हूं, देहादिकसे भी जुदा हू, इन समस्त बाह्य परिग्रहोसे भी जुदा हू। केवल अपने स्वरूपमात्र हू। जब कभी व्यवहारके विकल्प उठें, हाय यह घर छूटा जा रहा है, अरे तो क्या हुआ, दूसरे घरपर पहुचेंगे। परिणामोकी सम्हाल है तो इससे बढिया स्थानपर पहुचेंगे। यह वैभव छूटा जा रहा है। अरे अपने आपके परिणामोकी सम्हाल करो, यही है वैभव पानेकी कुञ्जी। वह अपने हाथ है तो उससे भी कई गुना वैभव आगे मिलेगा। एक अपने आपके एकत्वस्वरूपको यह जीव देखे तो इसके व्याकुलता नही रह सकती है। मोह क्षोभसे रहित आत्माके शुद्ध परिणामोका नाम है सम्वर तत्त्व।

सवरजोगेहि जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे वहुविहेहि।
कम्माण णिज्जरण बहुगाण वुणदि सो णियद ॥१४४॥

कर्मनिर्जरण—सवर और शुद्धोपयोगसे सहित जो पुरुष नाना प्रकारकी तपस्यावोसे अपने आपमे चैतन्य प्रतपन करते है वे पुरुष निश्चयसे बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करते है। इस गाथामे निर्जरा पदार्थका व्याख्यान किया गया है। सवर नाम है शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के परिणामोके निरोध हो जाने का। परिणामोका निरोध टक्करसे नही हुआ करता। जैसे अशुभ परिणामका निरोध शुभपरिणामसे किया गया तो अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम इन दोनोमे भिडन्त हुई हो और फिर शुभोपयोगसे अशुभोपयोगको हटाया हो, ऐसी बात नही है, किन्तु जीवके एक समयमे एक उपयोग होता है। जिस कालमे इस जीवके शुभोपयोग परिणाम हो रहा है उस कालमे अशुभोपयोगका अभाव है और यो सत्त्वमे आकर शुभोपयोगने अशुभोपयोगका निरोध किया—यो कहा जाता है। जैसे अगुली सीधी है अब इसे टेढ़ी करें तो इस टेढी पर्यायने सीधी पर्यायका निरोध कर दिया। पर सीधी पर्याय और टेढी पर्यायमे भिडत नही हुई और इस टेढी पर्यायने सीधी पर्याय हटायी हो ऐसी भी बात नही है,

किन्तु एक समयमे कोई एक परिणमन होता है। जब उस अगुलीकी टेढी परिणति हुई तो सीधी परिणति अपने आप रुक गई। सो उस जीवके जब शुभोपयोग हुआ तो अशुभोपयोग रुका हुआ है, शुद्धोपयोग रुका हुआ है। जब जीवके शुद्धोपयोग प्रकट हुआ तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोका अभाव है। यह तो है सवर और यह सवर ही है शुद्धोपयोग। अथवा सवरमे नास्तिरूपमे वर्णन है और शुद्धोपयोगमे अस्तिरूपमे वर्णन है।

तपश्चरणोमे अनशनतपका प्रयोजन—शुद्धोपयोगसे युक्त साधुके जब ६ प्रकारके बहिरंग तपोसे और ६ प्रकारके अन्तरङ्ग तपोमे जो कि अपने अन्तर्गत अनेक रूप है, जब तपश्चरण रूप प्रवर्तन होता है तो बहुतसे कर्मोका निर्जरण हो जाता है, कर्म अकर्मरूप हो जाते हैं, कर्मोकी स्थितियाँ घट जाती है। वे १२ प्रकारके तप क्या है? एक चैतन्यमे प्रतपन करने के साधन हैं। जिस साधुने अनशन व्रत लिया है उस साधुका यह ध्यान है कि मेरे आत्माका स्वभाव ही अनशन है अर्थात् भोजन न ग्रहण करना है और यह आत्मा जब अनशन स्वभावमे रहता है अर्थात् अनशन दोषोसे बरी हो जाता है, अरहत अथवा सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है तो यही है उसकी व्यक्त कल्याणरूप अवस्था। इस अनशनस्वभावी आत्मा की सिद्धिके लिए कुछ दिनके लिए या यावज्जीव अनशनके विकल्पोका त्याग हो, ऐसी भावना के साथ जिसने आहारका परित्याग किया है उसके अनशन तप हुआ है।

अवमौदर्य तपका भाव—इस ही प्रकार अनोदर तप भी निष्कलङ्क अन्तस्तत्त्वकी सिद्धिके प्रसगमे होता है। अनशनस्वभावी इस आत्माकी सिद्धिका जिसे ध्यान है वह कदाचित् क्षुधाकी वेदना, असाताकी उदीरणाके कारण विधिपूर्वक आहारमे प्रवृत्त होता है, लेकिन वहाँ थोडे आहार मात्रसे सन्तोष करके भोजन समाप्त कर बहुत खाली पेट आकर अपनी धर्मसाधना मे जुट जाते है और कभी जान समझकर भी अवमौदर्य तप यो करते है कि यह भी आत्म-कौतूहल देखूँ। भोजन करते हुए मे लो बस हो गया, अब नही करना, आज इतने ग्रास ही भोजन करूँगा। अवमौदर्य तप भी एक विशिष्ट तप है। अधपेट चले आना, यह भी एक तपस्या है।

वृत्तिपरिसंख्यानादि तपका प्रयोजन—ये साधु जन अपनी दृढताकी परीक्षाके लिए, कर्मनिर्जरणकी परीक्षाके लिए कभी-कभी अटपट प्रतिज्ञाएँ ले लेते है। ये प्रतिज्ञाएँ दूसरेको मालूम नही हो पाती है। जैसे कही कथावोमे वर्णन आया है कि एक साधुने यह नियम लिया कि चर्याके समय मुझे सामनेसे एक बैल ऐसा आता हुआ दिखे जिसकी सीगमे गुडकी भेली भिदी हुई हो तब आहार लेगे। बतावो यह कैसे बने? किसीको क्या पता? कई दिन के बाद उनकी यह विधि बन गई। किसी बैलने दूकानदारकी दूकानमे रखे हुए गुडमे मुह लगाया तो जल्दी-जल्दीमे उस बैलकी सीगमे एक गुडकी भेली बिध गई। देख लिया साधुने

ऐसा दृश्य। लो उस साधुकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी। तो ऐसा तप भी कर्मनिर्जराके अर्थ होता है। इस तपसे कर्मोकी निर्जरा होती है स्वभावकी उपासनाके कारण। यो ही सर्वतपोका प्रयोजन चैतन्यप्रतपनकी सिद्धि है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाण।
मुणिऊण झादि णियद णाण सो सधुणोदि कम्मरय ॥१४५॥

कर्मसंधुनन—जो पुरुष सम्वर भावसे सहित होकर आत्मार्थका साधक होता है, आत्माका प्रयोजन है स्वभावविकास, उसका जो साधनहारा होता है वह पुरुष निश्चयसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको जानकर सदा इस ही ज्ञायकस्वरूपका ही ध्याता रहता है। ऐसा ही पुरुष कर्मरूप धूलको उडा देता है। सवर नाम है शुभ और अशुभ परिणामोका पूर्णतया निरोध होना। शुभ और अशुभ परिणाम दोनो ही आस्रवके कारण है, आस्रवके अत्यन्त निरोध होनेका नाम सवर है, अत: ऐसा परिणाम होना जो केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही रहा करे, रग और तरग जहाँ उत्पन्न न हो, कपाय और योग जहाँ उद्दण्ड न हो, ऐसे उस धीर परिणामका नाम है सवर। उस सवरभावको करके जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान कर लिया है ऐसा ज्ञानी पुरुप जब परपदार्थ विषयक, प्रयोजनसे अथवा अन्य प्रयोजनोसे अपनी बुद्धिको हटा लेता है और इस प्रकार आत्माके प्रयोजनकी साधनामे ही जिसका मन उद्यमी रहता है वह पुरुष आत्माको आत्माके ही द्वारा प्राप्त करके इस ही आत्माको अभेद-रूपसे चैतन्यस्वरूपमात्र ध्यान करता है, एक अविचलित मन होकर अपनी ही इस विशुद्ध परिणतिका स्वभावमात्र अनुभव करता है उस समय यह जोव स्नेहसे अत्यन्त रहित हो जाता है, और वह कर्मरजको उडा देता है।

क्लेशका कारण—जीवोको क्लेशका कारण स्नेहभाव है। किसी भी विपयका स्नेह हो, वे सारे स्नेह दो भागोपे विभक्त है। एक तो विषयसाधनाका स्नेह और एक लोकमे अपने नामका स्नेह, यशका स्नेह। अर्थात् इन्द्रिय विपयोका स्नेह और मनोविपयका स्नेह। यो ये स्नेह ही इस जीवको क्लेशके कारण है। जब कभी कोई उपद्रवकी घटना होती है उस कालमें जो घबडाहट है वह घबडाहट किस बातकी है ? स्नेहके विपयभूत विषय अथवा लोकयश इन दोनोका विघटन देखकर या विघटनकी सभावना निरखकर इसे क्लेश उत्पन्न होता है। हे आत्मन् ! अनादिकालसे इस जगत्मे भ्रमण करते हुए कितने ही तो विपयोके साधन बनाये होगे और कितनी ही मनकी बहुत दौड मचाई होगी, जब वे भी नही रहे। बड-बडे वैभव राजपाट और बडे देवेन्द्र आदिकके पद वे भी जब नही रहे तो आजका यह तुच्छ वैभव, छोटा सा क्षेत्र और यह छोटासा समय, इसमे क्या अपना उपयोग फसाये हो ? इतनासा ही उप-योगका फँसाव मिटा दो और सबसे न्यारे अपने आपमे अपने आपको निरखकर केवल अपने

आपका ही आपा बन जाओ तो अनन्त कालके लिए सकट समाप्त हो जानेका उपाय पा लोगे।

क्लेशकर्मसंधुननका प्रयोग—यह आत्मा स्वय स्वयंकी ओर झुके, स्वयका यथार्थ-स्वरूप जाने, स्वयमे मग्न हो तो समस्त सकट इसके समाप्त हो जाते है। और उस समय उत्पन्न होने वाला जो अद्भुत आनन्द है उसमे यह सामर्थ्य प्रकट होती है कि बडेसे बडे तीव्र कर्मईंधनको भी यह चैतन्यप्रतपन जला देता, नष्ट कर देता। कर्मनिर्जरा कैसे होती है उसके उपायमे यह कहा जा रहा है कि रागद्वेष परिणामोका निरोध करके केवल ज्ञायकस्वरूप निज आत्मतत्त्वको निरख। इस निर्जरा तत्त्वके पकरणमे कर्मनिर्जराका हेतुभून जो यह विशुद्ध ध्यान है उस ध्यानकी मुख्यतासे दृष्टि दिलाई गयी है।

अज्ञानकृत बिगाड—भैया! शुभ अशुभ रागादिक ही तो है आस्रव। इस जीवको क्लेशके कारण तो शुभराग अथवा अशुभराग है। होता क्या है? यह आत्मा जहाँ है, जिस प्रदेशमे है वह वहाँ है। अब वहाँसे यह उपयोग द्वारा हट करके बाहर भगना चाहता है। जहाँ इसकी ऐसी बहिर्मुखी वृत्ति होती है वहाँ ही इस जीवपर सकट आ जाता है। यह अपने इस दृढस्वरूपदुर्गमे रहे तो इसे कोई तकलीफ नही है, पर अपने स्वरूपसे हटकर ज्यो ही यह बाहरकी ओर दौडता है इसपर सारे सकट छा जाते है। पया अटकी थी इस जीवकी जो अपने स्वरूपसे च्युत होकर किन्ही परजीवोको, परचीजोको यह अपना मानता है। किसी परजीवको अपना माननेसे कोई इसमे सुधार होता है, शान्ति होती है, सन्तोष होता है क्या? प्रत्युत असन्तोप अशान्ति और बिगाड होता है। लेकिन कषायविष्ट प्राणी अपनी बिगाडको भी नही देखते। जैसे क्रोधी पुरुष अपने आपकी बिगाडको भी नही निरखता किन्तु क्रोधमे जो चित्तवृत्ति बन जाती है उसके माफिक अपनी प्रवृत्ति करता है, ऐसे ही ससारके सभी प्राणी जिन प्रवृत्तियोसे इसकी बरबादी हो रही है उन्ही प्रवृत्तियोको यह अपनाता जा रहा है।

हेय उपादेयके निर्णयका परिणाम—जब शुभ अशुभ भावका निरोध हो तब इस जीवको कल्याणमार्ग मिलता है। ज्ञानी पुरुष हेय और उपादेय तत्त्वका भली प्रकार निर्णय रखता है। चाहे किसी परिस्थितिमे हेय तत्त्वमे भी लिपटे हो फिर भी यह हेय ही है, ऐसी दृढ श्रद्धा रहा करती है। आत्माका जो हित है वह उपादेय है और परवस्तुविषयक प्रयोजन है अथवा परप्रयोजन है वह सब हेय है। यह ज्ञानी पुरुप परप्रयोजनसे दूर हटकर शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप केवल निज कर्मका साधने वाला होता है। सर्व पुरुपार्थ करके एक अपने आपको ऐसे अनुभवमे लगा दो कि यह मै आत्मा अमूर्त केवल ज्ञानानन्दप्रकाशमात्र हू, केवल ज्ञानस्वरूप हू—इस अनुभवमे ऐसा बल प्रकट होगा कि बडेसे बडे सासारिक बिगाडोमे भी यह आकुलित न होगा। जैसे किसी दूसरे देशका बिगाड होनेपर इस देश वाले प्राय विह्वल तो नही होते, जैसे अन्य नगर, अन्य पुरुपका, अन्य पडौसीका कुछ बिगाड होनेपर यह अन्तरमे

विह्वल तो नही होता । ऐसे ही समझ लीजिये कि जिसके श्रद्धामे यह है कि ये तो दूसरोकी चीजे है, जिस ज्ञानीके यह देह भी दूसरेकी चीज है, अन्य चीज है ऐसा स्पष्ट निर्णय है उस ज्ञानीका, इस देहके वियोगके समय, मरणके समय भी विह्वलता नही हो सकती है । विह्वलता तब है जब परपदार्थोमे स्नेह लगा हुआ हो ।

ज्ञानीकी निरख—यह ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य पदार्थोसे उपयोग हटाकर केवल एक अपने आपके स्वरूपमे उपयोगको जोडता है । यह समस्त आत्मप्रदेशोमे निर्विकार नित्यानन्दरूप अपने आत्माको मानता है, रागरहित इस शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभव करता है । यह मै आत्मा केवल प्रतिभासमात्र हू । इस मुझ आत्माका अन्य कुछ नही है । यह जीव प्रकट निराला है । इसका सत्त्व, इसके बँधे हुए कर्म, इसके परिणमन मुझसे प्रकट निराले है । मै इस रूप नही हू, परद्रव्योसे हटकर निर्विकल्प ध्यानके द्वारा यह ज्ञानी पुरुष निश्चल चित्त होकर इस आत्माको एक अभेद ज्ञानस्वरूप निरखता है और यह इस ज्ञानस्वरूपको निरखनेमे इतना दृढ है कि घोर उपसर्ग भी आ जायें, तो भी उनसे विचलित नही होता । कुछ-कुछ तो यहाँके लोग भी निरखे जाते है कि अमुकसे अमुक पुरुष अधिक अविचल चित्त है ।

दृढ़ सकल्पमे साहस—कोई उद्देश्य ही ऐसा दृढ बनाया है ज्ञानी जीवने जिसके कारण इसका चित्त अविचल रहता है । कुछ तो निकट कालकी ही घटनाये भी सुननेमे आई है कि आजादीकी भावना रखने वाले कुछ क्रान्तिकारी लोगोको कैद करके उनकी अगुलिया भी जलाई गयी कि तुम अपने ग्रुपका भडाफोर करो, अमुक बात बतावो, लेकिन अगुली जला लेना उनके लिए कष्टकारक नही हुआ एक अपने उद्देश्यको पूर्तिके लिए । फिर भला बतलावो जिन ज्ञानी पुरुषोने अपना एक यही उद्देश्य बनाया है कि मै सत्य आनन्द प्राप्त करूँ, और वह सत्य शाति मेरे स्वरूपमे स्वभावमे है, उस ही स्वभावको मै निरखूँ, एक ही मेरा काम है कि अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप निहारता रहू । मै ज्ञानमात्र हू, ऐसा केवल ज्ञानमात्र निहारता रहू, यही मेरा एक काम है ।

स्वरूपसंवेदनका प्रभाव—स्वरूपस्थताके काममे जो दृढतासे लग गए, सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार अनेक महापुरुष वे सभी कैसे अविचल चित्त थे ? कैसे कठिन उपसर्ग आये, फिर भी वे स्वरूपरुचिसे चलित नही हुए । तो कोई बलिष्ट बात तो उनके अदर थी ही । गजकुमारके सिरपर मिट्टीकी बाड लगाकर तेज आग लगा दी गई, सिर जलने लगा, मांस नीचे टपकने लगा, इतनेपर भी वे गजकुमार जरा भी विचलित नही हुए । तब समझ लीजिए कितना बडा सारभूत काम उनको करनेको पडा हुआ था जिसमे इतनी लीनता थी ? इतना बडा उपसर्ग भी उनके लिए न कुछ हो गया । तो यो ज्ञानी पुरुष जब अविचल चित्त होकर,

स्नेहरहित होकर शुद्ध स्फटिक स्तम्भके समान अन्तर बाह्य निर्मल रहते है वे ज्ञानी पुरुष कर्मधूलको उडा देते है। निर्जरा पदार्थके व्याख्यानमे निर्जराका मुख्य कारण शुद्ध आत्मा है उसका इस गाथामे वर्णन किया है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

शुभाशुभ भावके दहनका उपाय—जिस जीवके रागद्वेप मोह और योगप्रवृत्ति नही है उस जीवके शुभ अशुभ भावोको जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है। पूर्व गाथामे यह बताया था कि शुभ अशुभसे रहित एक शुद्ध स्वरूपका आलम्बन कर्मोंको नष्ट कर देता है। तो यहाँ उपाय बताया है उसका कि वह उपाय कौनसा है कि जिससे शुभ और अशुभ परिणाम न रहे जीवमे। वह उपाय है शुद्ध ध्यान। यह आत्मा, यह ससारी जीव सदा किसी न किसी ध्यानमे रहा करता है और ध्यान ही करता है। एक भाव बनानेके अतिरिक्त अन्य कुछ करता ही क्या है? ध्यान शुद्ध अन्तस्तत्त्वका बने तो शुभाशुभकर्म दूर हो जाते है।

बाह्यमे जीवका अकर्तृत्व—एक जीवस्वरूपको निरखकर देखो यह जीव केवल अपने स्वरूपका ही कर्ता है, अपने परिणमनका ही कर्ता है, और उपाधि सहित होनेमे एक इच्छा करता है, उस इच्छाके होनेपर जैसी सामर्थ्य है, जैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बध है उस इच्छाके कारण आत्मामे योग परिस्पद होता है और उस योग परिस्पदके कारण शरीरकी वायुमे परिस्पद होता है और उस वायुके परिस्पदसे यह शरीररूपी इजन चल बैठता है। रेलका इजन भी तो वायुमे प्रेरित होकर चलता है। वह हवा स्टीमके रूपसे बनी है। तो जैसे अन्तर वायुसे प्रेरित होकर उस इजनके पेंच पुर्जोंके भीतर जो हवा बनती है उस हवासे प्रेरित होकर इजनका सब मशीन ढाचा चल उठता है ऐसे ही इस शरीरमे जो अन्तर्वायु है उसका हलन-चलन होनेसे उस अनुरूप इसके हाथ, पैर, ओठ, जीभ ये चलने लगते है और उनके चलनेसे जैसा जो कुछ बाह्यमे परिणमन होना है, होता है।

जीवमे भावनाका कर्तृत्व—जैसे जिह्वा आदिकके चलनेसे शब्दोका निर्माण होता है, शरीर आदिकके चलनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर तक पहुच जाता है, ये सारी बाते हो रही है और बडी शीघ्र हो रही है। विलम्ब नही रहता। मैं इच्छा करूँ अब कि यह बोले और बोल निकले देरमे ऐसा भी नही है। गडबड कोई बोल जाय उन समस्त बोलोमे इच्छा बराबर नाच रही है। तब तो क्रमपूर्वक वैसे शब्द बोले जा रहे है। यह जीव सिवाय भावनाके, ज्ञान की इच्छाके अन्य कुछ नही करता। तो देखो जब भावनासे ही इतना बडा ससार बनाया है तो इस भावनासे ही यह ससार मिटाया भी जा सकता है। वह कौनसी भावना है, वह कौनसा ध्यान है जिससे ये ससारसकट दूर हो? निज शुद्धस्वरूपमे चैतन्यवृत्ति अविचलित होवे

उस ही का नाम यह ध्यान है ।

ध्यानाग्नि—जब यह जीव अनादिकालीन मिथ्यात्वकी वासनाके प्रभावसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे अनेक कामोमे प्रवर्त रहे, इस उपयोगको सकोच करके बाह्यपदार्थोंसे कुछ हट करके जब न मोह करने वाला, न राग करने वाला, न द्वेष करने वाला इस प्रकार अपनेको निष्कषाय बनाता है, अत्यन्त शुद्ध बनाता है अर्थात् निज शुद्धस्वरूपमे अपने उपयोगको जमाता है उस समय इस जीवके शुद्ध ध्यान प्रकट होता है। वहाँ यह निष्क्रिय केवल प्रतिभासस्वरूप चैतन्यमे ही विश्रान्त हो जाता है। वहाँ मन, वचन, कायकी भावना नही रहती। उनके परिस्पदका यत्न नही रहता और ये इन्द्रियाँ अपने कर्मोंमे उद्यत नही होती। उस समय जो ध्यान बनता है वह ऐसा उत्कृष्ट है, ऐसी अद्भुत अग्निकी तरह है जो शुभ और अशुभ सब प्रकारके कर्म ईंधनको जलानेमे समर्थ है अथवा यो कह लीजिए कि जैसे तुषारके द्वारा बडे-बडे वृक्ष भी जल जाया करते है, इसी तरह इन शान्त परिणामोके द्वारा इस अपने आपमे अपने उपयोगको समा लेने रूप शुद्ध ध्यानके द्वारा ये शुभ अशुभ कर्म, ये ससारविषवृक्ष सब जल जाया करते है।

ध्यानाग्निका प्रताप—निज शुद्धस्वरूपका ध्यान ही परमपुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है। जैसे थोडी भी अग्नि बहुत अधिक मात्रामे हुए तृण काष्ठकी राशिको थोडे ही समयमे जला देती है इसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय आदिक विभावोसे परे शुद्धस्वभावके ध्यानरूपी अग्नि, जो कि विभावकी परिहाररूपी वायुसे प्रज्ज्वलित हुई है ऐसी यह ध्यानाग्नि और जो कि परमानन्द रस रूपी घी से सिंचित हुई है ऐसी यह आत्मसम्वेदन रूपी ध्यानाग्नि समस्त कर्मोंको, ईंधनराशिको क्षणमात्रमे जला देती है। अग्निको हवा मिले और कुछ घी मिले तो वह अग्नि तेज ज्वलित हो जाती है, इसी प्रकार आत्मानुभवरूपी अग्निको विभावोकी परिहार रूपी महान वायु मिली है और विशुद्ध आत्मीय आनन्दरसका घृतसिंचन हुआ है, उससे प्रज्ज्वलित हुई यह ध्यानाग्नि समस्त कर्मोंको दूर कर देती है।

पुरुषार्थका अवसर—आजके इस कठिन समयमे भी कोई पुरुष यदि कल्याणकी विशुद्ध भावना बनाये तो आज भी योग्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे शुद्ध होकर यहाँसे इन्द्रपद प्राप्त कर सकता है, लोकान्तिक देव बन सकता है जहाँसे चलकर मनुष्य होकर निर्वाणको प्राप्त कर सकता है। जीवनका समय थोडा है, आगमका विषय बहुत बडा है और हम आप लोग भी मद बुद्धिके लोग है, ऐसी स्थितिमे हम आपको कमसे कम इतनी शिक्षा तो दृढतासे ग्रहण कर लेनी चाहिए जिस शिक्षापर रखी हुई वृत्ति इस जन्ममरणसे व्याप्त ससारकी जडको काट सकती है अर्थात् वह सीधासा उपाय है। हम अपने आपको परिजनोंसे, वैभवसे, देहसे सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव किया करें, यह अन्त श्रद्धा हमारी प्रत्येक परिस्थिति

मे वनी रहे, ऐसी प्रवृत्ति, प्रकृति और दृष्टि वने तो नियमसे अपना कल्याण होगा, इसमे सन्देहकी रच भी वात नही है।

ज मुहमनुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१४७॥

यह रागी आत्मा शुभ अशुभ भावोको जो कि प्रकट होते है कर्मप्रवृत्तिका निमित्त पाकर इन शुभ अशुभ भावोके होनेपर यह जीव उस-उस प्रकारसे नाना पुद्गल कर्मोमे वँध जाता है। इस गाथामे बंधके स्वरूपका आख्यान किया है। -

अशुद्धताका कारण—यह जीव अनादिकालसे रागी चला आया है। इस रागका कारण है किसी दूसरी उपाधिका सम्बध। किसी भी पदार्थमे उस पदार्थके स्वभावके विरुद्ध कोई काम होगा तो वहाँ नियमसे किसी परउपाधिका निमित्त होगा। किसी परउपाधिके सम्बध बिना विपरीत कार्य नही होता। जीवका स्वभाव शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है। ऐसी शुद्ध वृत्तिको छोडकर रग तरगरूप जो अशुद्ध वृत्तिया होती है उनका कारण कोई न कोई पर-उपाधिका सम्बन्ध है। वह परउपाधि है कर्म। कर्मउपाधिके आश्रयसे अनादिकालसे रागी हुआ यह आत्मा कर्मोके उदयके निमित्तसे जो-जो भाव उदीर्ण हुए है, प्रकट हुए है शुभ अथवा अशुभ, उन शुभ अशुभ भावोका निमित्त पाकर यह जीव पुद्गल कर्मोसे बँध जाता है।

त्रिविध बन्धन—इस कथनमे ३ वातोपर दृष्टि डाली गई है। जो मोह रागद्वेषसे स्निग्ध हुआ जो शुभ अशुभ परिणाम है वह तो है जीवका भाववन्धन और उस भावबन्धनका निमित्त पाकर जो शुभ अशुभ कर्मरूप परिणत होते है पुद्गल स्कध वे है द्रव्यबंध। और उन पुद्गल कर्मोका जीवप्रदेशके साथ एक क्षेत्रावगाह बधन हो जाता है उसका नाम है उभयबध। बन्धमे इन तीन दृष्टियोको देखिये—अत्र यहाँ एक और मर्मकी बात अन्वेपण करे कि जीवमे भावबन्ध हुआ। बन्धन दो का ख्याल रखकर हुआ करता है। एकमे बन्ध क्या? कोई पदार्थ एक है, अद्वैत है उसका बन्धन क्या? बधन शब्दका अर्थ ही यह है कि दो का विशिष्ट सयोग होना सो बन्धन है। एक वस्तुका क्या बन्धन है? तब जीवमे भावबन्ध हम किस पकार निरखें? उभयबन्ध तो सुगम विदित है, यहाँ जीवद्रव्य है, यहाँ पुद्गलद्रव्य है, इन दोनोका परस्परमे बन्धन हो गया, पर भावबन्ध क्या, और द्रव्यबन्ध क्या? इसके समाधानमे प्रथम तो यह निर्णय करे कि केवल एक भावद्रव्य बन्धन ही स्वय हो ऐसा नही है।

तीनो बन्धनोका योग—बधमे तीनो वन्ध होते है—भावबध भी है, द्रव्यबध भी है, उभयबध भी है। इनमे से किसी एकको न माने तो तीनो भी बन्धन नही बँधते, पर ऐसा होते हुए भी दृष्टिकी कलासे ३ बातें विज्ञात होती है। अब दूसरी बाते भी देखिए—जीवका स्वभाव है शुद्ध चैतन्य। जीवका प्राण है ज्ञान और दर्शन। किसी भी प्रकार हुआ हो, अन्य

उपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, लेकिन क्या ऐसा देखा नही जा सकता कि हम कुछ उपाधि पर दृष्टि न दें और जो उपादान बिगड गया है मात्र उसको ही निरखकर निर्णय करें ऐसा किया जा सकता है ना ? किया जा सकता है।

दृष्टान्तपूर्वक भावबन्धनका प्रदर्शन—जैसे दर्पण—उसके पीछे रहने वाले जो पदार्थ है उन सबका प्रतिबिम्ब आ जाता है। यद्यपि दर्पणमे वह प्रतिबिम्ब परउपाधिका निमित्त पाये बिना आया नही है, लेकिन हम पीठ पीछेकी उन उपाधियोको ख्यालमे न रखकर केवल दर्पण और दर्पणमे बीत रही हुई बातोको ही ध्यानमे रखकर कुछ निर्णय करें तो क्या कर नही सकते ? वहाँ यह निर्णय हो रहा है कि दर्पणका स्वभाव तो अतीव स्वच्छता है। अब देखो यहा इस दर्पणमे उस स्वच्छताका विघात करते हुए दर्पणके ही प्रदेशोमे दर्पणके प्रतिबिम्बरूप परिणमन होता है और इस समय परिणमन और स्वच्छता—इन दोनोका ऐसा प्रवेश है कि इस प्रतिबिम्बके कारण स्वच्छताका विघात है और देखो इस स्थितिमे स्वभावके साथ यह प्रतिबिम्ब ऐसा बँध गया है कि प्रतिबिम्बका तो आविर्भाव है और स्वच्छताका तिरोभाव है। कितना विकट बधन है कि दोषोका तो प्रसार है और गुणोका तिरोभाव है। ऐसे ही कर्मोदय का निमित्त पाकर जीवमे रागद्वेष मोह भाव हुआ है, ठीक है, किन्तु दृष्टिकी कला यहाँ जब हम एक निश्चय पद्धतिसे लगाते है, हम केवल वर्तमान परिणाम रहे इस जीवको निरख रहे है।

विभावका आवरण—हम अपने उपयोगमे इस समय परउपाधिको नही निरखते है और केवल वर्तमान परिणत जीवको ही निहारे तो वहाँ हमको क्या-क्या दीखेगा ? यह जीव स्वभावत चैतन्यस्वरूपमात्र है, किन्तु वर्तमानमे इस जीवके प्रदेशोमे रागादिक भावोका ऐसा प्रसार है जिस प्रकारके कारण रागादिक भावोका तो आविर्भाव है और चैतन्यस्वभावका शुद्ध भावका स्वभाव विकासका तिरोभाव हो गया है। यह स्वभावमे विभावका ऐसा प्रवेश है विलक्षण जो स्वभावरूप न हो विभाव, फिर भी विभाव वहाँ हावी है। एक प्रसार फैला हुआ है। वहाँ स्वभावमे गुणोका ऐसा बन्धन बन गया है, यहाँ एक ही पदार्थमे बन्धन है। वस्तुत किसी भी पदार्थका विकल्प उस ही पदार्थकी बधपद्धतिसे होता है, उसमे निमित्त पर उपाधि हुआ करती है। किन्तु वह उपाधि अलग खडी-खडी हँसा करती है। उस उपाधिका उपादानमे न गुणरूपसे, न पर्यायरूपसे प्रवेश है। यो जीवका यह भावबध है। जीवका यह भावबध निश्चयदृष्टिसे जीवके परिणमनसे हुआ है, जीवसे हुआ है, जीवके लिए हुआ है और उस बन्धनरूप परिणमनमे वह जीव स्वतन्त्र कर्ता है।

द्रव्यबन्ध—अब यहाँ द्रव्यबधकी बात देखिये। जो कार्माणवर्गणाये कर्मरूप न थी उनमे कर्मत्वपरिणमन आया, यही द्रव्यबध है। यह द्रव्यबध यद्यपि जीवके रागादिक विभावो

का निमित्त पाकर होता है तिसपर भी हम अपनी दृष्टिमे, निश्चयकलाकी पद्धतिसे प्रयुक्त करें तो हम उपाधिभूत परद्रव्यको न निरखें और यहाँ जो गुजर रहा है उसपर दृष्टि करे। ये कार्माणवर्गणायें ऐसी योग्यताके कारण कार्माण नाम व्यपदेशको प्राप्त होती है। कर्मरूप नही है। कर्मरूप होनेसे पहिले जैसे अन्य वर्गणायें विशुद्ध है ऐसे ही ये कार्माणवर्गणायें विशुद्ध थी। अब क्या गुजर गया इन वर्गणावोमे ? एक विलक्षण कर्मत्वपरिणति आ गयी, ज्ञानावरणादिक परिणति पड गई, उनके ठहरनेकी स्थिति बँध गई, अनुभाग आ गया। यह सब इन कर्मोंमे जो परिणमन होता है इस परिणमनरूप उस द्रव्यमे बध हो गया। यही हुआ द्रव्य बध।

कर्मबन्धन—अब कुछ इसमे आगे और चलें तो इस जीवमे जो ज्ञानावरणादिक कर्म पहिलेसे ठहरे हुए है उन ज्ञानावरणादिक कर्मोंके साथ नवीन कर्मरूप परिणमे हुए द्रव्यका बन्धन हो गया है, वह मिल गया है। शरीर ५ माने गए है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। कार्माण शरीर और है क्या ? कार्माणशरीरके लक्षणमे कही यह भी बताया है कि कर्मोंका जो समूह है उसका नाम कार्माणशरीर है। तब कार्माण शरीर नामकर्म के उदयमे हुआ क्या ? कर्म तो बध गये रागद्वेष मोहके कारण और वे इकट्ठे आ गए। अब कार्माणशरीर इससे अलग क्या ? तो यो समझियेगा जैसे हम कहे ईंट और भीत। भीत नाम और किस बातका है ? जो ईंटोंका समूह है उस ही का नाम भीत है। तो यहाँ बिखरी पडी हुई ईंटोमे और भीतमे कुछ अन्तर है क्या ? उन ईंटोका जम करके एक बोडी बन जाना उसका नाम भीत है। कर्म आते है और आनेके ही साथ कार्माणशरीरकी बोडीमे एकरस होकर शरीररूप हो जाया करते है। यो पहिले बँधे हुए द्रव्यकर्मके साथ नवीन बन्धन वाले द्रव्यकर्मका बन्धन होना यह भी द्रव्यबध है और उभयबध तो स्पष्ट है। जीवके प्रदेशोंके साथ पुद्गलकर्मका बन्धन होना एक क्षेत्रावगाह निमित्तनैमित्तिक रूप बधन होनेका नाम है उभयबध। इस प्रकार बधके स्वरूपका वर्णन करते हुए इस गाथामे मुख्य बात यह बतायी है कि आत्माके शुद्धपरिणमनसे विपरीत शुभ अशुभ परिणाम होना भावबध है। और उन कर्मोंका कर्मत्वरूप परिणमन होना द्रव्यबध है और जीवके प्रदेशोंके साथ कार्माणवर्गणाओंका एकमेक अन्योन्यावगाह प्रवेश और निमित्तनैमित्तिक निर्णयरूप बन्धन होना, सो उभयबध है।

जोगणिमित्त गहण जोगो मणवयणकाय सभूदो।
भावणिमित्तो बधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥

आस्रव और बन्धका कारण—इस गाथामे बन्धके बहिरङ्ग कारणोपर विचार किया गया है। द्रव्यकर्मका ग्रहण योगके निमित्तसे होता है। जीवके प्रदेशोंमे परिस्पद होनेका नाम योग है और उस योगका निमित्त पाकर कर्मोंका आस्रवण होता है। यह योग मन, वचन,

कायके परिस्पदमे उत्पन्न होता है । यह तो बताया आस्रवकी पद्धति । इस ही प्रकरणमे जहाँ कि निमित्तनैमित्तिक भावोका वर्णन चल रहा है किसी कारणसे क्या हुआ, वहाँ यह जानना कि मन, वचन, कायकी क्रियावोके निमित्तसे आत्मप्रदेशोमे परिस्पद हुआ और इस योगके निमित्तसे नवीन् कर्मोंका कर्मत्वका आस्रवण हुआ । यहाँ तक तो आस्रवकी बात कही, अब बध की बात सुनिये ।

बन्धमें स्थितिकी प्रमुखता—कार्माणवर्गणाओमे कर्मत्वपरिणमन हुआ, इसके साथ ही उस कर्मका स्थितिबन्ध बन्धन हुआ कि इतने दिनो तक यह ठहरेगा । एक समयसे अधिक समय ठहरनेका नाम बन्धन है । यद्यपि वह बन्धन प्रथम समयसे ही हुआ है, पर यह बन्धन है, ऐसा जाहिरापन इस विधिसे हुआ जब यह ज्ञात हुआ कि यह एक समयसे ज्यादा भी ठहर गया । ऐसा यह बन्धन जीवके भावके निमित्तसे होता है । वह कौनसा जीवभाव है जिस जीवभावका निमित्त पाकर कर्मोंमे इस प्रकारका बन्धन हुआ करता है । वह भाव है रागद्वेष मोह युक्त आत्माका अध्यवसायपरिणाम । कर्मपुद्गलका जीवप्रदेशमे रहने वाले कर्मस्कधोमे प्रवेश हो जानेका नाम ग्रहण है । वह होता है योगके निमित्तसे और योग नाम है मन, वचन, कायकी क्रियावर्गणावोका, कर्मवर्गणाओका आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशोका परिस्पद होना । मन, वचन, कायके कारण योग नही होते, किन्तु मन, वचन, कायकी कर्मवर्गणावोके निमित्तसे आस्रव होता है, योग होता है ।

वर्गणा—वर्गणा एक नापका भी नाम है । उसे द्रव्यमे भी लगाओ, क्षेत्रमे भी लगाओ, कालमे भी लगाओ और भावमे भी लगाओ । जैसे कोई पिण्डरूप वस्तु सामने रखी हो तो उसमे अनेक वर्गणाएँ है और किसी वस्तुमे क्रिया हुई तो क्रियावोका भी नाप वर्गणावोसे लगा लो । तो मन, वचन, कायकी जो क्रियावर्गणाये है अर्थात् कर्म है, क्रिया है उनका आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेश परिस्पद हुआ है उसका नाम योग है । एक वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे जो यह कथन हुआ करता है कि जीवमे इच्छा और ज्ञान हुआ उस इच्छा और ज्ञानकी प्रेरणा पाकर आत्मप्रदेशोमे हलन-चलन हुआ और उस योगका निमित्त पाकर ओठ, हस्त आदिक अगोंमे क्रियाएँ हुईं, उसके बाद वचन या अन्य पदार्थोका ग्रहण परिहार हुआ । इस कथनमे और इस प्रकरण के कथनमे कोई विरोध नही है । इच्छाकी प्रेरणा पाकर जो आत्मप्रदेशोमे योग हुआ है वह मन, वचन, कायकी क्रियावोका आलम्बन पाकर हुआ है, क्योकि यह जीव अकेला नही है इस प्रसगमे । जो जितना मन, वचन, कायका आलम्बन पाकर यह योग हुआ है इस योगसे जो शरीरमे वायु चली कि शरीरकी क्रियायें हुई वे वायु और क्रियाएँ जुदी चीज है ।

क्रियावर्गणा—क्रियावर्गणा व योगके प्रसगमे कुछ ऐसा भी समझिये जैसा कि ध्वनि निकलती है तो ध्वनि निकलनेमे २ प्रकारकी वर्गणावोमे सम्बध होता है—एक महास्कध

और एक भाषावर्गणास्कध । जीभ, ओठ, दात, तालुके टक्करसे शब्द प्रकट नही हुआ है, किन्तु यह तो है महास्कध, जो पकडनेमे आता है, दिखनेमे आता है, इन महास्कधोका तो सघट्टन हुआ और उनके-उनके सघट्टनका निमित्त पाकर जो भाषावर्गणाके स्कध है, जो आँखो नही दिखते, पकडमे नही आ रहे उन भाषावर्गणाके स्कधोसे शब्द ध्वनि निकली है, इन ओठो से नही । यहाँ यह समझिये कि इच्छाकी प्रेरणा पाकर मन, वचन, कायका आलम्बनपूर्वक योग होता है । अब इस योगसे योगके माफिक इस इच्छाके अनुकूल शरीरमे वायुका स्पद हुआ, उससे अग चले, अथवा एक पद्धतिभेदमे जुदे-जुदे भी भावदृष्टिमे ला सकते है । यह है योग । इसमे तो कर्मोका आस्रवण होता है ।

बन्धविधान व उसकी प्रतिक्रिया—अब बध जो होता है वह किस विधानसे होता है ? इसे सुनिये । कर्मपुद्गलका विशिष्ट शक्तिरूप परिणमनसे ठहर जाना ऐसा जो बध होता है वह जीवभावके निमित्तसे होता है । वह जीवभाव क्या है ? जीवके शुद्ध चैतन्यप्रकाशके परिण-मनसे विपरीत ये कषाय मिथ्यात्व आदिक परिणमन है । इन परिणमनोके निमित्तसे कर्मोका बध हुआ है । मोहनीय कर्मोके उदयमे जो विकार जगता है वह विकार कर्मबन्धका कारण है । यहाँ यह बात समझना कि पुद्गलके ग्रहणका कारण होनेमे योग तो बहिरङ्ग कारण है इस बंधमे और विशिष्ट शक्ति, विशेष स्थिति जो उन वर्गणावोमे पडी है उसका कारण है कषायभाव, जीवभाव । वह जीवभाव अन्तरङ्ग कारण है । वह बध नामक हेय तत्त्वकी व्याख्या चल रही है । हम आपपर यह बधकी विपदा पडी हुई है । इस जीवनकी काल्पनिक विपदावोको छेदनेमे ही अपने उपयोगको लगा दें तो बुद्धिमान नहीं है । सब विपदावोका कारणभूत जो यह कर्मत्वकी विपदा है उसके छेदनेका यत्न करना चाहिए । वह यत्न है आत्मस्वरूपकी दृष्टि । जैसा अपना स्वरूप है वैसा अपनेको मानना, उस ही मे रमना यह है बधके विनाशकी पद्धति । इसका हम यत्न करें और इसके लिए वस्तुस्वरूपका ज्ञान करें, ज्ञानार्जन करें तो इस ही उपायसे हमे सब उपाय बनाना आसान हो जायगा ।

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारण भणिद ।
तेसि पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१४९॥

कर्मबन्धव्यवस्था—आठ प्रकारके कर्मोके बधका कारण चार प्रकारका द्रव्यप्रत्यय है और उन चार प्रकारके द्रव्य पत्ययोका भी कारण रागादिक विभाव है । उन रागादिक विभाव भावोके अभाव होनेपर फिर कर्म नही बँधते । ऐसी प्रसिद्धि है कि कर्मबन्धका कारण जीवके रागादिक भाव है । यह एक सुगम कथन है । वस्तुत वहाँ बात क्या होती है कि नवीन कर्मबन्धका कारण उदयमे आये हुए कर्म है, रागादिक नही है, और उदयमे आये हुए कर्मोमे नवीन कर्मबधनका निमित्तपना आ जाय, इसमे निमित्त है रगादिक भाव । इसी कारण

सीधा कथन प्रसिद्ध हो गया कि रागादिक भावोके कारण कर्मबन्ध होता है। इस कथनमे अनेक मर्म पडे हुए है। प्रथम तो मूर्तिक पुद्गल कर्मोंके बन्धका कारण सीधा कुछ मूर्तिक पदार्थ होना चाहिए। इसकी पुष्टि इसमे हो जाती है तथा इसका भी समर्थन इस पद्धतिमे हो जाता है कि उदयमे आये हुए द्रव्य कर्ममे नवीन कर्मबन्धका निमित्तपना आये तभी ना कर्म बँधेगा, तो ऐसा निमित्तपना आनेमे कारण है रागादिक भाव। तब यह सभावना की जा सकती है कि कभी ऐसी स्थिति आ जाये कि द्रव्यकर्म तो उदयमे आ रहे है और रागादिक भावोका सहयोग न मिले तो वे द्रव्यप्रत्यय बधके कारण नही है।

रागादिके अभावमे द्रव्यप्रत्ययकी बन्धाहेतुता—अब इस प्रसगमे इस बातपर विचार करना है कि क्या ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि द्रव्यकर्म तो उदयमे हो और रागादिक भाव न होते हो ? ऐसी स्थितिकी सम्भावना एक दो स्थलोमे हो सकती है। जैसे दशम गुणस्थानमे द्रव्य मोहनीयकर्मका उदय है, सज्वलन सूक्ष्म लोभका उदय है, पर मोह बधके योग्य रागादिक भाव नही है। इस कारणसे वहाँ मोहनीय कर्मका बन्ध नही होता। दूसरी स्थिति विचारिये। कभी निषेकोके क्रममे ऐसा निषेक पुञ्ज आ जाय जिसका अनुभाग मद हो और उस उदयागत कर्मका आश्रयभूत नोकर्मका समागम न मिले तथा यह ज्ञानी जीव अपनी उस समयकी योग्यताके पुरुपार्थसे कुछ आत्मचिन्तनकी ओर लगे तो ऐसी स्थितिमे जहाँ कि ये दो-चार बाते हुई है, उदयागत द्रव्य प्रत्ययमे निमित्तपनाका निमित्त न आयगा, कुछ इस विपयको समझनेके लिए एक दृष्टान्त लें।

बन्धहेतुहेतुत्वका स्पष्टीकरण—जैसे किसी मालिकके साथ कुत्ता भी जा रहा है, सामने से कोई एक विरोधी पुरुप आये तो मालिकने कुत्तेको सैन दी, छू, और उस कुत्तेने उस पुरुप पर आक्रमण कर दिया। मालिककी बुद्धिके सामने कुत्तेमे तो कोई बुद्धि नही है। तो ऐसा अबुद्ध कुत्ता उस विरोधीके सघर्षमे आया है, किन्तु उस कुत्तेमे सघर्प करनेका बल आ जाय इसका कारण मालिककी सैन है। यो ही इस रागी जीवके साथ प्रदेशोमे कर्मोका उदय चल रहा है, उदयागत इन कर्मोका साक्षात् सघर्ष नवीन कर्मोंके साथ होता है बन्धनके लिए, किन्तु उदयागत द्रव्यकर्ममे ऐसा बध निमित्तपना आये उसके लिए सैन मिली है इस रागी जीवकी विकारपरिणतिकी। इस रागी जीवके रागकी सैनको पाकर उदयागत द्रव्यकर्मोंमे नवीनकर्मबन्धका कारणपना आया। बात बहुत सूक्ष्म है यह यथार्थ निमित्तनैमित्तिकपना बतलानेके प्रसंगमे।

आस्रवोकी चतुर्विकल्पता—अन्य सिद्धान्त ग्रन्थोमे अष्टकर्मोंके बधके हेतुभूत चार प्रकारके भाव कहे गये है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इस मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगको आप दो भेदोमे रख लीजिए। द्रव्यमिथ्यात्व भावमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति,

भावअविरति, द्रव्यकषाय, भावकषाय, द्रव्ययोग, भावयोग। जो इन चार प्रकारके जीवोमें हरकतोका कारणभूत कर्म है वह तो है द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोग। और जीवमे जो इस प्रकारका परिणमन हो रहा है वह है भावमिथ्यात्व, भावअविरति, भावकषाय और भावयोग। तो कर्मबन्धके कारणभूत वे चार द्रव्यभूत प्रत्यय है, उनमे बन्धहेतुता आ जाय उसका हेतु है जीवके परिणमन रूप रागादिक भाव। क्योकि रागादिक भावो का अभाव होनेपर द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोगका सद्भाव होनेपर भी जीव बँधते नही है। इसका एक अर्थ तो अभी बताया ही है। दूसरी बात यह समझो कि सत्तामे पडे हुए ये द्रव्यकर्म है, सद्भाव तो इनका है, पर उस-उस योग्य इस समय रागादिक भाव नही है, इसलिए जीव बँधता नही है।

द्रव्यप्रत्ययमे बन्धहेतुताका काल—इस सम्बन्धमे समयसारमे एक दृष्टान्त दिया है। किसी बडी उम्रवाले पुरुषका अत्यन्त कम उमर वाली बालिकाके साथ विवाह हो जाय, जैसे बहुत पहिले उद्दण्डता चलती थी, तो वह छोटी बालिका बन्धके योग्य नही है क्योकि उस बालिकामे अभी विकारोका सद्भाव नही आया। समय पाकर राग विकार आ जाय, उस समयमे ये पुरुष और स्त्री बध जाते है। ऐसे ही बन्धन तो हो गया कर्मका, पर अपनी उमर पर जब तक ये कर्म विपाकमे न आयें, जब तक ये कर्म अपनी आखिरी स्थितिपर न आयें तब तक ये बन्धनके कारण नही बनते, यो ही पडे रहते है। जब ये कर्म अपनी स्थितिपर आते है, उदयको प्राप्त होते है तब कर्मबन्धके कारण होते है।

बन्धप्रसंगमें रागादिकी अन्तरङ्गहेतुता—इस कथनमे सारभूत बात यह लेनी कि निश्चयसे बन्धनका अन्तरङ्ग कारण तो रागादिक भाव है, किसी तरहसे सही। चाहे सीधी नाक पकडो और चाहे एक तरहका प्राणायामसा हो तो पीछेसे हाथ डाल कर नाक पकडो, पकडी गई नाक ही। चाहे उसे सुगम सिद्धान्तमे बतायी गई पद्धतिसे कहो और चाहे सूक्ष्म विश्लेषण करके कहो, फल यह निकला कि रागादिक भाव हो तो जीवको बन्धन है, रागादिक न हो तो जीवका बन्धन नही होता।

गुणस्थानोमे प्रत्ययविभाजन—बधके कारण जो ये चार उपाय कहे है उनमे से मिथ्यात्व तो केवल पहिले गुणस्थानमे है, अविरति पहिले गुणस्थानसे लेकर चतुर्थगुणस्थान तक है और कषाय पहिले गुणस्थानसे लेकर दसम गुणस्थान तक है और योग पहिले गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थान तक है। पचमगुणस्थानमे अविरतिभाव नही है, किन्तु सयमासयम है। इस कारण अविरतिभाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही समझना है। यो इस गुणस्थानमे इन-इन प्रसगोके कारण अपनी-अपनी योग्यतानुसार बन्धन होता रहता है। बध पदार्थका यहाँ व्याख्यान समाप्त हुआ, अब मोक्षपदार्थका व्याख्यान किया जा रहा है।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५०॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पावदि इंदियरहिद अव्वाबाह सुहमणंत ॥१५१॥

भावमोक्षपद्धति—मोक्षका परम उपाय है संवर, इसलिए मोक्षकी व्याख्या संवरसे ही शुरू की जाती है। जब आस्रवके कारणभूत जीवके मोह रागद्वेष रूप हेतु नही रहे अथवा रागद्वेषका निमित्त पाकर निमित्त बनने योग्य उदयागत द्रव्यकर्म नही रहे तो ज्ञानीके रागादिक आस्रवोका निरोध हो जाता है और जब भावास्रव नही रहे तो मोहनीय आदिक चारघातिया कर्मोंका भी निरोध हो जाता है। जब घातिया कर्मोका अभाव हो गया तब यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वदर्शी हो जाता है, अव्याबाध अनन्त सुखको प्राप्त करता है। जहाँ इन्द्रियोके व्यापारका सम्बन्ध नही है, यही है भावमोक्ष। इस ही का नाम है जीवन्मुक्ति।

भावमोक्षका विवरण—अरहत परमात्माके यह भावमोक्ष प्रकट हो गया है अर्थात् भावोसे छुट्टी मिल गई है। किन भावोसे मुक्ति हो गई है ? कर्मोके आवरणसे आवृत्त इस चेतनके जो यह भाव निरन्तर बना रहता था ज्ञप्तिपरिवर्तनका भाव, क्रमसे प्रवर्तमान ज्ञप्तिकी क्रियाका जो चक्रमणरूप भाव रहा करता था वह भाव ससारी जीवकी अनादि मोहनीय कर्मके बलसे अशुद्ध था और द्रव्यकर्मके आस्रवणका कारण था वह ज्ञानी जीवके समाप्त हो गया है। इस प्रसगमे भी एक नवीन चर्चा आयी है। जाननका प्रवर्तन होता रहना यह भाव ससारी जीवके क्लेशका कारण है। इसमे रागद्वेष मोह सब बातें आ गयीं, पर कहा यो जा रहा है आत्माके निकट होकर, आत्मा क्या कर रहा है जिससे यह बखेडा बना है ? यह अपनी ज्ञप्तिक्रियाका विसदृश प्रवर्तन करता जा रहा है। जैसे जिस मनुष्यको चैन नही है वह कभी यहाँ बैठता, देर तक नही बैठ सकता, उठकर दूसरी जगह बैठता, कई जगहोमे उछल कूद करता रहता है। ऐसे ही जब तक इस जीवको चैन नही है तब तक यह अपने जाननरूप कार्यमे उछल-कूद चक्रमण करता रहता है। और यह ज्ञप्ति परिवर्तनरूप क्रिया पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान तक चलती है, कही टिकाव नही होता। ऐसा आत्मबल नही प्रकट हुआ कि ज्ञप्तिपरिवर्तनको रोक दे। यदि यह जीव ज्ञप्तिपरिवर्तनको रोक देगा तो इसके बाद नियमसे केवलज्ञान ही प्रकट होगा। तो ऐसा जो भाव इस जीवके अनादिकालसे चला आ रहा था उस भावसे मुक्ति मिली है अब केवलज्ञान अवस्थामे।

किस भावसे छुटकारा—देखिये बात सीधी-सादी है, पर विश्लेषण सहित बात कही जाय तो वह एक नई बात, नई चर्चा बनती है। जैसे पहिले बताया था कि रागादिक भावोके कारण कर्मबन्ध होता है यह बात एक सुगम है, उसके विश्लेषणमे एक नई बात मिली थी,

ऐसे ही यह कहा कि रागद्वेष मोह भावोमे छुटकारा होनेका नाम भावमोक्ष है। यह बात सुगम है, पर यहाँ और भी अतः प्रवेश करके देखो तो जीवमे जो यह दुर्बलता पडी है कि यह सदृश ज्ञान, स्थिर सही ज्ञान नही कर पा रहा है और अपने जाननके काममे अनेक परिवर्तन बनाये हुए है, टिकाव नही है, ऐसी ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप जो जीवका भाव है उस भावमे अब मुक्ति मिली है, यही है जीवका भावमोक्ष।

संसरणका निजी अन्तरङ्ग हेतु—यह ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भाव रागद्वेष मोहकी प्रवीणताके साथ-साथ नष्ट होता है। जब यह आस्रवभाव दूर हो जाता है तो जब आस्रवभाव ही नही रहा तो मोहका अत्यन्त क्षय होनेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्यस्वरूपके आलम्बनके प्रसाद से अब ये भावकर्म दूर हो गए है। जीवका भावकर्म क्या है? मोटे रूपसे यह बताया है राग द्वेष मोह ये भावकर्म है। ये तो कुछ भिन्न और पररूप मालूम हो रहे है। जीवमें निजी कला क्या है और उस निजी कलासे सम्बधित भावकर्म क्या है—इसपर दृष्टि डालें तो मालूम पडेगा आपको भावरूप यह कर्म कि जाननरूप क्रियामे कर्मकी परिणति होना यही है इसका भावकर्म। अरे अभी इसे जान रहे, सब कुछ जाननेमे नही आ रहा। अब इसका जानना छोड़ा अब इसको जानने लगे। जानना छोड-छोडकर नई-नई बात जानते है यही है जीवका भावकर्म। जैसे कोटमे जेब लोग लगाते है, बास्कटमे जेब लगाते है, कोई जेब बाहरकी है, कोई भीतरकी है और कोई जेब अत्यन्त गुप्त है। है वे उस बास्कटकी ही जेबें। ऐसे ही जीवमे ये सब भावकर्म है। है वे। रागद्वेष मोह भावकर्म है। ये बहिरङ्ग दृष्टिसे जीवके अन्य भावकर्म है और ज्ञप्तिक्रियामे परिवर्तन होना इसमे जो कुछ अन्त श्रम हो रहा है वह है इसका अन्तरङ्गदृष्टिसे भावकर्म।

भावमोक्षमे विकासका रूप—अनादि कालसे जो अनन्त चैतन्यस्वरूप आत्मवीर्य दबा हुआ था अब शुद्ध तत्त्वकी जानकारी रूप क्रियाके द्वारा उस दुर्बलताको अन्तर्मुहूर्तमे खतम होकर, एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होते ही इस ज्ञानमे कथचित् कूटस्थता आ जाती है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो केवल ज्ञानके समयमे भी प्रति समयका केवलज्ञान परिणमन जुदा-जुदा है, लेकिन वह जुदा क्या? जो ज्ञान पहिले जिसे जानता था, सभी ज्ञान, सभी केवलज्ञान प्रति समय ठीक वैसाका ही वैसा जानते है, न कुछ कम, न कुछ ज्यादा तो वहाँ परिवर्तन क्या मालूम होगा? विषयकी दृष्टिसे केवलज्ञान कूटस्थ है और जीवमे प्रतिसमयका वह परिणमन चल रहा है इस दृष्टिसे प्रतिसमयका परिणमन जुदा-जुदा है। ऐसा यह केवलज्ञान कूटस्थताको प्राप्त होता हुआ प्रकट हो रहा है। अब ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भावकर्म नष्ट हो गए है। अब प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुए, इन्द्रिय व्यापारोसे रहित हुए, निर्बाध अनन्त सुखमय हुए। इस प्रकार भावकर्ममोक्षकी पद्धति बताई, द्रव्यकर्मसे मुक्तिका कारण

बताया और परमसम्वरके परमउपकारका वर्णन किया।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

निर्जराका हेतु—द्रव्यकर्मोंसे इस जीवको जिस उपायसे मुक्ति मिलती है वह उपाय अभी निकट पूर्वमे परमनिर्जरा तत्त्व बताया है। उस विशुद्ध निर्जराका कारण क्या है, उसका आख्यान इस गाथामे किया गया है। द्रव्यकर्मसे मुक्ति मिले, इसके उपायमे होने वाली निर्जरा का कारण ध्यान है, जिसमे दर्शन और ज्ञानकी समग्रता है, जहाँ परद्रव्योंकी चिन्ताका निरोध है ऐसा यह ध्यान निर्जराका कारण होता है। यह ध्यान किसके होता है? आत्मस्वभावके उपयोगमे रत रहने वाले साधु पुरुषके यह ध्यान होता है। इस ध्यानमे परद्रव्योका सम्बध नही है। जब यह भवयुक्त भगवान केवली अवस्थाको प्राप्त होते है तब निजस्वरूपमे अपने आपके सहज विश्रामके कारण अद्भुत आनन्द जगता है। उस आनन्दके प्रतापसे कर्मकलङ्कोका सधुनन हो जाता है।

आनन्दका धाम—इस लोकमे अन्यत्र आनन्दका नाम भी नही है। मोहके वश होकर यह जीव बाह्यपदार्थोंके सम्पर्कमे आनन्दकी कल्पनाएँ करता है। आत्मस्वभावका स्पर्श हुए बिना जीवको निरन्तर क्षोभ ही क्षोभ रहा करता है। कोई क्षोभ हर्ष रूपमे प्रकट होता है, कोई क्षोभ विषादरूपमे प्रकट होता है। स्वरूप दृष्टिमे ही वास्तविक आनन्द है। जहाँ पर सुख और दुःख कर्मविधानसे होने वाले नाना विभावोका अभाव हो गया है, ऐसी उत्कृष्ट स्थितिमे वह परम आनन्द प्रकट होता है, जिस आनन्दके बलसे समस्त आवरणोको प्रक्षीण कर दिया जाता है। तब यह भगवान केवली अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानचेतनास्वरूप हो जाते है। अतीन्द्रिय होनेके कारण अन्य द्रव्योके सयोगसे रहित उनका केवल स्वरूप विश्रामरूप परिणमन रहता है।

उत्तरोत्तर विकास—सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहिले और होनेके बादमे १४वें गुणस्थान पर्यन्त ज्ञानी जीवोमे अपने-अपने पदमे अपने-अपने योग्य ध्यानसे परिणमते रहते है। प्रथम तो सम्यक्त्व जगनेके निकट कालमे ऐसा विशुद्ध ध्यान होता है जिससे कर्मोंका बोझ इतना दूर हो जाता है कि पहिलेके मुकाबलेमे अब एक दो प्रतिशत भी कर्मभार नही रहता है। अनन्त ससार जहाँ कट जाता है, ऐसे सम्यक्त्व परिणाममे बहुत निर्जरा चलती है। उसके पश्चात् जैसे-जैसे ज्ञानी जीवकी अंत.स्थिति उच्च होती जाती है इसके ध्यानका बल और बढ़ता जाता है। १०वें गुणस्थानके अन्त तक समस्त मोहनीय कर्मोका क्षय हो जाता है। अब क्षीण मोह होकर यह एकत्ववितर्कशुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरणादिक शेष तीन घातिया कर्मोका भी क्षय कर देता है। अब शुद्धस्वरूपमे अविचलित चैतन्यवृत्ति बन गई है। ज्ञप्तिपरिवर्तनका काम

अब नही रहा। द्वितीय शुक्लध्यानमे जिस पदार्थको जान रहे थे उस ही पदार्थको निरन्तर जान रहे है और उस ही स्थितिमे सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है तो सर्वज्ञता प्रकट होनेमे कही पहिलेका ज्ञान नष्ट नही हो गया। वह अब प्रत्यक्षरूपमे ज्ञात है और शेष सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाते है। १३वें गुणस्थानमे स्वरूपसे चूकि वे चलित नही हो रहे, अतएव उनको ध्यान उपचारसे कहते है। वस्तुतः वे ध्यानका फल पा चुके है, उनके भी पूर्व बँधे हुए कर्मोका अनुभाग खडित देखा जाता है, इस कारण उस ध्यानको भी निर्जराका कारण कहा गया है।

वीतरागमूर्ति——भावमुक्तकेवली जीवन्मुक्तकेवली भगवान अरहत देवके निर्विकार परम आनन्दरूप आत्माकी उपलब्धिसे जो आनन्द हुआ है उसमे ही ये तृप्त रहते है। हर्ष-विषाद आदिक सासारिक विक्रियाएँ अब अरहत प्रभुके नही है। यहाँ हम आप किसी पुरुषका कितना स्वागत कर सकते है, किसी पुरुषका हम कितना समारोह मना सकते है, जितना भी अधिकसे अधिक स्वागत समारोह किया जा सकता हो उससे कई गुणा स्वागत समारोह अर-हत भगवानका यहाँ किया जाता है। समवशरण जैसी अनुपम रचना, देवेन्द्र देवादिकके द्वारा सारा प्रबध होना, इतने बडे समारोहके बीच रहने वाले अरहत प्रभु वैभवसे कितने पृथक् है, और तो बात क्या, उनके बैठनेके लिए स्वर्ण कमलके ऊपर जो एक अनुपम कान्तिमान सिंहा-सन रखा जाता है उससे भी ४ अगुल ऊँचे अरहत भगवान विराजे रहते है, और यह इन्द्र कुबेर भक्तिवश होकर भगवानके सिरके ऊपर छत्र लगाते है अथवा यो कहो यह लक्ष्मी प्रभु की सेवा करनेके लिए जब यह नीचेसे असफल हो गयी अर्थात् सिंहासनसे भी चार अगुल ऊँचे भगवान चले गए तो यह भगवानके ऊपरसे गिरती है छत्रके रूपमे कि अब हम भगवानको छू लें, लेकिन वह छत्र भी उनसे अधर ही रहा करता है। कितनी वहाँ शोभा की जाती है।

पुष्पवृष्टि और चमरका सन्देश——समवशरणमे प्रभु अरहत देवके निकट ऊपरसे देवता-गण फूलोकी वर्षा करते है। वह पुष्पवर्षा भी एक अद्भुत समा बाँध देती है। उनके गिराये हुए फूल भी दुनियाको उपदेश दिया करते है अपनी मुद्रा द्वारा। देखो जब फूल ऊपरसे छोडा जाता है तो फूलका कोमल हिस्सा पखुडिया, विकसितस्थान नीचे रहता है और ऊपर डठल रहती है। डठलका नाम बधन है। ऊपर बधन रहता है नीचे विकसित भाग रहता है। प्रभु के चरणोके निकट पहुचकर फूल किस तरह गिरते है कि नीचे तो बन्धन हो जाता है, क्योकि बहुत ऊपरसे फूल छोडनेपर वजनदार हिस्सा नीचेको हो जायगा, नीचे बन्धन आ जाता है, ऊपर विकसित भाग रह जाता है। यह फूल दुनियाको यह उपदेश करता है कि जो भगवान के चरणोमे आयगा, उसका बन्धन तो नीचे हो जायगा और उसका विकास ऊपर हो जायगा। ६४ यक्ष चमर ढोलते है। ये भक्तिसे ढोरे हुए चमर भी दुनियाको उपदेश दे रहे है कि जो भगवानके चरणोमे नम्रीभूत होगा वह नियमसे ऊपर उठ जायगा। चमर भी नीचेसे ऊपर

उठा करता है, जहांका अणु-अणु वातावरण भव्य जीवोको शिवपथगमनके लिए प्रेरित करता है। ऐसी अद्भुत विभूति भी अरहत भगवानके उपयोगको रच भी व्यग्र नही कर सकती। ऐसी अविचलित चित्तवृत्ति अरहत प्रभुके हुई है।

अर्हद्ध्यान—अर्हद्भक्तिकी बात इसलिए विशेषतया कही जा रही है कि सिद्ध भगवानके लिए रागका अवसर क्या ? वे तो एकदम अलग पहुच गए है, और ये अरहत प्रभु हम आप सरीखे हाथ-पैर वाले है और हम आप लोगोके बीचमे विराजमान रहते है, विहार करते है। इतने निकट है वे तिसपर भी अत्यंत वीतराग है। प्रभुका स्वरूप पूर्ण वीतरागता है। जो बातचीत करे किसीसे, किसीको सुखी दु.खी करे, किसीकी सम्मतिमे गोष्ठीमे आया करे वह कैसे भगवान है ? भगवान तो उत्कृष्ट वीतराग हुआ करते है। उनका चैतन्यप्रवर्तन उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनसे युक्त है, सहज शुद्ध चैतन्यमे परिणत है, इन्द्रियव्यापार आदिक बहिर्द्रव्योके आलम्बनसे रहित है। स्वरूप निश्चल होनेसे उनकी वे क्रियाएँ अब भी चल रही है जो पहिले उत्कृष्ट ध्यानके बलसे चला करती थी। भावमन न होकर भी सयोगकेवली भगवानके पूर्वबद्ध कर्मोंका अनुभागखण्डन स्थितिखण्डन वे सब बराबर चल रहे है, अतएव उनका ध्यान उपचारसे कहा गया है। यह ध्यान परद्रव्योके आलम्बनसे रहित है।

विराग विज्ञान—यहां एक आशका की गयी है कि छद्मस्थ, तपस्वीजन अथवा श्रेणी मे रहने वाले साधु जन वे आत्मा आत्माका ही ध्यान नही किया करते है, उनके ज्ञानमे कुछ भी आये उस ही के ध्यानसे कर्मोंका विनाश होता है। परद्रव्योका ख्याल मत करें, केवल आत्माका ही ध्यान करें ऐसी पद्धति उसके लिए है जिसमे ऐसी प्रकृति पडी है कि वह रागवश होकर परद्रव्योका ख्याल किया करे। जिन योगी पुरुषोके यह प्रमत्तभाव नही रहा उनके लिए तो यह उपदेश नही है कि उनका भी विचार करें। रागरहित वृत्ति होनेके कारण उनके तो ध्यान बराबर बना रहता है और कर्मनिर्जराका कारण होता है। जैसे लोकमे नई बहूपर ही तो प्रतिबन्ध रहता है कि तुम दूसरेंके घर न जाया करो, न बैठा करो, पर बुढियोंके लिए तो कोई प्रतिबन्ध नही लगाता। ऐसे ही समझो कि जब तक राग विकार प्रमादकी योग्यता है तब ही तक तो यह प्रतिबन्ध है कि तुम अन्य पदार्थोंका ध्यान मत करो। एक आत्मस्वरूप का ध्यान करो, किन्तु जिसकी चैतन्यवृत्ति इतनी उज्ज्वल है कि वह रागवश न रहे उनके लिए कुछ भी ध्यानमे आये, परमाणुका, आत्माका किसीका भी ध्यान करते हुए वीतरागस्वभावके कारण कर्मनिर्जरा कर रहे है। वे परद्रव्योका ध्यान करते हुए कैसी निर्जरा कर डालते है, ऐसी यहाँ एक आशका की गई है, इसका समाधान सीधा तो यह स्पष्ट है कि उनमे रागद्वेप परिणतिका अनुभव नही रहा, रागद्वेप परिणति नही रही तब कुछ भी ज्ञानमे आये, वह ज्ञान एक विशुद्ध ज्ञान है, और रागद्वेप रहित विशुद्ध ज्ञानमे यह सामर्थ्य है कि वहाँ कर्म ठहर

नहीं सकते ।

परमाणुके ध्यानका भाव—दूसरी बात यों सोचिये कि जहाँ यह कहा गया है कि वह परमाणुका भी ध्यान करे तो भी निर्जरा करता है । तो परमाणुका अर्थ है परम अणु, अत्यन्त सूक्ष्म चीज । वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु क्या है ? शुद्ध आत्माका तत्त्व । यह ज्ञानी पुरुष पर अणुका भी विकल्प ध्यान हो रहा हो उसे भी इस विधिसे जानता है कि इस परम आत्म-अणुका स्पर्श नहीं छूटता । वहाँ भी यह पुरुष आत्मस्पर्शमें रहा करता है । ऐसे इस वीतराग निर्विकल्प समाधिके ध्यानके प्रतापसे कर्मनिर्जरा होती है और उस निर्जराके फलसे मोक्ष प्राप्त होता है । यह आत्मा आत्माको आत्मामे आत्माके द्वारा क्षणमात्र भी धारण करता हुआ यह स्वयभू हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है । यह द्रव्यकर्मसे मुक्ति पानेके कारणभूत निर्जराके कारणका वर्णन किया है । अब इस अन्तिम गाथामे द्रव्यमोक्षका स्वरूप बतला रहे हैं ।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१५३॥

अघातिया कर्मोंके अभावकी पद्धति—जो सम्वर भावसे सहित होता हुआ, सर्वकर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय आयु नामकर्मसे रहित होकर नाम और गोत्र नामक भवको त्याग देता है उसका उस कारणसे मोक्ष होता है । जब चार घातिया कर्मोंका भी विनाश हो जाता है तो इसकी सम्पूर्णतया कर्मोंसे मुक्ति हो जाती है, सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है । केवली भगवानके प्रायः उस समय कर्मोंकी ऐसी स्थिति रहती है कि आयुकर्म तो रहता है अल्प और वेदनीय नाम गोत्र इन तीन कर्मोंकी स्थिति रहती है अधिक । जब मोक्ष होगा तो चार घातिया कर्मोंका एक साथ एक ही समयमे क्षय होगा तब मोक्ष होगा । तो यह बात कैसे बने ? यह बात समुद्घातसे बनती है ।

केवलिसमुद्घातमे निर्जरणकी विशेषता—भगवान सयोगकेवलीके अन्तिम अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमे जिसमे अनेक अन्तर्मुहूर्त पडे हुए है उनमे पहिलेके अन्तर्मुहूर्तमे इसका समुद्घात प्रकट होता है । पहिले दडाकार प्रदेश बनता है, फिर कपाटाकार फैलता है, फिर प्रतर बन जाता है और फिर लोकभरमे प्रत्येक प्रदेशपर उसमेसे एक-एक प्रदेश ठहर जाता है, फिर प्रतर कपाट दड होकर शरीरमे प्रवेश होता है । ऐसे फैलावसे कर्मोंका फैलाव हो जाता है और वह फैलकर निर्जीर्ण हो जाता है । थोडा बहुत अन्तर रहता है वह समुद्घातके बाद समाप्त हो जाता है । यो भगवान जब समुद्घात कर चुकते है उसके बाद सूक्ष्म क्रिया प्रति-पाती शुक्लध्यान प्रकट होता है । सूक्ष्मकाय योगके विनाश करनेके लिए यह ज्ञान हुआ, परम यथाख्यात चारित्र हुआ, उसके बलसे इसका योग नष्ट हो जाता है ।

अयोगकेवली गुणस्थानके अतमे सर्वकर्मविप्रमोक्ष—अयोगी गुणस्थानमे उपान्त्य समय

मे ७२ प्रकृतियोका और अन्तिम समयमे १३ प्रकृतियोंका विनाश होता है। अयोगकेवली अवस्थामे समुच्छिन्नक्रिय नामका ध्यान रहता है-जिसका दूसरा नाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति है, उसका अन्तर्मुहूर्त ही ठहराव रहता है। इसके बाद शरीरसे भी विमुक्त हो जाता है, कर्मोसे विमुक्त हो जाता है। आत्माकी जो एक शुद्ध केवल अवस्था है, केवल स्वरूप है वह ही कहां रह जाता है। यो यह भगवान शरीरसे, कर्मोसे रहित होते ही ऊर्द्धगमन स्वभावके कारण लोकके शिखरपर जाकर विराजमान हो जाते है।

सिद्ध भगवंतका धाम—लोग प्रभुका स्मरण करते समय सिर उठाकर स्मरण किया करते है। प्रभुसे कुछ बोलते समय ऊपर सिर करके बोला करते है। यह लोगोकी आदत भी इस बातको सिद्ध करती है कि भगवानका वास लोकके शिखरपर है। कोई पुरुष भगवानकी याद जमीनमे नीचे निगाह गडाकर नही किया करता। प्रभु सिद्ध भगवन्त लोकके शिखरपर विराजमान है, इस कारण लोगोकी प्रकृति सिर उठाकर ऊपर करके स्मरण करनेकी होती है। तो ऐसा बार-बार सिद्ध लोकका स्मरण किया, इस सस्कारके कारण समझ लीजिए कि सिद्ध होनेपर ऊपर ही वे जाते है अथवा संसारअवस्थामे सग बन्धन परिग्रहके कारण सर्व लेपोके कारण यह ससारमे रुलता रहा है। अब सग हट गया तो सगरहित तूमीकी तरह जैसे कि तूमी मिट्टी आदिक परसगोके लेपसे रहित होनेपर पानीमे ऊपर उतरा जाती है, ऐसे ही यह भगवान एकदम लोकके शिखरपर पहुच जाते है। बन्धनका छेद होनेसे जैसे एरन्डका बीज ऊपर ही जाता है यो ही कर्मबन्धका छेद होनेसे यह जीव लोकशिखरपर ही पहुच जाता है अथवा जीवका स्वभाव ही यह है। वह अकेला शुद्ध निर्लेप रहे तो वह अकेलाका ही अकेला आ जाया करता है। यो प्रभु सब कर्मबन्धनोसे मुक्त होकर लोकके शिखरपर विराजमान होते है।

आत्मनिर्देशन—जैसा प्रभुका स्वरूप है ऐसा ही स्वरूप हम आप सबका है, इस ओर हम आप साहस करें तो हम आपकी भी स्थिति ऐसी ही विशुद्ध बन सकती है। करना तो यही चाहिए। ध्यान इस ओर ही रहना चाहिए। हम इन बाह्य प्रपचोमे मोह ममता न करे, इनकी अटक अन्तरमे न मानें। यह मै तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हू, ऐसा अनुभवका बल बढायें, जिसके प्रसादसे ससारके सकट सदाके लिए समाप्त हो जायें।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त ॥

पञ्चास्तिकाय प्रवचन षष्ठ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

इदसदवदिणाण तिदुअणहिदमधुरविसदवक्काण ।
अतातीदगुणाण णमो जिणाण जिदभवाण ॥
जीवसहाव णाण अप्पडिहददसण अणण्णमय ।
चरिय च तेमु णियद अत्थित्तमणिदिय भणिय ॥१५४॥

नव पदार्थाधिकारके वर्णनके पश्चात् अब मोक्षपद्धति, मोक्षस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग आदिके वर्णनके द्वारा मोक्षमार्गके विस्तार करने वाली चूलिका कही जा रही है ।

मोक्षमार्ग और मोक्ष—अप्रतिहत ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन तो जीवका स्वभाव है और वह जीवसे अभिन्न है, और उस स्वभावमे नियत हो जाना यह चारित्र है । इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षका मार्ग है । इन सबको एक शब्दमे कहा तो यो कह लीजिए कि जीवके स्वभावमे नियत रहनेका नाम है मोक्षमार्ग । जीवका स्वभाव प्रतिभास है । अपने आपमे अन्तःदृष्टि करके देखो कि वह मैं क्या हू, जो कुछ समझता हू, जानता हू, चाहता हू ? अन्त दृष्टि करके देखो तो ऐसा समझने वाला कोई पदार्थ अतिसूक्ष्म विदित होगा । पत्थर, ढेला, हड्डी, मासकी तरह पिण्डरूप पदार्थ नही है वह जो कि जाननहार है । जगतके अन्य सब पदार्थोंसे विलक्षण केवल जानन-देखनहार अमूर्त पदार्थ यह मै आत्मपदार्थ हू । मेरा स्वभाव तो, जिस स्वरूपसे इसका सत्त्व बना हुआ है वह स्वरूप है ज्ञान और दर्शन, जानन और देखन प्रतिभास । यह जीव अपने इस विशुद्ध प्रतिभासमे रहा करे, यही है मोक्षमार्ग । और इस प्रतिभासका फिर पूर्ण विकास हो जाय, ज्ञप्तिपरिवर्तन भी न रहे, उसका नाम है मोक्ष ।

स्वभावका आलम्बन—यह ज्ञानदर्शन स्वभाव जीवसे अभिन्न है । यह तो जीवका स्वरूप, विशेष और सामान्य चैतन्यस्वभाव है । प्रतिभासमे जो विशेष तत्त्व है वह तो है

ज्ञान और प्रतिभासमे जो सामान्यतत्त्व है वह है दर्शन । ये दोनो जीवके स्वरूपभूत है। उनमे नियत होना, अवस्थित होना अर्थात् अगुरुलघुत्व गुणके कारण इस ही स्वभावमे उत्पादव्यय ध्रौव्यरूप रहकर इस केवलका निरपेक्ष अस्तित्व बना रहना—यही है मोक्षका मार्ग। यहाँ रागादिक परिणतिया नही है, इसी कारण यह भाव सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ मोक्षमार्गको व संसार-मार्गको इन शब्दोमे जानना कि स्वभावमे चलना सो तो मोक्षमार्ग है और परभावमे चलना सो है ससारमार्ग।

द्विविध चरित्र—समारी जीवोमे दो प्रकारका चरित्र है। एक तो स्वचरित्र और एक परचरित्र। स्वभावमे अवस्थित अस्तित्वका नाम है स्वचरित्र और परभावमे अवस्थित स्वरूपका नाम है परचरित्र। स्वचरित्र तो उत्कृष्ट भाव है और परचरित्र जघन्य भाव है। अपने ही स्वभावमे उपयोगका स्थिर होना, परभावसे उपयोगका निवृत्त होना, यही है मोक्ष-मार्ग और आत्माका परम पुरुषार्थ। जीवका स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। इस ज्ञान और दर्शनमे शक्तिकी दृष्टिसे इसे देखा जाय तो इन्हीको ही केवलज्ञान और केवलदर्शन कह लीजिए। समस्त वस्तुवोमे अवस्थित अनन्त धर्मको एक साथ जाननेमे समर्थ केवलज्ञान है। यह आत्मा का गुण आत्मासे अनन्य है। इतना भी कहना कि ज्ञान और दर्शन आत्माका गुण है, यह भी आत्माका तोड-मरोड किया जाता है और यह भी सम्यग्ज्ञानकी उत्कृष्ट दृष्टिमे शोभाकी बात नही है। उसे समझ भर लीजिए, यह ही ठीक कदम है, पर जो है उसका यो भेद करना, यह ज्ञान है, दर्शन है, यह आत्माका गुण है, ऐसा कहनेपर अनुभूतिमे जो बात आयी थी वह बात नही रही।

गुणीमे गुणोकी अभिन्नता—सहज शुद्ध सामान्य विशेप चैतन्यस्वरूप जीवास्तिकायसे ये ज्ञान दर्शन गुण भिन्न नही है। केवल नामसे भिन्न है, लक्षणसे भिन्न है, प्रयोजनसे भिन्न है, किन्तु द्रव्य वही है, क्षेत्र वही है, काल वही है, भाव वही है—परमार्थ। ज्ञानदर्शनस्वरूपमे और आत्मामे भेद नही है। यह भेदकथन जीवको इस निगाह तक भी दूर फेंक सकता है, जैसे कहा करते है कि घडेमे दही है, डिब्बामे दही है, तो जैसे यहाँ दो भिन्न-भिन्न चीजे है, डिब्बा अलग है, घी अलग है और फिर उसका आधार बताया। ऐसा तो आत्मामे और ज्ञान मे नही है कि आत्मा कोई वस्तु है और उसमे फिर ज्ञान है। यदि ज्ञान अलग चीज है तो ज्ञानरहित आत्मा क्या है और आधारभूत आत्माके बिना ज्ञान क्या ? दोनोका अभाव हो जाता है।

गुणीसे गुणोको भिन्न माननेपर आपत्ति—जैसे लोकव्यवहारमे कहते है कि भगोनेमे पानी भरा है, तो भगोना और पानी ये अलग-अलग चीजें हो गयी। भगोना अलग है पानी अलग है और वह पानी भगोनेमे है, इस तरह यदि यो माना जाय कि आगमे गर्मी है,

भिगोनेकी तरह आग कोई स्वतंत्र हो और जलकी तरह गर्मी कुछ अलग बात हो और फिर आग गर्मीसे धरी हो, क्या ऐसा है ? यदि यो भिन्न-भिन्न हो तो यहाँ बतावो कि गर्मी तो अलग है, आग अलग है, तो गर्मी बिना आग क्या और आग बिना गर्मी रहे कहाँ ? दोनोका अभाव हो जायगा। इसी प्रकार आत्मामे ज्ञान है, इसे अगर भिन्न रूपसे देखे जैसे कि कहनेमे भेद कर दिया जाय तो दोनोका अभाव हो जायगा।

स्वचरित्रतामे मोक्षमार्ग—यह चैतन्यस्वरूप इस चेतनसे अभिन्न है, यह चेतन चैतन्यात्मक ही है, ऐसे जीवके स्वभावमे नियत हो जाना, अवस्थित हो जाना इसका नाम चरित्र है, और यही चरित्र मोक्षमार्ग है। कहा भी है कि स्वरूपमे चलना सो चरित्र है। चरित्र ही धर्म है, और धर्म वही है जहाँ समतापरिणाम हो, शान्ति हो। और समता शान्ति वही है जहाँ मोह और क्षोभसे रहित परिणाम हो। यह तो स्वचरित्रकी बात कही। अब ससारी जीवोमे परचरितकी बात देखो। स्वतत्र स्वभावके अनुरूप जो आचरण नहीं है। परपदार्थोंको उपयोगमे लाकर इष्ट काम भोगोमे ही स्मरण चल रहा हो अर्थात् अपध्यान चल रहा हो, अमुक पदार्थ इष्ट है, अमुक चीज मुझे मिले, अमुक पदार्थ अनिष्ट है मुझसे दूर रहे, अमुकका नाश हो। किसी भी प्रकार मोह रागद्वेषरूप परिणतिसे परपदार्थोंमे यह उपयोग करे तो वह है परचरित, परभावपरिणमन। यह ससारमार्ग है।

स्वोन्मुखी व परोन्मुखी वृत्तिका परिणाम—यह जीव जन्म लेता है, मरता है, नये-नये शरीर ग्रहण करता चला आ रहा है। रागी द्वेषी दु खी जो भव-भवसे इस प्रकार चला आ रहा है वह सब परभावपरिणमनका परिणाम है। परचरितकी दशा अत्यन्त जुदी है और स्वचरितकी दशा अलग है। स्वचरितमे झुकाव स्वका और परचरितमे झुकाव परका है। देखिये आत्मा सिवाय एक इतनी कलाके और कर ही क्या रहा है ? यह उपयोगस्वरूप है, जाननहार है, जानता है, पर जाननेकी पद्धति जहाँ परोन्मुखी हो गयी, ससारकी विडम्बना बढती जाती है। जाननकी पद्धति जहाँ स्वोन्मुखी हो गयी बस वहाँ इसका मोक्षमार्ग बन जाता है।

सकटमुक्तिके लिये कर्तव्य—भैया ! जिन जीवोको यह पता नही है कि ससारके संकटोसे छूटनेका उपाय यह स्वाधीन आत्मोपयोग है वे जीव असारससारके कारणभूत मिथ्यात्व रागादिकमे ही लीन रहा करते है। अहो, इन रागादिक भावोमे लीन होते हुए इन जीवोका अनन्त काल व्यतीत हुआ है। इस प्रकार समय बितानेमे इन जीवोको कोई लाभ नही है। हरदम, हर जगह असन्तोष, चिन्ता शोक अभिमान कषाय सभी उपद्रव इसे परेशान कर रहे है। ससारसे छुटकारा पानेमे ही लाभ है। ससारसे छुटकारा कैसे हो, उसके उपायमे जो पहिले कुछ वर्णन किया है उसके ही विस्ताररूप यह अधिकार चल रहा है। हमारा कर्तव्य है कि जो समस्त परपदार्थोंसे छूटा ही हुआ है ऐसे इस निज अतस्तत्त्वकी भावना करें, इस

भावनाके प्रसादमे ये कर्मबन्धन तथा शरीरबन्धन स्वय दूर हो जायेंगे ।

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ ।
जदि कुणदि सग समय पब्भस्सदि कम्मबधादो ॥१५५॥

परसमयकी विडम्बना—जीव यद्यपि निश्चयसे अपने स्वभावमे नियत है, फिर भी अनियत गुणपर्यायो सहित होता हुआ यह परसमय हो जाता है । अन्त· स्वभावदृष्टि करें तो जीव कब परमे स्थित है ? शरीर और यह जीव इस समय भी एक क्षेत्रावगाह है, और बंधन भी बन रहा है, लेकिन जीवके सत्त्वको देखो तो यह जीव शरीरमे कहाँ मौजूद है ? शरीरमें शरीर है, और जीवमे जीव है । किन्तु ऐसा मान तो नही रहा यह मोही प्राणी और जब यथार्थ रूपमे अपनेको नही मान रहा है तो उपयोगका बन्धन तो तत्काल ही है । और जीवमे ऐसा विभावपरिणमन हुआ कि इस तरहके परभावबन्धनका निमित्त पाकर यह शरीर कर्म बन्धन विडम्बित यो हो जाता है ।

एकस्वरूपका द्विविध परिणमन—शुद्ध निश्चयसे तो यह जीव विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी है, स्वभावमे नियत है, लेकिन मोहनीय कर्मोंके उदयवशसे जिसकी परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, मोहादिक परिणामोमे ही इस जीवकी अनुवृत्ति हो रही है । बार-बार लगना, सम्बध रखना, लगाव रखना ऐसी अनुवृत्ति इस जीवमे अनादिकालसे चली आ रही है, जो कि वृत्ति इसके स्वभावसे विरुद्ध है । स्वभाववृत्ति तो ऐसी थी कि मोहरहित शुद्ध ज्ञान दर्शनरूप आत्माकी प्राप्ति करना, लेकिन कर रहा है यह मोहादिक विकारोकी प्राप्तिको । सो नाना मतिज्ञानादिक विभाव गुणपर्यायोमे और मनुष्य नारकी तिर्यञ्चदेव जैसी पर्यायोंमे यह यह परिणमकर परसमय बन रहा है । यही है ससारी जीवकी वर्तमान परिस्थिति, किन्तु जब यह जीव निर्मल विवेक ज्ञान भेदविज्ञानको उत्पन्न करने वाली अथवा निर्मल परमार्थ ज्योतिको उत्पन्न करने वाली जब अपनी परमकलाका अनुभव कर लेता है, केवल अपने आप अपने सत्त्वसे जो कुछ मुझमे है उस अतस्तत्त्वका अनुभव करता है तब जानता है—ओह ! यह मै हू शुद्ध एक चैतन्यस्वभाव । अब यह ऐसे ही आत्माका बार-बार अनुभव करता है उस समय यह जीव स्वसमय बनता है, स्वचरित बनता है । तब ऐसा आचरण करने वाला जीव कर्मबन्धसे नियमसे मुक्त हो जायगा ।

आत्मप्रतीतिका प्रकाश—भैया ! एक सीधीसी बात यहाँ यह जान लेना कि जैसे लोग अपने आपके बारेमे अधिकाधिक ऐसा अनुभव करते है कि मै अमुक चद हू, अमुक प्रसाद हूं, अमुक वर्णका, जातिका हू अमुक गाँवका हू, अमुकका पिता हू, बेटा हू आदिक रूपसे अपने आपमे कुछ अनुभव लगाया करता है । ये सारे अनुभव ससार बढ़ानेके कारण हैं, जन्ममरण की परम्पराके कारण है, जीवके अहितरूप है । इन कल्पनाओमे आप केवल अपने भाव ही तो

बना रहे हो । तो विरुद्ध भाव न बनाकर एक परमार्थ भाव बनायें तो इसमे जीवका हित है । किस प्रकारका परमार्थ भाव ? लो यह मै समस्त पदार्थोंसे न्यारा केवल एक ज्योतिस्वरूप हू । ऐसी दृष्टि दें तो कुछ लगता भी ऐसा है कि भीतरमे कुछ विलक्षण प्रकाश पडा हुआ है, जो प्रकाश इन दीपक, रत्न, सूर्य, चन्द्र आदि जैसा तो नही है, किन्तु इससे भी विलक्षण है, जिस प्रकाशमे ये सब प्रकाश भी समा जाते है, ऐसा अलौकिक ज्ञानप्रकाश मुझमे है, जिस प्रकाश विना सूर्य चन्द्रके प्रकाश भी फीके है, अस्तित्व ही नही पाते है, जिस प्रकाशके कारण सूर्य चन्द्र भी सत् विदित होते है और कुछ शुद्ध विश्रामके साथ अपने आपमे अपने आपको जब लखते है तो यह निर्भार सूक्ष्म अमूर्त न्यारा आनन्दस्वरूप प्रतिभास अपनेको विदित होता है । उसका गुण नियत है, उसका यह अन्तर्वृत्ति परिणमन नियत है । यह ऐसा ही है, इसमे विभिन्नताएँ नही है, ऐसे नियत गुणपर्याय वाले जीवस्वभावमे अवस्थित होना इसका नाम है स्वसमय ।

आत्माका बडप्पन—स्वचरित्र ही मुक्तिका मार्ग है । लोग अपना बडप्पन समझते है बहुतसे महल बन जायें, बडा वैभव इकट्ठा हो जाय, बहुतसी रकम जमा हो जाय, समाजमे, बिरादरीमे, देशमे लोग हमारी पूछ करने लगें, नाम लेने लगें, इन बातोंमे अपनी उत्कृष्टता जानते है, लेकिन ये सबकी सब बातें तो मोहकी नीदके स्वप्न है । जैसे स्वप्नकी बात ठहरती नही है, आँखें खुल जानेपर तो कुछ भी नही रहता है, ऐसे ही ये सारी कल्पनाएँ परवस्तुवोके सचयके कारण अपने आपको बडा माननेकी कल्पनाएँ ये सब असार है, और जब ज्ञान जगता है, यथार्थ बात समझमे आती है तब ये चीजें कुछ ठहरती नही है । यहाँ कुछ है ही नही । उनसे बडप्पन मत मानो । अपना महत्त्व मत इन बातोमे मानिये । दुनिया जाने अथवा न जाने, यह परका ढेर इकट्ठा हो अथवा न हो, किन्तु यह मै अपने आपके इस सहज ज्ञानानन्द-स्वभावको पहिचान लूं और अपना लगाव इस स्वभावमे ही रक्खूं, ऐसा कर सका तो इससे बढकर काम लोकमे कुछ भी नही है ।

व्यर्थ विकल्प—मान लो आपके यहाँ दो चार लाखका वैभव पडा हुआ है तो आप इतना ही अपना क्यो समझते है ? तीनो लोकमे जितने भी ढेर पडे हुए है उन सबको अपना समझ लो ना । माननेमे फिर क्यो कजूसी करते ? जब माननेकी हठ ही कर रहे हो । आप कहोगे वाह ! कैसे अपना मान ले । तीनो लोकका वैभव मेरे साथ तो नही है । अरे तो जो दो-चार लाखका धन आपके घरमे है वह भी तो आपके साथ नही है । आप जहाँ मरे तहाँ यह दो-चार लाखका भी धन छूट जायगा और यह तीनो लोकोका भी सारा धन आपसे छूट जायगा । आपसे छूटा हुआ तो अब भी है जब तक आप इस भवमे भी जीवित है । इस वैभवसे आत्महितकी बात न मिलेगी । अपने आत्मस्वभावमे नियत होनेका यत्न करें ।

स्वहितकी दिशा—भैया ! किसीने कुछ कह दिया तो क्या हो गया ? उसका परिणमन उसमे है। कोई प्रशसा कर दे तो उससे यहाँ क्या लाभ है ? कोई निन्दा कर दे तो उससे यहाँ क्या हानि है ? लेकिन एक बात ध्यानमे रखिये—हम यदि किसीका अपमान कर दे, निन्दा कर दे तो उसमे हमारी हानि है। दूसरा कोई पुरुष मेरा अपमान करे तो उससे मेरा कोई बिगाड नही है। अपना ज्ञानबल बढायें और सत्य बल समझे। धीरता रखे, क्षोभ होने ही न दे तो उससे क्या बिगाड होता है ? हम किसी दूसरेका अपमान कर दें, निन्दा कर दे तो उससे हमारा बिगाड इस ही भवमे हो चुका। इन परपदार्थोंके परिणमनसे अपना कुछ भी हित न मानें। अपने आपका स्वरूप अपने आपकी निगाहमे रहे और उसकी ओर ही लगाव रहे तो ऐसे पुरुषार्थमे ही अपना हित है, यही वास्तविक धर्मपालन है, यही मोक्षमार्ग है, यही विवेक है, यही समझदारी है, और इस दुर्लभ नरजीवनको सफल बनानेका यही एक मात्र सही उपाय है।

जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥१५६॥

परचरित्रता—जो जीव परद्रव्योंमे रागवश शुभ अथवा अशुभ परिणाम करता है वह जीव अपने आत्मीय शुद्ध आचरणमे भ्रष्ट होकर परसमयका आचरण करने वाला होता है। इस गाथामे परचारित्रमे लगे हुए जीवका स्वरूप बताया है। जो जीव मोहनीयके उदयके वश होकर रज्यमान उपयोग वाला होता है और परद्रव्योमे शुभ अथवा अशुभ भावोको धारण करता है वह पुरुष आत्मीय चारित्रसे भ्रष्ट होकर परचारित्रका आचरण करने वाला हुआ करता है। आत्मज्ञानमे शून्य पुरुष विषयभोगोमे प्रवृत्ति करेगा, वह भी परचारित्र है। और आत्मज्ञानमे शून्य पुरुष दया परोपकार, सेवाके परिणाम करे वहाँ भी परचारित्र है। तथा आत्मज्ञानसे शून्य पुरुष धर्मके नामपर तप, भक्ति आदिक व्यवहारकार्य करे वह भी परचारित्र है। किसी परचारित्रमे शुभ परिणामोकी प्रेरणा है और किसी परचारित्रमे अशुभ परिणामोकी प्रेरणा है। जो आत्मीय आचरणसे भ्रष्ट होकर विकल्पात्मक प्रवृत्ति करना है वह सब परचारित्र है। क्योकि स्वद्रव्यमे शुद्धोपयोगसे रहित स्वचारित्र है और परद्रव्यमे उपराग सहित उपयोगकी वृत्ति होना परचारित्र है।

स्वयंका वैपरीत्य—यह आत्मा शुद्ध ज्ञानपर्यायमे परिणत है। द्रव्यत्वके नातेमे अगुरुलघुत्व गुण हानि-वृद्धिसे जो स्वरूप सत्त्वके लिए अर्थपरिणमन होता है वह है शुद्ध गुण परिणमन। उसमे परिणत यह निज शुद्ध आत्मद्रव्य है। उसकी प्रतीतिसे भ्रष्ट होकर रागभावसे परिणमकर जो रागभाव निर्मल आत्माकी अनुभूतिसे अत्यन्त विपरीत है उसमे परिणमकर जो समस्त परद्रव्योमें शुभ अशुभ भावोको करता है वह अपने आचरणमे भ्रष्ट हो जाता है।

निज शुद्ध स्वरूपका साक्षी रहना, केवल देखन-जाननहार रहना अथवा उस परिणतिका भी आधारभूत शुद्ध ज्ञायकस्वभाव उसकी दृष्टि करना यह तो सम्यक् है। उसके ज्ञान और उसके रमणसे जब यह जीव अलग हो जाता है तो वहाँ स्वसम्वेदन नही रहता, किन्तु परकी ओर का विकल्प रहता है, वही परचारित्र है।

परचारित्रसे विडम्बना—इस जीवने अनादिसे लेकर अब तक परचारित्र ही किया और परचारित्र करता जा रहा है, परचारित्रसे विराम नही लेता। जिस भवमे जो कुछ मिला उसे ही अपूर्व और सर्वस्व मानकर उस ही मे रम जाता है, और यह सुध भूल जाता है कि ऐसा और इससे भी बढकर अनेक वैभव समागम अनेक बार इस जीवने पाये है, भोगे है और छोडे है। मिला कुछ तत्त्व नही उनसे। जैसे यही देख लो, जो लोग बडे होकर, बूढे होकर गुजर गए है उनके बारेमे आज विचार करो कि कितने वर्षों तक उन्होंने कठिन श्रम किया, उद्यम किया, विकल्प किया, अतमे उन्हे मिला क्या ? जो मरकर चले गए उन्हे मिला क्या ? सब अपने-अपने घरमे सम्बधित स्वर्गीय पुरुषोके सम्बधमे सोच सकते है। उन्हे मिला क्या ? जैसे अतमे उन्हे कुछ नही मिला, ऐसे ही जब समागम है। इस समय भी हमे कुछ नही मिल रहा है, मरनेके बाद तो यह बात स्पष्ट ही है कि कुछ न मिलेगा, पर जब तक जीवन है तव तक भी अपनेको किसी भी समागमसे कुछ मिल नही रहा है। केवल एक जिसमे जैसी योग्यता है मोह और रागकी उसके अनुकूल विकल्प ही मचाये जा रहे है।

धर्मपालन—शुद्ध विधिसे धर्मपालन करनेकी बात जिसके मनमे आये वह सत्पुरुष है, ज्ञानी है, विवेकी है, उत्कृष्ट पुरुष है। शुद्ध विधिसे धर्मपालन तब ही तो बनेगा जब अपने शुद्ध स्वरूपका भी भान होगा। धर्म कही बाहर नही करना है, हमारा धर्म अर्थात् स्वभाव व स्वभावावलम्बन मदिरमे नही है, प्रतिमामे हमारा धर्म नही है, शास्त्रोके पन्नोमे, पोथियो मे हमारा धर्म नही है। वहाँ ही दृष्टि गडाकर, विकल्प करके शुद्ध विधिका धर्मपालन न होगा। हमारा धर्म, हमारा स्वभाव हममे है, और हमारे धर्मका यह शास्त्र प्रतिपादन करता है इसलिए इसकी भक्ति, इसकी सेवा व्यवहारमे धर्मपालन है। हमारा जो धर्म है वैसा ही धर्म सब जीवोमे है और जिन जीवोने अपने धर्मका विकास कर लिया है ऐसे अरहत प्रभु सिद्ध प्रभुका स्मरण अथवा अरहतदेवकी मूर्ति स्थापित करके उसके माध्यमसे अरहतदेवके गुणोका स्मरण अर्थात् आत्माके धर्मका स्मरण हमारे धर्मकी याद दिलाता है, हमारे धर्मका स्पर्श कराता है, इस कारण वह सब धर्म है व्यवहारमे, लेकिन यह तो बतावो कि हमे धर्म कहाँ करना है ?

अज्ञानीको धर्माधारका परिचय—हमे धर्म बाहरमे किसी जगह नही करना है। भगवानमे हमे धर्म नही करना है, भगवान तो स्वय धर्मस्वरूप है, और उनमे हम कर क्या

सकते है, उनमे ही क्या किसी भी परवस्तुमे हम कर क्या सकते है। बाह्यदेश्रमे इसका उत्तर मत तलाशो। हमे धर्म हममे ही करना है। तो जब हम अपने यथार्थ निरपेक्ष परमार्थस्वरूप को समझे तब ही तो हम उस धर्मकी दृष्टि कर सकेंगे और धर्मरूप अपना अन्तः आचरण, सर्व श्रमोसे रहित परमविश्रामरूप आचरण कर सकेंगे। ऐसे निज शुद्धस्वरूपका जिसको भान नही है ऐसा पुरुष ऐसा प्राणी परचारित्रचर हुआ करता है। उसे अपना शरण, अपना परमात्मा ज्ञात ही नही है। एक यही परचारित्रका काम करता चला आ रहा है यह जीव।

अधर्मसे निवृत्त होनेकी प्रेरणा—आज इस मनुष्यभवको इन बातोमे निवृत्त होनेके लिए ऐसा ही समझ लो कि जहाँ हमने अनन्त भव पाये हैं भोगोके लिए हम इस भवको गिनतीमे ही न ले, हमने यह पाया ही नही है, चलो यो ही मानकर और फिर हितमे साव-धान होकर गुप्त ही अपने आपमे शुद्ध विधिसे धर्मपालनकी बात बना ले तो यह पुरुषार्थ काम देगा इस जीवको। किन्तु ये परचारित्रके पुरुषार्थ बाह्य विपयोमे लगनेके ये पुरुषार्थ, ये श्रम, ये सब थोथे है, असार है, इनमे सारका नाम भी नही है। इन परचरित्रोमे लगनेसे जीवका हित नही है, सर्वथा अहित है। अब अपनी वृत्ति बदलें और निज स्वभावकी ओर हम जितना झुक सके उसका यत्न करें, हिम्मत बनाये।

शान्तिलाभका साहस—स्वभावमिलनकी हिम्मत बनानेमे सर्वप्रथम तो यह साहस करना होगा कि मेरा मेरे आत्माके स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। लाखोका वैभव जो जो कुछ मिला है वह सब वैभव अत्यन्त न्यारा है। यह मिले, इससे भी शान्ति नही है। यह कम मिले उससे भी शान्ति नही, नही मिले उससे भी शान्ति नही। जब तक अज्ञानभाव बसा है तो प्रत्येक स्थितिमे यह अज्ञानी जीव ऐसी कल्पनाएँ करेगा ही कि जो अशान्तिको उत्पन्न करेंगी। वैभव न मिलता तो चाहमे झूर-झूरकर विकल्प बनाकर अपनेको परेशान कर लिया जाता। थोडा मिला है तो उससे भी अपनेको परेशान किया जा रहा है। बहुत मिल गया दृष्टि पसारकर देखो, करोडो आदमियोसे वैभव आपके पास अधिक है तिसपर भी शान्ति नही मिल रही, तो इसका कारण यह है कि वैभव शान्तिका कारण नही है। शान्तिका कारण तो सम्यग्ज्ञान, निरपेक्ष स्वरूपकी ओर लगना, आत्महितका भाव यही है शान्तिका कारण। शान्तिके कारणोसे तो दूर भागे और अशान्तिके आश्रयमे लगे तो वहाँ आनन्द कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

भोगोंकी असारताका निर्णय—भोग असार है, समागम असार हैं, इस बातका समर्थन गई-गुजरी बातोका स्मरण करके कर लीजिए। वर्तमानमे जो स्थिति है उसमे तो निर्णय करना कठिन लग रहा है, और भावीकालके लिए निदान बाँधकर जो वासना फंसाई है उसमे निर्णय करना कठिन लग रहा है। तो गई-गुजरी बातोका स्मरण करके तो निर्णय करना

सुगम हो सकता है। अब तक इन्द्रियके विषय नाना प्रकारसे भोगे, अब उनका क्या आनन्द रहा ? उनसे अब क्या हित हो रहा है ? कौनसी बात आज आत्मासे ऐसी हुई जिसमे यह कह सकें कि देखो हमने समृद्धिका इतना काम तो कर लिया। अब वहांसे दृष्टि हटायें और हितपथ की ओर अपनी दृष्टि लगाये। खुदके लिए खुद ही शरण है, खुद ही जिम्मेदार है। दूसरा कोई उत्तरदायी नही है, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। किसीको गालिया नही दी जा रही है, वस्तुका स्वरूप कहा जा रहा है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी ही धुनका काम कर रहा है। कोई किसी के काम नही आ रहा है। ऐसे इस नग्न ससारमे परचारित्रकी प्रवृत्ति बनाये रहना, यह हमारे कल्याणकी बात नही है।

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूविंति ॥१५७॥

परचरित्रता—जो शुभ भावोसे उपरक्त भाव है वह पुण्यास्रव है और जो अशुभोपयोगसे उपरक्त भाव है वह पापास्रव है। इसका प्रतिपादन इस गाथामे किया है, जिस परिणाम से आत्माका पुण्य अथवा पाप आस्रवित होता है वह आत्मामे अशुद्ध भावोसे परचारित्री होता हुआ अपने आपको मोक्षमार्गसे दूर रखता है और ससारमे अपनेको रुलाता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवानने बताया है। आत्महितका पथ कितना मुक्ति अनुभवपर आधारित है, वैज्ञानिक है, देखते जावो और करते जावो। देखते जा रहे है, हम जब जिस प्रकारका परिणाम करते है उस समय उस प्रकारका हममे श्रम क्लेश विह्वलता आदिक उत्पन्न होती है। और जब शुद्ध परिणामोकी ओर चलते है तो सहज ही निराकुलता प्रकट होने लगती है। जैसा करते है तैसा हम भोगते है, यह बात अनुभव भी बता देता है और यही बात वस्तुस्वरूपकी बात यथावत् जिनेन्द्रदेवने भी बतायी है।

आस्रवका परिणाम—पुण्य और पापका आस्रव करने वाला भाव इस निरास्रव परमात्मस्वरूपसे अत्यन्त उल्टा है। कहाँ तो उसका सहजस्वरूप आस्रवसे दूर रहनेका है, निरास्रव है, परमात्मस्वरूप है और कहाँ उससे विपरीत है यह परिणाम, जो पुण्य और पापका आस्रवण करता है ? बहुत दूरकी भी बात जाने दो, तत्कालकी बात देख लो, यहाँ बुरा परिणाम किया और वहाँ ही मनसे, वचनसे अथवा कायसे प्रवृत्ति हुई कि वही लोग लथाड देते है और दड देते है। कोई बलवान हुआ और तत्काल न भी दड लोगोसे पा सके, पर खोटी वृत्तिके फलमे किसी समय दड अवश्य पायगा और फिर कर्मोंके बन्धनसे आत्मपरिणामोका तो परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। कैसा ही बली, कैसा ही यशस्वी, कैसा ही अधिकारी हो और भले ही वह अपने जीवन तक भी अपने पापकृत्योको निभा ले जाय, किन्तु बचकर जाएगा कहाँ, कर्मबन्धनमे छूटकर रहेगा कहाँ ? क्लेश सक्लेश तो उसे तत्काल मिल ही रहे

है, जो फल पाया वह तो वाजिब था ही, पर भविष्यमे वह खोटा ही फल पायगा।

सारभूत और असारभूत काम—भैया! शुद्ध आत्माका अनुभव ही एक सारभूत काम है, इस वाक्यको अपने सामने लिखकर रख लो, जब चाहे इसको याद कर लो, जब चाहे इस को कसोटी पर कस लो। मै शुद्ध ज्ञानमात्र हू—इस प्रकारका अनुभव बने वह परिणाम तो है आनन्ददायक, शिवसाधक, कल्याणस्वरूप।-और एक इस आत्मानुभवके अतिरिक्त किसी भी परतत्त्वमे लगे—बडे अच्छे लडके है, बडा अच्छा परिवार है, लोग बडे प्रेमसे बोलते है, बडे सुखमे जीवन कटता है, बडा विनय करने वाले स्त्री पुत्र है, हमारी आज्ञा सभी मानते है, सब कुछ है, किन्तु ये सब तुम्हारे विकल्पोके कारण ही तो बन रहे है। तुम्हारे लिए तो क्षोभ परिणामके ही आश्रय बन रहे है। अच्छा हो कोई तो, बुरा हो कोई तो, किसी भी परपदार्थमे लगाई हुई दृष्टिसे जो चारित्र बनता है वह जीवके अहितरूप ही है।

व्यर्थ समययापन—अहो, जितनी प्रीति परिजन और वैभवमे होती है उतनी प्रीति देव, शास्त्र, गुरुके प्रति होती तो यह प्रीति लाभ देने वाली होती। मोहका परिणाम किया वर्षो तक, जिन्दगीभर स्त्री-पुत्र ही सब कुछ सुहाये, उनकी व्यवस्थाओमे ही अपने उपयोगको लगा दिया। समय तो गुजर रहा है, आयु तो प्रतिसमय घट रही है, मृत्युके तो सन्मुख ही जा रहे है, एक तो यह जीवन छिद-भिद रहा है और फिर दूसरे परोपयोग करके बेचैनी बन रही है, जिस बेचैनी का स्वागत भी करते जाते है उस बेचैनीका फल भी भोग रहे है और आगे भी भोगेंगे। अब शत-प्रतिशत अपने मनमे यह निर्णय बना लो कि मेरा मेरे स्वरूपके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ मेरे कुछ नही है। किसी भी परपदार्थके समागमसे अपनेको सौभाग्यशाली समझना, यह बडी भूल होगी।

भाग्यकी अहितरूपता—भैया! भाग्यको तो फोडना पडेगा। लोग किसी निर्धन असहायको देखकर कहते है कि इसका भाग्य फूट गया। अरे कहाँ भाग्य फूट गया? भाग्य फूट जाता तो कल्याण हो जाता। यह भाग्य शुभ अथवा अशुभ दो भागोमे बँटा है। यह भाग्य ही तो इस जीवको परेशान कर रहा है, चारो गतियोमे भटका रहा है। हमे भाग्यकी रच जरूरत नही हे। हमे न चाहिए भाग्य। मै तो यह केवल ही अनन्त समृद्धियोंसे परिपूर्ण हू, मुझे अन्य कुछ भी लेप न चाहिए। मै जैसा सहज शुद्ध निजस्वरूपमात्र हू मैं तो उतना ही भर रहना चाहता हू अर्थात् अपने उपयोगसे इतना ही मानता रहू कि मै इसमे ही रति करता रहू, बस यह चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए।

अभीष्टता—लोग केवलज्ञानसे सर्वज्ञपनेका चमत्कार सुनकर उस सर्वज्ञताकी चाहमे बढने लगते है। मुझे न चाहिए सर्वज्ञता। मुझे तो केवल अपने स्वरूपका स्पष्ट ज्ञान चाहिए और उस स्वरूपमे लगना चाहिए। मुझे न चाहिए वह केवल दर्शन, सर्वदर्शिता, मैं तो केवल

अपने सहजस्वरूपको ही लखता रहू यही दर्शन चाहिए। मुझे न चाहिए अद्भुत अनन्त आनन्द। किन्तु स्वरूपसे विरुद्ध जो बात है, आकुलताका परिणाम है, क्षोभका कलक है वह क्षोभ न चाहिए। क्षोभसे रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थितिमे रहू, इतना भर चाहिए। मुझे न चाहिए अनन्तशक्ति। मै तो इतनी शक्ति चाहता हू कि मै अपने स्वरूपमे स्थित रह जाऊँ। भले ही हमारे इस निजकी सभालमे जो कुछ विकास बने, पर मुझे उसकी तृष्णा करना नही है, केवलस्वरूपकी ओर लगना है। ऐसा ज्ञानका जो स्वचारित्रभाव रहता है उस भावमे अज्ञान दूर रहता है। अज्ञानभाव परपदार्थोंमे ही अपनी दृष्टि बनाता है, विकल्प परिणति करता है, वह तो बधका मार्ग है, मोक्षका मार्ग नही है।

जो सव्वसगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियद सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

स्वकचरित्रका अधिकारी—जो जीव अपने शुद्ध स्वभावसे आत्माको निश्चय करके जानता है और देखता है वह जीव अन्तरग और बहिरग परिग्रहोसे रहित होता हुआ एकाग्र चित्त होकर स्वसमय आचरणका पालन करता है। जीवको वास्तविक शान्ति मिले, इसके उपायमे केवल एक यह निज कला ही समर्थ है कि वह बाह्य पदार्थोंसे, परभावोंसे अपनी दृष्टि मोडकर केवल अपने आपके सहजस्वरूपको ही देखे। और ऐसी प्रतीति बनाए रहे कि यह मै आत्मा समस्त पर और परभावोसे रहित केवल शुद्ध चैतन्य शक्तिमात्र हू, ऐसा अपना अत निर्णय रहे। इस अन्तः पुरुपार्थसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

स्वसमयता—स्वसमय क्या चीज है ? इसके सम्बन्धमे सुनिये—निज शुद्ध आत्माका का स्वसम्वेदन और ऐसा ही परिणमन होना स्वसमय है। शुद्ध आत्मासे मतलब यहाँ केवलज्ञान, केवल दर्शनमय आत्मासे नही है, किन्तु समस्त परसे रहित केवल यही जैसा कुछ हो उस ही का नाम शुद्ध आत्मा है। शुद्ध शब्दका अर्थ परसे रहित अपने स्वरूपमात्र होना है। शुद्ध विकास स्वाभाविक विकाससे मतलब यहाँ शुद्धका नही है। अरहत प्रभु सिद्ध प्रभुकी जो वर्तमान शुद्ध स्थिति है उसकी बात नही कही जा रही है, किन्तु अपने आपमे यह स्वय परसे रहित और अपने स्वरूपमे स्वय कैसा है उस सत्त्वको शुद्ध शब्दसे पुकारा गया है। जो आत्मा अपनेको शुद्ध अनुभव करता है अर्थात् एकाकी अपने ही सत्त्वके कारण अपने आपमे जो सहज है उस रूप जो अपनेको मानता है उसका बेडा पार है। और जो अपने इस परमार्थ सहजस्वरूपमे चिगकर बाहरमे किसी परिजनसे, घरसे, वैभवसे, देहसे, यशसे जो अपनायत करता है बस वही ससारमे गिरता है।

ससारभ्रमण व संसरणमुक्तिके उपाय—ससारमे रुलने और ससारसे छूटनेके बस ये ही दो उपाय हैं। जो जीव अपने आपके इस शुद्ध आत्मस्वरूपका सम्वेदन करता है, वीतराग

परमसामायिक रूप स्वचारित्रका अनुभव करता है, वह सर्व संगसे मुक्त होकर प्रकट स्वसमय बन जायगा और संसारसे छूट जायगा तथा जो परमे अपनायत करेगा वह संसारमे रुलेगा। परमार्थतः देखो तो हम आप सभी जीव बाह्यपरिग्रहोसे रहित ही है। न आज तक हम आपमे बाह्यपरिग्रह आये है और न कभी आ सकेंगे। केवल इन बाह्यपदार्थोके सम्बधमे अन्तरङ्गमे जो कल्पनाएँ बनायी है, बना रहे है वे बस रही है हम आपमे। बाह्य परिग्रह तो अब अन्तर मे भी नही है, और जब यह जीव निज शुद्ध आत्माका अनुभवन करता है वहाँ तो अन्तरङ्ग परिग्रह भी नही है। तो एक इस कलामे अपने आपके सहजस्वरूपका दर्शन करें, एक इस कलामे परिग्रहरहितपना तो स्वयमेव ही पडा हुआ है। केवल एक माननेकी आवश्यकता है। बात जहाँ जैसी है वह तो है ही। यह स्वय सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है ऐसा मान लें बस इसमे कल्याण है।

ज्ञानीका भाव—तीन लोक तीन कालमे भी मन, वचन, कायसे कृतकारित अनुमोदना मे समस्त बाह्य और आभ्यतर परिग्रहोसे शून्य हो जाता है यह ज्ञानी जीव। न उसके व्यतीत हुए अनन्त कालमे कोई परिग्रह था, न उसके भविष्यमे भी कोई परिग्रह होगा और न वर्तमान मे भी उसके साथ कोई पदार्थ लिपटा है। ज्ञानी पुरुष तो जानता है कि यह मै आत्मा अपने स्वरूप सत्त्वमात्र अब भी हू, पहिले था, आगे भी होऊँगा। ऐसा शुद्ध निर्लेप अपने आपकी कोई सुध करे तो उसे क्या कष्ट है? कष्ट हम आपने बनाया, कल्पनाएँ कर-करके हमने ही अपने कष्टमे बढाया। उन कल्पनाओपर नियत्रण करनेकी आवश्यकता है।

स्वरूपनिबन्धन—स्वरूपकी दृष्टिसे दो बातें तकी जाती है, एक तो यह परसे रहित है और दूसरे अपने ही स्वरससे परिपूर्ण है। अपने स्वरूपसे किस प्रकार परिपूर्ण है यह? यह आत्मा समस्त आत्मप्रदेशोमे सहज परमआनन्दरससे भरपूर है। यह आनन्दरस अपने आपमे ही झरता हुआ प्रकट होता है। जब यह जीव परिग्रहरहित परमआत्मतत्त्वकी भावना करता है तो उस भावनाके द्वारा अपने आपके प्रदेशोमे ही निरन्तर आनन्द ही आनन्द झरता है, उस आनन्दरससे परिपूर्ण यह आत्मा स्वय है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा आनन्दका भडार है। जैसे यह आत्मा परिपूर्ण ज्ञानका भडार है, ऐसे ही यह आत्मा अनन्त आनन्दका भडार है, पर कोई धैर्य रखे, साहस करे, इस ओर झुके, ऐसी ही दृढतासे मान ले तो उसका कल्याण है। और जो ऐसा आनन्दभडार होकर भी अपने आपको यो नही मान सकता है वह जरा-जरासी बातोमे कल्पनाएँ बना-बनाकर बढा-बढाकर दुःखी होता रहता है।

एकाग्रचित्तता—यह साधु पुरुष, यह योगी पुरुष जो आत्मयोगकी भावना कर रहा है वह एकाग्र मन होकर सहजस्वरूपका ध्यान करता है। वहाँ उस योगीके अन्दर कोई विकल्प-जाल नही है। जैसे संसारी पुरुष, मोही पुरुष कभी-कभी एक चित्त होकर किसीकी ममतामे

मग्न होते हैं ऐसे ही ये योगी पुरुष निर्विकल्प, अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभावकी रुचिसे और इस ही के आलम्बनमे जो उन्हे आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दरससे तृप्त होकर एक उस सहज स्वभावकी ओर ही झुके रहते है, उस ही मे उनका एकाग्र मन रहता है। जैसे किसी पुरुषके इष्टका वियोग हो जाय तो चलते, उठते, सोते आधी नीदमे कभी जागतेमे ही उसके इष्टका ख्याल बना रहता है, उसकी ही मूर्ति सामने बनी रहती है, ऐसे ही जिसको इस आत्मस्वभाव की रुचि जगी है और आत्मस्वभावका इस समयमे उपयोग हो रहा है, उस ही उपयोगमे रुचि है उस ही का तो वह ज्ञानी योगी पुरुष ध्यान किया करते हैं। यो निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावनामे एकाग्रचित्त हुए पुरुष स्वसमय बनते है अर्थात् आनन्दमग्न रहते है।

धर्माचरण—भैया! जब कोई कहे कि धर्म करो तो उसका सीधा अर्थ यह लगा लेना कि वास्तविक आनन्दमे लीन रहो। धर्म करना और वास्तविक आनन्दमे लीन रहना इन दोनोका एक ही अर्थ है। धर्म कष्टसे नही होता, क्लेश कर-करके धर्म नही होता। जो साधु जन बडे-बडे तपश्चरण करते है, सर्दी गर्मीके दुःख सहते है, क्षुधा तृषाके क्लेश सहते हैं उन्हे देखकर अज्ञानी जीवोको ऐसा लगता है कि ये योगी पुरुष बडे क्लेश सहते है, लेकिन वे योगी पुरुष अन्तरगमे क्या कर रहे है? वे आनन्दरससे तृप्त हो रहे हैं। बडी कडी धूपमे पर्वतोपर तपस्या कर रहे है, सारा शरीर पसीनेमे लथपथ है। योगियोकी इस प्रकारकी दशा को देखकर अज्ञानी जन आश्चर्य करते है, अहो कैसा ये क्लेश सह रहे है, पर वे योगी क्लेश नही सह रहे हैं, किन्तु अपने आत्मस्वरूपकी भावनाके प्रसादसे अन्तरङ्गमे प्रसन्न है। उनकी प्रसन्नताको दूसरे क्या जाने? वे इतने आनन्दमग्न है कि यो दिन रात महीने भी बीत जाते और उन्हे ऐसे ही कुछ महसूस भी नही होता कि कितना समय व्यतीत हो गया? वे योगी पुरुष ऐसे आनन्दमग्न रहते है कि स्यालिनी पैरका भक्षण भी कर रही है, मास भी अलग हो गया है, लेकिन उनके वेदनाका नाम ही नही है, आनन्दकी मग्नता है। भला कष्ट होता तो क्या कष्टके बाद मोक्ष जैसी अवस्था हो सकती है? मोक्षकी अवस्था शुद्ध आनन्दके अनुभवके प्रसादसे ही हो सकती है।

व्यर्थ विकल्पभार—हम आप सभी जीव बिल्कुल व्यर्थ ही दुःखी हो रहे है, कष्ट सह रहे है और वह भी कष्ट है कल्पनाओका, मानसिक कष्टोका। अरे सबसे विभिन्न एक इस निज शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि करे तो सारे सकट समाप्त हो जाते है। रही यह बात कि मित्रोका, परिजनोका क्या होगा? हम यह पूछते है कि मित्र और परिजनोकी रक्षा क्या आप ही कर रहे है? उनके पुण्यका उदय न हो और उन्हे सुख प्राप्त हो जाय, क्या ऐसा कभी हो सकता है? अरे जैसे हम आप जीव है ऐसे ही वे सब जीव है। जैसे कर्म हम आपके साथ है वैसे ही कर्म उनके साथ हैं। हम उनका क्या करते है? और दूसरी बात यह मान लो कि कुछ

हमपर निर्भर है तो आप उनकी जिम्मेदारी कब तक निभा सकते है ? आप बतलावो तो सही। अपनी ही जिम्मेदारी जब निभा नही सक रहे तो दूसरेकी जिम्मेदारी क्या निभाई जा सकेगी ? और सब कुछ है, सब परिणमन है, जिसका जैसा भाग्य है वह अपने भाग्यसे सब कुछ प्राप्त कर रहा है, उसमे आप भी निमित्त हो रहे है, दूसरे भी निमित्त हो सकते हैं।

अवसरके सदुपयोगकी प्रेरणा—भैया ! आत्महितके सम्बधमे इतना तो विचारिये कि यह मनुष्यजीवन कितनी कठिनतासे प्राप्त हुआ है ? ससारके अन्य जीवोपर दृष्टि दो तो वे भी जीव है, कीडा-मकोडा पेड आदिक, क्या ऐसे हम न थे, नही हो सकते थे ? कल्पना करो यदि आज हम आप लोग कोई भी ऐसे कीडा मकोडा, पतिगे होते तो किस स्थितिमे होते ? आज कुछ यह विकास हुआ। क्या उन निकृष्ट परिस्थितियोमे इतना जानना, समझना, बडी बडी बातोका निर्णय करना ये सब बाते हो सकती थी ? यदि आज शुभ अवसर पाया है, इस अवसरको यदि ममतामे ही खो दें, विकल्पजालोमे ही गवा दें तो बतलावो इन सब समागमोका लाभ क्या पाया ? जो पुरुष इस निज शुद्ध आत्माको जानता है, किस रूपसे ? यह जैसा स्वय अपने सत्त्वके कारण है निर्विकार, क्या केवल जीवोमे रागादिक भाव हो सकते है ? न इनके साथ उपाधि हो, न कर्मबन्धन हो तो क्या जीवोमे कोई रागादिक बन सकते है ? कभी नही बन सकते, यद्यपि बन रहे है ये रागादिक, पर बनते हुए की हालतमे भी हम अपने उस सहजस्वरूपको सभाले जो केवल है, अपने सत्त्वमे अकेला है उसके स्वरूपको तो देखो।

स्वभावावलोकनका उपक्रम—इस समय भी आत्माका सहजस्वरूप देखा जा सकता है सम्भावनाके बल पर। यदि ये कर्म न होते, शरीर न होता तो मै किस प्रकारकी स्थितिमे होता, ऐसी तर्कणा बनानेके बाद अपने आपके एकत्वका विशद अवगम हो सकता है कि मेरा स्वरूप क्या है ? जो जीव उपरागरहित कलुषतारहित उपयोगमयी होनेसे सर्व सक्लेशोसे मुक्त हो गए है, निःशक रहनेमे कैसी निरुपरागता रहती है, कैसी आनन्दकी स्थिति रहती है, यह बात तो हम आप सभी इस क्षण भी समझ सकते है। जरा यह मानकर अपनी ओर तो आयें कि यह मैं तो अपने स्वरूपमे उतना ही मात्र हू जो एक चित्प्रकाश है। उस केवलपर दृष्टि रखे तो स्वय ही अपने आपमे से उस आनन्दकी अनुभूति हो लेगी, जिसके बाद हम यह स्पष्ट समझ सकेंगे कि ओह ! मै तो ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप हू।

स्वचारित्रारम्भ—जब यह जीव सर्व संगसे मुक्त होकर आत्मभावनामे सम्मुख होकर एक चित्त होकर मै शुद्ध ज्ञानदर्शनमात्र हू इस रूपसे परखता है तब विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है यह। आत्मरूप परखनेकी कसौटी यह निरपेक्ष उपयोग है। हम केवल अपने हितकी ही दृष्टि बनाये और बाह्य पक्ष छोडें तो ऐसे आशयको आप कसौटी ही समझिये।

जब तक हमारा आत्महितके लिए ही विशुद्ध आशय नही बनता तब तक हमारी वास्तविक परख नही बन सकती। यो विशुद्ध आशय बनाकर जो ज्ञान दर्शनस्वरूप अपनेको जानता है वह जीव अपने आत्माका आचरण करने वाला है। शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्वमे इतना ही मात्र अपना अनुभवन करना, यही है स्वचारित्र, यही है स्वसमय, यही है मोक्षका मार्ग। नौपदार्थाधिकारके बाद मोक्षमार्गका विस्तार बताने वाला यह चूलिकाका प्रकरण है। इसमे निश्चयमे मोक्षमार्ग क्या, व्यवहारमे मोक्षमार्ग क्या, इन सब बातोका स्पष्ट वर्णन किया गया है। निश्चयमोक्षमार्गके प्रकरणमे यह कहा गया है कि अपनी ओर झुकना, लीन होना, समाना, यही वास्तवमे मोक्षका मार्ग है।

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ॥१५६॥

स्वकाचरण—वह पुरुष अपने आपके स्वरूपका अनुचरण करता है जो निर्विकल्प आत्मस्वरूपका उपयोग करता है। कैसा है यह आत्मा ? रागद्वेष मोहसे रहित सदा आनन्दस्वरूप, जहाँ जीवन-मरणका भी पक्ष नही है, लाभ अलाभमे भी राग पक्ष नही है, सुख दुःखका भी पक्ष नही है, निन्दा प्रशसाका भी पक्ष नही है, सर्व स्थितियोमे इसके समता जगी है, ऐसा यह प्राणी अपने आपके स्वरूपका अनुचरण करता है।

जीवनमरणमे समता—जैसे किसी पुरुषको महत्त्वपूर्ण कार्य सामने लगा हो तो वह छोटी-छोटी बातोमे रागद्वेषमे नही फसता, उसका तो कोई महत्त्वपूर्ण कदम सामने पडा हुआ। ऐसे ही जिस ज्ञानी योगी पुरुषका लक्ष्य महत्त्वपूर्ण है, मोक्षका लक्ष्य है, शुद्ध स्वभावको प्रतीतिमे लेनेका जिसका निरन्तर प्रवर्तन चल रहा है, ऐसे पुरुषका जीवन और मरण भी कोई अन्तर वाली बात नही रहती। जीवित रहे तो क्या, मरण हो तो क्या ? आत्मस्वभावकी दृष्टिसे रहित रहकर जीवन रहा तो उससे लाभ क्या, और आत्मस्वभावकी दृष्टि सहित होकर मरण हो गया तो उससे नुक्सान क्या ? अथवा यह जीवन किसलिए है, क्या करना है, इस ज्ञानी पुरुषका जीवन और मरण दोनो एक समान जच रहे है। दोनोमे उसके समताभाव है। उसका झुकाव तो एक निज अतस्तत्त्वकी ओर है।

लाभ अलाभमे समता—ज्ञानीके यहाँ लाभ अलाभ क्या ? ये बाहरी पदार्थ अत्यन्त प्रकट भिन्न है, वे निकट आ गये तो क्या, दूर चले गये तो क्या, और मेरा इस आत्मस्वरूपका पहिचाननहारा भी इस लोकमे कोई नही है। जो लोकव्यवहारी जीव मुझसे बात करते है वे मेरे आत्मस्वरूपको लक्ष्यमे रखकर नही करते, किन्तु पौद्गलिक मूर्तरूपसे जो कुछ सामने है, जो दूसरोकी इन्द्रियोके द्वारा ज्ञात होता है उस मुद्राको लक्ष्यमे रखकर बात करते हैं। लाभ अलाभ भी इस ज्ञानी योगी पुरुषके लिए एक समान बात है। वह प्रसन्न होता है तो

आत्मानुभवसे प्रसन्न होता है, खेद तब होता है जब आत्मानुभव नहीं हो पाता है। इसके सिवाय अन्य परिणमन वैसे ही होते हों, उनका तो मात्र यह ज्ञाताद्रष्टा रहता है। यह है ज्ञानी जीवकी अन्तरंग परिस्थिति।

सुख दुःखमे समता—यह ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख दोनोमे समान रहता है। दुःख हो तो क्या ? यही तो बात है कि कुछ इन्द्रियोको न सुहाये ऐसी परिस्थिति हो गयी सुख हो तो क्या ? यही तो बात है कि इन्द्रियोको सुहा जाय ऐसी परिस्थिति हो गयी। न ये इन्द्रियाँ रहेगी, न ये सुख दुःख रहेगे, न ये बाह्य साधन रहेगे और न ऐसी मनकी कल्पनाएँ रहेगी। यह सब मायाजाल है। सुख दुःखमे ज्ञानी जीवकी समान बुद्धि रहती है।

निन्दा प्रशसामे समता—निन्दा और प्रशसामे भी ज्ञानीके समता रहती है। निन्दा के वचन अथवा प्रशसाके वचन क्या है ? वे तो भाषावर्गणाके परिणमन है, अचेतन है और उन वचनोका प्रयोग जो आत्माके निमित्तसे होता है। उस आत्माने तो केवल अपने आपकी खुद मे अपनी कल्पना बनाई थी, उसने मुझमे कुछ उत्पन्न नहीं किया। यह ज्ञानी योगी पुरुष वस्तुस्वरूपको अभेद्य निरखकर इस मुझ आत्मतत्त्वमे परका प्रवेश हो जाय ऐसा नही है, यह परसे अप्रविष्ट है, ऐसे आत्मतत्त्वको निरखकर यह ज्ञानी निन्दामे और प्रशसामे दोनोमे समान रहता है। यों जो समताके अनुकूल अपने आत्मस्वरूपका आचरण करता है वह पर-द्रव्योमे आत्मीयताका भाव कैसे कर सकेगा ? ये परद्रव्य ममत्वके कारणभूत है, इन्हे अज्ञानी ही अपना सकेगा, ज्ञानी नही अपना सकता।

ज्ञानप्रकाश—भला एक बार शुद्ध ज्ञानका प्रकाश हो जाने पर फिर क्या वह असत्य बात आ सकती है ? जैसे किसीने स्वप्नमे बड़ी निधि पायी हो और वह जग जाय तो जग जानेपर उसे सब सही पता हो गया कि वह सब केवल स्वप्न था, लेकिन जग जानेके बाद भी यह जीव स्वप्नमे जैसा मौज लूट रहा था उस वैभवको पाकर मौज लूटनेके लिए जबरदस्ती आँखें मीचकर पड़ जाय तो क्या वे बातें आ सकती है ? नही आ सकती है ? इसी प्रकार मोहकी निद्रामे जो कुछ निरखा गया था। और उससे सुख दुःख भोगा गया था, एक बार सत्य तत्त्वका प्रकाश हो जानेपर फिर क्या वे व्यामोहके समयकी व्यवहारकी बातें जबर्दस्ती करने पर भी आ सकती है ? नही आ सकती है। तो ज्ञानी जीवको परद्रव्योमे अपनानेका विकल्प नहीं रहता है। यो यह वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी समस्त मोहवासनाओंसे रहित है, पर-भावोका त्यागी है, परमभावोके सम्मुख हुआ है। यह आत्मस्वभावरूप दर्शन ज्ञानको अभेद रूपसे निरखता है। यह तो मै ज्ञान, दर्शन मात्र हूँ, ऐसे अनुभवरूपसे, शुद्ध नयके, स्वसमयके पथपर चल रहा है।

अविकल्पताका प्रभाव—ज्ञानी पुरुष ज्ञान होनेके बाद प्रथम तो सविकल्प स्वसंवेदन

मै ज्ञाता हू, मै द्रष्टा हू यो विकल्प करता है, पर वही ज्ञानी पुरुष इस ज्ञातृत्वकी, इस दृष्टृत्व की स्थितिमे अपनेको अभेदोपयोगी बनाकर जब निर्विकल्प समाधि प्राप्त करता है उस समय इन समस्त शुद्ध ज्ञान दर्शनोसे भिन्न केवल आत्माका ही सम्वेदन करता है। यह बात तो अध्यात्मयोगकी है और लोकपद्धतिमे भी देखो—जिस समय आप बढिया लड्डू, हलुवा कुछ भी खा रहे हो, जब तक आप उसके सम्बधमे यो सोचते रहेगे कि इसमे घी ठीक पडा, इसमे बूरा अच्छा पडा, यह सिका भी अधिक है उस समय आप एकाग्र मन होकर स्वाद नहीं भोग सकते है, आप उस समय विकल्पोमे पड जाते हैं। जब यह अनन्य स्वभावका ध्यान करता है तो इस आत्माको ज्ञाताद्रष्टा रहनेका भी विकल्प नही रहता। यो शुद्ध द्रव्यके आश्रित अभिन्न अर्थात् जहाँ वही साध्य है, वही साधन है, ऐसा निश्चयनयका आश्रय करके मोक्षमार्गको तके तो वह अपने आपकी रुचि, अपने स्वभावका ज्ञान और अपने स्वभावमे मग्न होना— इस रत्नत्रयरूप ही मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध होता है।

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

व्यवहारमोक्षमार्गका वर्णन——इस गाथामे व्यवहारमोक्षमार्गका प्ररूपण है। धर्मादिक द्रव्योका यथार्थ श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यक्त्व है। ११ अग १४ पूर्वमे प्राप्त हुए ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते है और १२ प्रकारके तपोमे १३ प्रकारके चारित्रोमे जो चलन है, प्रवृत्ति है उसे व्यवहारचारित्र कहते है। इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार मोक्षमार्गमे व्यवहारका यह अर्थ है कि यह निश्चय मोक्षमार्गका कारण होता है। व्यवहारनयका आश्रय करके जिसमे भिन्न साध्य हो, भिन्न साधन हो और जो स्व और परका कारणपूर्वक हो वह सब वर्णन व्यवहारका वर्णन कहलाता है। यह व्यवहार भी निषिद्ध नही है, क्योकि निश्चय और व्यवहारका परस्परमे साध्यसाधन भाव है।

साध्यसाधनभावका दृष्टान्त——जैसे स्वर्ण और जिस मिट्टीसे स्वर्ण निकलता है वह स्वर्णपाषाण। स्वर्ण यद्यपि स्वर्ण नही है, स्वर्ण पाषाणमे यदि विधिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो मन-दो मन पाषाणमे से कोई एक-दो तोला स्वर्ण निकलता है, लेकिन स्वर्णपाषाण कारण तो हुआ स्वर्ण निकलनेका। जैसे इन दोनोमे परस्पर साध्यसाधन भाव है इसी प्रकार व्यवहारमोक्षमार्गमे और निश्चयमोक्षमार्गमे साध्यसाधन भाव है जो निश्चयमोक्षमार्गका कारण है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है अर्थात् जो स्वय यथार्थ तो मोक्षमार्ग नही है, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्गके पहिले होने वाला जो परिणाम है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। परमेश्वरकी आज्ञा अथवा उनका तीर्थप्रवर्तन दोनो नयोके आधीन होता है, निश्चय और व्यवहारनय। केवलनिश्चयनय

का ही एकान्त किया जाय तो तीर्थप्रवृत्ति नष्ट हो जायगी। तीर्थका प्रवर्तन व्यवहारके आधीन है और यदि केवल एकान्तका व्यवहार किया जायगा तो तत्त्वकी बात समाप्त हो जायगी। अतएव प्रभुका उपदेश निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों नयोके आधीन हुआ करता है। इससे पहिले भी व्यवहारमोक्षमार्गका वर्णन किया है। अतएव यहाँपर इस ढगसे व्यवहार-मोक्षमार्गका वर्णन करते है कि निश्चयमोक्षमार्गकी साधकता सिद्ध हो।

प्रयोजनभूत श्रद्धानकी श्रावक व साधुमे समानता—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत जीवादिक पदार्थोंके विपयका यथार्थ श्रद्धान होना और ज्ञान होना—ये दोनो गृहस्थके और तपस्वीके समान है। श्रद्धानका जहाँ तक प्रश्न है गृहस्थ साधुसे पीछे नही रहता और मोक्षोपयोगी मोक्षमार्गमे लगनेके लिए जो एक ज्ञान चाहिए, भेदविज्ञान स्वरूप परिज्ञान, वह भी तपस्वीसे कम नही होता। केवल एक चारित्रमे अन्तर होता है। तपस्वी जनोंके तो आचार आदिक ग्रन्थोमे जैसा मार्ग बताया है उस मार्गसे १३ प्रकारका चारित्र होता है। ६ आवश्यक होते है, किन्तु गृहस्थ जनोके उपासकाचारोमे जैसे कहा गया है पचम गुणस्थानके योग्य दान, शील, पूजा, उपवास आदिकरूप अथवा एकादश प्रतिमावोके पालनरूप चारित्र होता है, किन्तु श्रद्धानमे जो तपस्वीका श्रद्धान है वही गृहस्थका श्रद्धान है।

प्रयोजनभूत श्रद्धान—मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्वोका किस प्रकारका श्रद्धान होता है सम्यग्ज्ञानीके, वह सक्षेपमे इस प्रकार समझिये। जीवके सम्बधमे यह अवगम रहता है कि यह जीव स्वभावसे निश्चयनयसे एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, परभावोसे रहित अपने स्वरूपमे तन्मय चैतन्यमात्र यह जीव है, किन्तु अनादिकालसे अज्ञानवश रागद्वेष मोहकी प्रेरणासे इसकी ससाररूप अवस्था बन रही है और यह ससाररूप अवस्था किसी परउपाधिके निमित्तसे हो रही है। स्वय ही कोई पदार्थ स्वयके विकारका कारण नही होता है और ऐसा विकार होनेमे जो कारण है वह है अजीव पदार्थ, कर्मपदार्थ। ये कर्म जीवके रागादिक भावोका निमित्त पाकर आते है, बँधते है, और जब इनका उदयकाल होता है तब जीवमे रागादिक पुनः आते है और इस प्रकार भावास्रव, द्रव्यास्रव, भावबध, द्रव्यबधकी परम्परा चलती रहती है। और इस परम्परामे ये आस्रव और बध तत्त्व आ जाते है। जब यह जीव अपने स्वरूपकी सम्हाल करता है तो परद्रव्योसे मोह रागद्वेप इसके दूर होते है तब सम्वर और निर्जरा होती है। नवीन कर्म नही आते, पुराने कर्म झरते है ये दो तत्त्व प्रकट होने लगते है, और इन दो तत्त्वोंके प्रसादसे इस जीवका सदाके लिए कर्मोंसे मोक्ष हो जाता है।

परिणमनस्वातन्त्र्यका अवलोकन—इस नवतत्त्वकी प्रक्रियाके होते हुए भी वस्तुत्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो जीव जीवमे ही जीवका कार्य करता है, अजीव अजीवमे ही अजीवका कार्य करता है। जीवने रागादिक किया और यहाँ कर्मोंमे आस्रव बध हुआ, इतनेपर भी जीव

ने अपने आपमे रागादिक भावोका आस्रव किया, कर्मका आस्रव बंध नही किया, और उन कार्माणवर्गणाओमे उनके ही प्रमादसे आस्रवत्व और बंधत्व आया, ऐसे ही यह जीव जब सम्वर और निर्जरा कर रहा है तो जीव कर्मका सम्वर नही कर रहा, वह तो स्वय हो जाता है जीवके सम्वरका निमित्त पाकर। जीव तो अपने आपके भावोमे अपने रागादिक भावोका सम्वरण कर रहा है और कर्म कर्ममे सम्वर कर रहा है, इसी प्रकार निर्जरा जीवमे रागादिक झरनेका नाम निर्जरा है, वह जीवमे हो रहा है, और कर्ममे कर्मत्वप्रकृति स्थिति अनुभाग हट रहे है यह कर्मोकी निर्जरा है और जब मोक्ष हो जाता है तब भी जीवने कर्मोको नही छोडा। कर्मोने जीवको नही छोडा। यद्यपि दोनो छूट जाते है, कर्म अलग हुए, जीव अलग हुआ, पर जीवने वस्तुत्वकी दृष्टिसे अपने आपमे समस्त विकारोको छोडा, यही है जीवका मोक्ष, और कार्माणवर्गणाओमे कर्मत्व परिणमन छूट गया, यही है कर्ममोक्ष।

साधु व श्रावककी स्थिति—भैया! निश्चयसे व्यवहारसे प्रमाणसे जीवादिक ७ तत्त्वो के सम्बधमे जैसा यथार्थ ज्ञान साधु जनोका होता है वैसा ही ज्ञान गृहस्थोको होता है। श्रद्धान और ज्ञानकी अपेक्षा गृहस्थ और तपस्वी समान हैं। हां, चारित्रमे गृहस्थके सयमासयम है और साधुजनोके सकलचारित्र है। जब भव्य जीव इस व्यवहारमोक्षमार्गको धारण करता है तो उस समय इस भव्य जीवकी स्थिति व्यवहारनयका आश्रय करके परिणमनोकी होती रहती है और परपदार्थोके प्रत्ययसे जो भी परिणमन हुआ उसका प्ररूपक व्यवहारनय है अर्थात् व्यवहारनय भिन्न-भिन्न चीजोको बतलाता है।

व्यवहाररत्नत्रयमे भेदरूपता—जैसे ७ तत्त्वोका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। यहाँ ७ तत्त्व बताया, श्रद्धान करना बताया, एक भेदपरिणमन दिखाया, यह व्यवहारनयका विषय है और अग और पूर्वका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, इसमे भी ज्ञाता और ज्ञानका विषय ये भिन्न भिन्न बताया है। यही इसमे व्यवहार अश है, और ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्तियो का पालन करना यह व्यवहारचारित्र है। यह भी यहाँ भेदकरण कर दिया है। निश्चय सम्यग्दर्शनमे भेदकरण नही होता, विपरीत अभिप्रायरहित आत्माकी जो स्वच्छता होती है उसका नाम सम्यग्दर्शन है निश्चयसे और इस ही स्वच्छ परिणमन रूप ज्ञातृत्वके रहनेका नाम सम्यग्ज्ञान है और ऐसी स्थितिकी स्थिरता होनेका नाम सम्यक्चारित्र है।

व्यवहार सम्यग्दर्शनका काल—व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ-साथ भी होता है। जैसे अन्तरङ्गमे जो एक बार सत्य प्रतीति हो गई, परमार्थ परमब्रह्मका प्रत्यय हो गया है तो वह तो हो ही चुका है। भले ही उसके अनुभवमे कालका द्वैविध्य हो कि कभी अनुभव हो, कभी न भी हो, किन्तु सम्यग्दर्शनका परिणाम तो सतत रहा करता है और ऐसे सतत निश्चय सम्यग्दर्शके धारी जीवके जीवादिक तत्त्वोका भी यथार्थ श्रद्धान बना

हुआ है और उस प्रकारके वार्तालापमे भी चलते है तो व्यवहार सम्यग्दर्शन भी। इसी प्रकार निश्चय सम्यग्ज्ञानके साथ-साथ व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी होता है और एक बार यथार्थ परमस्वरूपका बोध हो गया वह तो फिर हो ही गया। अब उसकी योग्यता मिटती नही है। पर प्रयोजनवश व्यवहारिक तत्त्वोका भी वह ज्ञान करता है। भला जिसको यथार्थतया सम्यक्त्व हो गया वह अविरत अवस्थामे या सयमासयम अवस्थामे जब पचेन्द्रियके विषयमे भी वह प्रवर्तन कर लेता है वहाँ भी उपयोग चला जाता है तिस पर भी निश्चय सम्यग्दर्शन है तो व्यवहार सम्यग्ज्ञानके कालमे अन्य-अन्य तत्त्वोका ज्ञान करते हुए वह निश्चय ज्योति वनी हो तो इसमे क्या विरोध है ? ऐसे ही अतरगमे स्वरूपाचरण नामका निश्चय सम्यक् चारित्र, जितने अशोमे इसके चारित्र सम्बन्धी स्वच्छता जगी हो चल रहा है। फिर भी व्यवहारसे महाव्रत समितिरूप इसका प्रवर्तन होता है। यो निश्चयरत्नत्रयके साथ ही किन्ही किन्ही जीवोके यह व्यवहाररत्नत्रय पाया जाता है, किन्तु जिसके निश्चयरत्नत्रय तो नही है, किन्तु व्यवहाररत्नत्रयका पालन है, यद्यपि वह परमार्थत. मोक्षमार्गी नही है, तिसपर भी जैसा व्यवहाररत्नत्रय ज्ञानी जीवके होता है वैसा ही होनेके कारण और उस रत्नत्रयमे रहनेके अनन्तर यह निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिका पात्र हो सकता है, इस कारण वह भी व्यवहार रत्नत्रय है।

रत्नत्रयमें व्यवहाररूपता—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको कहा है। अब उनमे भिन्न साध्य साधन भावकी पद्धति लगे तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेद पद्धतिसे रत्नत्रय रहे तो वह निश्चयमोक्षमार्ग है। ये धर्मादिक पदार्थ जिसके द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व आदिक विकल्प होते है, भाव है, ऐसा उनका यथार्थ श्रद्धान स्वभाव यथार्थ भावका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है और तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होनेपर जो श्रुत अग पूर्वोका ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है, और तपस्यामे जो उन यतियोकी प्रवृत्ति है वह उनकी चर्या है। इस व्यवहाररतनत्रयके पालनमे स्वयकी योग्यताका भी परिणमन और विकास चलता रहता है और ७ तत्व अगपूर्व महाव्रत आदिक इन परतत्त्वोका भी अर्थात् इन भेदभावो का भी वहाँ प्रत्यय चल रहा है, इस कारण यह व्यवहारमोक्षमार्ग है। जैसे स्वर्णपाषाणमे लगी हुई अग्नि पाषाणको और सोनेको भिन्न-भिन्न कर देती है इसी प्रकार जीव और पुद्गलकी एकताको भिन्न-भिन्न करने वाला यह व्यवहारमोक्षमार्ग है। इस तरह भी कारणता समझिये और इस कारणतासे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जैसे स्वर्णपाषाणमे से पाषाणत्वका ढेर इकट्ठा होनेपर स्वर्णत्वकी प्राप्ति होती है ऐसे ही व्यवहाररत्नत्रयमे से व्यवहारत्वके होनेपर एक शुद्ध अभेद रत्नत्रय प्रकट होता है।

रत्नत्रयविशुद्धि—जो जीव सम्यग्दर्शन आदिकसे अन्तरङ्गमे सावधान है उस जीवके

है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोमे न जाने देना इस प्रकारका जिनके यत्न है उनका भी श्रद्धान यही है, पर कोई स्थान ऐसे है, कर्मविपाक ऐसे है कि जानते हुए भी, श्रद्धान करते हुए भी उस ही रूप रहनेका काम नही बन रहा है और ऐसी स्थितिमे प्रवृत्ति और निवृत्ति चलती है। इतने पर भी श्रद्धानमे अन्तर नही आता और प्रकटरूपमे उपदेश भी ऐसा किया है कि भाई जो शक्ति है, जो योग्यता है उसे न छुपाकर आचरणमें लगो। पर इतना आचरण करते न भी वने तो श्रद्धानसे मत डिगो।

श्रद्धानसे विचलित न होनेका अनुरोध—जो जीव श्रद्धानसे भ्रष्ट हो जाता है उसे भ्रष्ट माना गया है और जो आचरणसे भ्रष्ट है वह यद्यपि आचरणसे भ्रष्ट है, पर सम्यक्त्व यथार्थ रहने पर उसे भ्रष्ट नही कहा गया है, वह पुन लग सकता है। जैसे लोकमें किसी वडेकी आन बनी रहे तो वह उद्दण्ड नही कहा जाता है, पर जब आन ही टूट जाय तो उसे उद्दण्ड कहा जाता है। एक ऐसा ही कथानक कहा जाता है कि एक पुरुषने सेठसे शिकायत की कि तुम्हारा लडका तो पतित हो गया है, वेश्याके यहाँ जाया करता है। सेठ बोला कि हमारा लड़का अभी पतित नही हुआ है। वह पुरुष बोला चलो तुम्हे दिखायें। ले गया वेश्या के घरके पास तो उस सेठने उस वेश्याके घर बैठा हुआ उस लड़केको देख लिया। लडकेने भी सेठको देख लिया तो झट उस लडकेने अपनी अंगुलियोसे अपनी आँखोको वद कर लिया। सेठ इस दृश्यको देखकर उस पुरुषसे कहता है कि देखो मेरा लडका अभी भ्रष्ट नही हुआ है। अभी तक हमारे बच्चेमे हमारे प्रति आन है, आदर है। जब वह बालक घर आया तो सेठने उससे कुछ कहा तो झट वह उस सेठके चरणोमें गिर गया और बोला कि मैंने बड़ी चूक की, अब मै ऐसा न करूँगा। आन, प्रतीति, आन्तरिक नम्रता हो तो सुधारकी असुगमता नही है। इसलिए श्रद्धानसे कभी डिगना न चाहिए। समन्तभद्रस्वामी को परिस्थितिवश आचार्यने साधुपद छुडाकर किसी भी भेषमें रहकर भस्मव्याधि मिटानेका हुक्म दिया था। और किया भी था, परन्तु उनका श्रद्धान ज्योका त्यो था, कुछ भी अन्तर न था। उनका श्रद्धान दृढ रहा। और उस सम्यक्त्वके प्रतापसे जो चमत्कार हुआ वह साधु होने के बाद सबको विदित है। तो कुछ करते बन रहा तव, नही करते बन रहा तव, सम्यक्त्व श्रद्धान यथार्थ बनाये रहे और अपनी शक्ति न छिपाकर उसके अनुरूप आचरण करनेमें प्रयत्नशील रहे, यही एक करनेका काम है।

निश्चयमोक्षमार्गका उद्भव—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे युक्त आत्मा ही निश्चयसे मोक्षका मार्ग है, क्योकि वहाँ रत्नत्रयकी स्थितिमें जीवके स्वभावमे नियत होनेरूप चारित्र पाया जाता है। यह जीव किसी भी प्रकार अनादिकालीन अविद्याका विनाश होनेसे व्यवहारमोक्षमार्गको प्राप्त होता है। धर्मादिक तत्त्वार्थोंके श्रद्धान और अग पूर्वोके ज्ञान तथा

तपस्यावोमे प्रवृत्तिके होनेरूप चारित्रका तो ग्रहण हुआ, ग्रहणके लिए व्यापार हुआ और धर्मादिक तत्वोके श्रद्धान न होने आदिरूप जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र है उसके त्यागके लिए व्यापार हुआ और अब उस ही उपादेयभूत पदार्थके ग्रहणमे और त्याज्य पदार्थके परिहारमे बार-बार चलनेका अभिप्राय चला। सो जितने कालमे यह जीव उस ही आत्मस्वभावकी भावनाके प्रतापसे जब स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके साथ अंगअगीरूप परिणमन करके और फिर अभेदरूप परिणमन करके उस रत्नत्रयमे युक्त होता है उस ही कालमे यह जीव निश्चयसे मोक्षमार्गी कहा जाता है।

अद्वैतरूपता—छूटना है जीवको, और छूटनेका जो उद्यम है वह भी होता है जीवमे। तो जीव ही स्वय मोक्षस्वरूप है और जीव ही मोक्षका मार्ग है। जब यह जीव रत्नत्रयसे युक्त होता है तो मोक्षमार्गी है और जब समस्त दोषोसे छूट जाता है तब वही मोक्षस्वरूप है। निश्चयमोक्षमार्गमे और व्यवहारमोक्षमार्गमे परस्पर साध्य-साधन भाव है। निश्चयमोक्षमार्गका लक्षण है निश्चय शुद्ध आत्मतत्त्वकी रुचि होना और उस ही सहज शुद्ध अतस्तत्त्वका परिज्ञान होना और उस ही निश्चलरूपमे अनुभव होना उसका साधन है व्यवहारमोक्षमार्ग। उस व्यवहारमोक्षमार्गमे गुणस्थानके क्रमसे विशुद्ध परिणाम होता हुआ यह जीव जब कही आगे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रमे अभेदरूप परिणत होता है तब वह आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग कहलाने लगता है।

मोक्षपथका विकास—गुणस्थान सब मोक्षमार्ग हैं चतुर्थसे लेकर ऊपर तकके। १४वा गुणस्थान भी मोक्षमार्ग है। मोक्ष तो गुणस्थानसे अतीत है। अब समझ लीजिए कि मोक्षमार्गकी कितनी स्थितिया हो जाती है, डिग्रिया हो जाती है और चतुर्थ गुणस्थान सम्बधी मोक्षमार्ग प्रकट हो उससे पहिले जो विचार चलता है, ज्ञान चलता है, यद्यपि सम्यक्त्वका वहाँ अभाव है, फिर भी वह ज्ञान यथार्थ है, जैसे कि वह सम्यक्त्वके होनेपर जानेगा वैसे ही सम्यक्त्वमे पहिले भी यह सम्यक्त्वका उन्मुख जीव जानता है। बस अन्तर इतना रहता है कि सम्यक्त्वके अभावमे वह ज्ञान सम्यक्त्वके सद्भावमे होने वाले ज्ञान जैसा खुदमे विशद नही है, उस कारण पूर्व ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नही कहा।

विकाससे पूर्वस्थितिकी विशेषताका उदाहरण—जैसे कोई वर्णन नक्शे द्वारा पैमाइश द्वारा जाना जाय, जैसे किसी देशका वर्णन, नदीका वर्णन, महलका वर्णन कुछ नक्शोसे जाना, उसकी लम्बाई, चौडाई विस्तार भी नक्शेमे जाना अथवा किसीने बताया एक तो वह ज्ञान और एक उसी मौकेपर जाकर उस सबको देखे एक वह ज्ञान। यद्यपि मौकेसे पहिले वाला ज्ञान वही वैसा ही था जैसा कि मौकेपर जाकर देखा, लेकिन मौकेपर जाकर देखनेसे होने वाले विशद ज्ञानकी तरह यह पहिले वाला ज्ञान विशद नही है। तब न सही विशद, पर

ज्ञान तो वहाँ ही हुआ ना, और उस ही ज्ञानके सहारेसे बढकर इसे सानुभव ज्ञान बना, यो बिना निश्चय सम्यक्त्वके भी इसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो सम्यक्त्व जगे बिना मोक्षमार्ग नही कहलायेगा, पर साधन तो वह भी है। वह भी व्यवहार-मोक्षमार्ग है। तो यो यह व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका साधन बनता है।

व्यवहारमोक्षमार्गका उपकार—यहाँ व्यवहारमोक्षमार्गके साधन द्वारा निश्चय मोक्ष-मार्गका वर्णन करते हुए यह बात बतायी गई है कि उन रत्नत्रयोसे युक्त अथवा निश्चयसे न तो किसी अन्यको ग्रहण करता है और न किसी अन्यको छोडता है। ऐसी स्थिति जब उपयोग रूपसे भी हो जाती है तब वह निश्चयमोक्षमार्ग कहलाता है और श्रद्धामे तो यह स्थिति बनी है परको न करने, परको न छोडनेके स्वभाव वाले निज चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा बनी है, पर उपयोग इस तरह परिणत नही हो पा रहा था, अतएव तत्त्वार्थ श्रद्धान पदार्थका विविध ज्ञान और व्रत आदिक रूप प्रवृत्ति हुई थी वह है व्यवहारमोक्षमार्ग। इस प्रकरणसे हम आपको इस कर्तव्यकी शिक्षा मिलती है कि हम मूलमे ऐसा ही ज्ञान बनायें कि यह मै आत्मा मै ही हू, न यह परका करने वाला है और न परका त्यागने वाला है। यह है अपने स्वरूप और अपने स्वरूप परिणमता रहता है। इस प्रकार केवल एक निज स्वरूपको देखनेका काम ही वास्तविक पुरुषार्थ है और इस ही पुरुषार्थसे उद्धार है, दुर्लभ नर-जीवनकी सफलता है।

जो चरदि णादि णिच्छदि अप्पाण अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्त णाण दसणमिदि णिच्चदो होदि ॥१६२॥

सहजस्वभावका अवलम्बन—जो पुरुष अपने आत्मस्वरूपसे अपने आत्माको अपनी गुण पर्यायोसे अभेदरूप आचरण करता है, जानता है, श्रद्धान करता है वह पुरुष चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है, इस प्रकार निश्चयसे स्वय दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप होता है। प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है, जो वह है वह ही स्वय है। प्रत्येक समय वे पदार्थ परिणमते रहते है, अतएव प्रत्येक पदार्थका परिणमन भी अद्वैत है। जो वह है वह ही स्वय है और प्रतिसमय वह परि-णमता रहता है, अतएव उसका समय-समयका प्रत्येक परिणमन भी अद्वैत है। यो जो कुछ भी सत् है वह अद्वैत है और उसका प्रत्येक समयका परिणमन भी अद्वैत है। उस परिणमन को उस द्रव्यसे जुदा नही किया जा सकता, और वह परिणमन उस द्रव्यका है इस प्रकार भेद भी नही डाला जा सकता है। है वह, और है का निर्माण ही इस तरह है कि वह होता रहे तब वह है है। न होता रहे तो वह है नही हो सकता।

सत्त्वके अर्थका मर्म—सत्त्वका मर्म बताने वाला एक व्याकरणका प्रसग है। व्याकरणमे "होता है" की धातु है 'भू धातु—भवति।" इसका अर्थ है "होता है।" किन्तु भू का शुद्ध अर्थ क्या है ? तो बताया है भू सत्ताया। भू का अर्थ सत्ता है। हिन्दी मे कहते है—

होता है और यथार्थ अर्थ है सत् होना। तब पूछा कि सत्ता किस शब्दसे बना है, किस धातु से बना है ? वह बना है अस् धातुसे। जिसका रूप चलता है अस्ति। तो अस्तिका लोकमें प्रसिद्ध अर्थ है 'है' लेकिन अस् धातुका भी व्याकरणमे अर्थ क्या किया है ? अस् भुवि। अस् धातुका अर्थ भू कर दिया और भू धातुका अर्थ अस् कर दिया। इसका अर्थ क्या है कि होना और सत् रहना—इन दोनोका इतना घनिष्ट अविनाभावी सम्बध है कि असके बिना भू नही रह सकता व भू के बिना अस् नही रह सकता। भू का अर्थ असमे पडा है, असका अर्थ भू मे पडा है। यहाँ दो बातोको सिद्ध करते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यमे पडा है और ध्रौव्य उत्पाद व्ययमे पडा है।

वस्तुकी निरख—अब सोचिये—हम वस्तुको किस निगाहसे निरखें ? 'है' यो है। इसके सिवाय हम पदार्थमे और कुछ बोलें तो यो समझिये कि हम पदार्थके टुकडे-टुकडे कर रहे है, उसे छेद भेद रहे है। जैसे किसी पदार्थका छेदभेद टुकडा करें तो उसे लोग तोड फोड कहा करते है, ऐसे ही पदार्थका विवरण करते हुए हम उसका गुण बतायें, उसका परिणमन बताये और गुण भी अनन्त बता रहे, उसका विश्लेषण भी कह रहे तो बात तो हम विस्तारपूर्वक यो कह रहे है कि वस्तुका सही ज्ञान बन जाय, पर कहनेमे तो हम तोड मरोड कर रहे है और चाहते यह है कि यथार्थ वस्तुका ज्ञान हो जाय। यो देखा जाय तो कुछ थोडा हम उस लक्ष्यसे कुछ पक्तिमे पीछे रूप बात बना रहे है, लेकिन निश्चयका प्रतिपक्ष यह व्यवहार है, उसका साधक है, बाधक नही है।

निश्चयस्वरूप—निश्चयके समक्ष यह व्यवहार उल्टी बात कह रहा है, तिस पर भी यह व्यवहार निश्चयका साधक है। उस समय यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप कहा जाता है, जब कि व्यवहारदृष्टि प्रधान है। निश्चयदृष्टिमे यह है और यो ही ज्ञानमे आ गया। जो आत्मा अपने ही द्वारा अपने ही आपमे आत्मामय होनेके कारण अपनेको अभिन्नरूप आचरण करता है, अपनेमे परिणमन करता है, स्वभावमे नियत जो एक अस्तित्व है उस रूप बर्तता है, आत्माको ही जानता है और अपने आपका प्रकाश करे इस प्रकारसे चेतता है, अपने आपके ही द्वारा देखता है। तो आत्मा स्वय ही चारित्र ज्ञान और दर्शन रूप है।

अस्तित्वका दार्शनिक प्ररूप—अस्तित्वका दार्शनिक अर्थ है उत्पादव्यय ध्रौव्यमय अस्तित्वसे निवृत्त होना। कोई भी अस्तित्व उत्पादव्यय ध्रौव्यसे सूना नही होता। उत्पादका अर्थ है बनना, व्ययका अर्थ है बिगडना और ध्रौव्यका अर्थ है बना रहना। कोई पदार्थ बने नही, बिगडे नही और बना रहे, ऐसा नही होता। कोई पदार्थ बिगडे नही, बने और बना रहे ऐसा भी नही होता। कोई पदार्थ बना तो न रहे, किन्तु बने और बिगडे ऐसा भी नही होता। बनना, बिगडना, बना रहना ये— तीनो अविनाभावी हैं और एक ही समयमे हैं। ऐसा भी

नही है कि अमुक पदार्थ अभी बन रहा है तो बिगड़ेगा इसके बाद और बना था पहिले या आगे पीछे। ये तीनों ही तत्त्व पदार्थमे एक साथ होते है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अविनाभावितापर दृष्टान्त—जैसे सीधी अंगुली है और वह एकदम दूसरे ही समयमे टेढी हो गई तो दूसरे समयमे वह अंगुली बने, बिगडे, बनी रहे—ये तीन बाते एक साथ है। टेढी तो बनी, सीधी बिगडी और अगुली बनी रही। यदि ऐसा हो बैठे कि पहिले टेढी यह कहे कि मुझे बन लेने दो, तुम पीछे बिगडना तो वह टेढी हो ही न सकेगी। सीधी बिगडनेके साथ ही टेढी बनी हुई है या यह सीधी कहे कि पहिले मुझे बिगड लेने दो फिर तुम बनना, तो यह भी नही हो सकता कि पहिले सीधी बिगडले उसके बाद वह टेढी बने। यदि तब टेढी न बने तो सीधी बिगड भी नही सकती। यो सब पदार्थोंमे प्रतिसमय बनना, बिगडना और बना रहना होता ही रहता है। चाहे शुद्ध जीव हो, चाहे अशुद्ध जीव हो, अथवा अजीव पदार्थ हो, मूर्त अमूर्त हो। सभी पदार्थ प्रतिसमय बनते है, बिगड़ते है और बने रहते हैं। यह है पदार्थका स्वरूप।

हितके स्वाधीन उपायकी ऐषणा—भैया! हम भी प्रतिसमय दूसरेका सहारा लिये बिना अपने आपके अस्तित्वके कारण प्रतिसमय बनते है, बिगडते है और बने रहते है, ऐसे ही अन्य समस्त पदार्थ। अब बतलावो कि किसी एक पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका सम्बंध है कैसे? जब कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे अपना बना रहना नही दे सकता, अपना बनना नही दे सकता, अपना बिगडना नही दे सकता तो अब चौथा कोनसा रास्ता आप बनायेंगे? यो प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थोसे अत्यन्त जुदा है। न कभी किसीका स्वरूप किसी दूसरे मे गया, न जायगा, न जा रहा है। यो प्रत्येक पदार्थका स्वरूप निरखकर जो भव्य जीव सहज ही परपदार्थोसे उपेक्षा कर लेता है और इस सहज उपेक्षाके कारण निजमें सहज विश्राम कर लेता है उस जीवके सम्यक्त्वका अनुभव होता है। शान्तिके लिए इस जीवने अनेकानेक उपाय किये, किन्तु यह सुगम स्वाधीन उपाय इस जीवने नही किया। इस ही उपायको करने का यत्न होना चाहिए।

भोगरमणका परिणाम—कुटुम्बमें वैभवमे इनमे मौज मानने रमनेका फल बहुत विकट भोगना पडेगा। ये आसान लग रहे है परपदार्थोके संयोग भोग, लेकिन ये बड़े महगे पडेंगे। जैसे लोग कहते है कि सस्ता रोवे बार-बार, महगा रोवे एक बार। कोई चीज आप खरीदते है, सस्ती जानकर खरीदते है तो आप उससे बार-बार अडचन पाते रहते है। जैसे कोई पुरानी मोटर खरीद लाये तो उसमे बार-बार झझट पडता है, रोज-रोज उसमे हैरानी रहती है व कुछ न कुछ खर्च लगा रहता है, किन्तु एक बार कोई महंगी नई मोटर ले आया तो उसमे झझट नही पडता। एक मोटी बात कही है। ये ससारके सुख बड़े सस्ते लग रहे हैं

और पुराने भी है, अनन्तकालसे भोगते चले आए है। ऐसे ही ये सुख सस्ते है, पुराने है जीर्ण-शीर्ण है, आसान लग रहे है, किन्तु इनका फल बडा महंगा पडेगा, क्योकि इनमे अपराध बना है परदृष्टिका। इन सासारिक सुखोंके भोगमे माध्यम है परदृष्टि। परकी ओर जो दृष्टि बनाया है, अपने आपका आश्रय छोड दिया, परकी ओरका झुकाव बना लिया केवल दृष्टिमे, उपयोगमे तो ऐसे उपयोगमे प्रकृतया विह्वलताका ग्रहण होता है, वहां शान्ति और सन्तोष नही हो सकता।

आत्मस्पर्शनका महत्त्व—यह आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मआचरण है तो वास्तवमे सुगम स्वाधीन सहज, लेकिन यह आज तक स्थिति बनी नही, इसलिए बडा महगा मालूम हो रहा है, कठिन मालूम हो रहा है, लेकिन उस समय लग रहे, इस महगे कामको एक बार कर तो डालो, फिर अनन्तकालके लिए झझट समाप्त हो जायेंगे। यह काम लग रहा है महगा, किन्तु इसके निकट जानेपर यह सब बहुत आसान लगने लगता है। तो यो परद्रव्योंसे उपेक्षा करके अपने अतरतत्त्वमे विश्राम करके जो एक सहज अनाकुलतारूप आल्हादका अनुभव होता है उस अनुभवसे परिणत आत्मा निश्चयमोक्षमार्ग है। इस स्थितिमे कर्ता, कर्म और करणका भेद नही रहा, उसकी दृष्टिमे नही रहा। भेद तो कभी होता ही नही, पर जो न माने उनके लिए भेद है, जो मान जाये निजस्वरूपको उनके लिए भेद नही है। यह जीव जो कुछ भी रहता है वह वहाँ अभेदरूपसे ही रहता है, पर इस अद्वैतस्वरूपका जब आश्रय त्याग देता है तब भेद ही भेद नजर आता है।

अभेदानुभवकी शरण्यता—अभेदरूप रहते हुए, अभेद काम करते हुए भी अज्ञानी जीव चूंकि अपनी दृष्टिमे भेदरूप चल रहे है, अतएव वे निर्धन है। जैसे कोई पुरुष अपने घर की जमीनके भीतर गडी हुई लाखोकी सम्पत्तिसे अपरिचित है, कुछ ख्याल ही नही है, कुछ अनुमान ही नही है, और वह जिस किसी प्रकारसे सूखी रोटियोका सेजा लगाकर पेट पालता है। वह तो अपनी दृष्टिमे गरीब है, भले ही उसके घरके भीतर लाखोका वैभव पडा है, लेकिन वह तो दीन ही बना हुआ है। यह एक मोटी बात कही है। यो ही आत्मामे अनन्त समृद्धि का वैभव है अभेदरूप, यह स्वय अद्वैतरूप है, लेकिन इसका जिसे परिचय नही है वह तो दृष्टिसे भेदरूप बन रहा है। जब दृष्टि भी अभेदस्वरूपको अगीकार करनेकी बन जाय उस समय यह जीव निश्चयमोक्षमार्गी होता है। वह आत्मा चारित्र ज्ञान दर्शनस्वरूप है। जीवके केवल शुद्ध चैतन्य स्वभावमे नियत है, वह निश्चयमोक्षमार्गी है। हमे यथासम्भव प्रयत्नोसे इस शुद्ध निर्विकार निर्विकल्प ज्योतिके अनुभवमे आना है, यही हम आपका वास्तविक शरण है।

जेण विजाणदि सव्व पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि त जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ॥१६३॥

भव्यका श्रद्धान—जिस कारणसे यह आत्मा समस्त वस्तुवोको जानता है और सब ही को देखता है, अतएव वह अनाकुल अनन्त अमूर्त सुखका अनुभव करता है, इस प्रकार यह निकट भव्य जीव उस अनाकुल पारमार्थिक आनन्दको जानता है, उपादेयरूपसे मानता है। इस प्रकार अनाकुल सुखको जो जानते है वे तो निकट भव्य है और निकट कालमे वे मोक्षको प्राप्त करेंगे, लेकिन जो इस प्रकार अभी नही जान रहे, उनमे भी ऐसी मोक्ष पानेकी योग्यता भले ही हो, किन्तु वे अभी सुभवितव्यतासे दूर है और जो अभव्य जीव है उनमे ऐसी मोक्षपर्यायके व्यक्त होनेकी योग्यता ही नही है वे शुद्धात्माके अनन्तसुखका परिचय भी नही कर सकते।

सकल जीवोंमें स्वरूपसाम्य—भैया! भव्यत्व और अभव्यत्वका अन्तर होनेपर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी शक्ति सभी जीवोमे है। चाहे भव्य हो और चाहे अभव्य हो। यदि अभव्यमे केवलज्ञानादिककी शक्ति न मानी जाय, स्वभाव न माना जाय तो फिर केवलज्ञानावरण नाम किस बातका ? केवलज्ञानावरण उसे कहते है जो केवलज्ञानको प्रकट न होने दे, केवलज्ञानका आवरण करे। जिस अभव्यमे केवलज्ञानकी शक्ति ही नही है, स्वभाव ही नही है तो केवलज्ञानावरण प्रकृति क्यो बनेगी। जैसे इन खम्भा, चौकी आदिक जड पदार्थोंमे क्या वह ज्ञानावरण है ? तो केवलज्ञानका स्वभाव प्रत्येक जीवमे है। वह तो जीवका स्वरूप है। हाँ केवलज्ञान प्रकट होनेकी शक्ति अभव्यमे नही है अथवा यो कहिये जिनमे केवलज्ञान प्रकट होनेकी शक्ति नही है वे अभव्य है। केवलज्ञानकी तो शक्ति है अभव्य मे, पर केवलज्ञानके प्रकट होनेकी शक्ति नही है। इन दो बातोंमे अतर है। जैसे दृष्टान्त दिया जाता है बध्या स्त्रीका। जिसे लोग बध्य स्त्री कहते है, उसमे यद्यपि सतान होनेकी शक्ति है, पर सतान होनेकी शक्ति प्रकट होनेकी शक्ति नही है। यदि सतान होनेकी शक्ति न मानी जाय तो उसका नाम स्त्री ही नही हो सकता। ऐसे ही यदि केवलज्ञानकी शक्ति अभव्यमे न मानी जाय तो वह जीव ही नही कहला सकता। वह तो जीवका सहजस्वरूप है। हाँ केवलज्ञान शक्तिके व्यक्त होनेकी शक्ति अभव्यमे नही है।

द्रव्योमे साधारणासाधारणगुणरूपता—यदि रच भी फर्क आया किसी द्रव्यका किसी द्रव्यके साथ मूलमे तो वे एक जातिके न कहलायेंगे, दो जातिके हो जायेंगे। यदि ऐसा असीम ज्ञान शक्तिस्वरूप स्वभाव अभव्यमे न हो तो द्रव्य ६ के बजाय ७ कहना चाहिए—भव्य जीव, अभव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। उन दोनोको एक जीव जातिमें नही रख सकते। जो साधारणस्वरूपमे पूर्ण समान होता है वह ही उस द्रव्यमे आया करता है।

जीवमे ज्ञान और सुखका स्वभाव व अविनाभाव—जीवमे समस्त ज्ञेयोके जाननेका स्वभाव है और समस्त ज्ञेयोके अवलोकनका स्वभाव है। यह स्वभाव जिसके व्यक्त हुआ है

अर्थात् समस्त ज्ञेयोको जानता-देखता है वह अद्भुत अनुपम आत्मीय शाश्वत आनन्दका अनुभव करता है। जैसे प्रभुके ज्ञान और दर्शन असीम बन गए तो उसके साथ ही आनन्द भी असीम बन गया। कुछ-कुछ हम आप भी अदाज करते है कि सुखकी दौड ज्ञानकी दौडके साथ-साथ लगी रहती है। जिसका ज्ञान दर्शन असीम है और असीम होता है मोहके अभाव कारण तो उनका आनन्द भी असीम है।

आनन्दका यत्न—ससारीजन आनन्द पानेके लिए कोशिश तो किया करते है, पर कोशिश उल्टी चलती है। मोह रागद्वेपसे ज्ञानपर आवरण होता है और मोह रागद्वेषसे ही आनन्दका विघात होता है। किन्तु ससारीजन आनन्दकी उपलब्धिके लिए मोह रागद्वेषकी ही प्रवृत्ति करते है। तो जैसे खूनका दाग खूनसे नही धुला करता ऐसे ही मोह रागद्वेषसे उत्पन्न हुआ कष्ट मोह रागद्वेषसे कभी मिट नही सकता। आनन्दकी उपलब्धिका उपाय ऐसा ज्ञानप्रकाश कर लेना है जिस ज्ञानप्रकाशके कारण मिथ्या आशय अथवा परवस्तुवोमे प्रीति अप्रीतिका परिणाम न ठहर सके। इस उपायके सिवाय अन्य कोई उपाय है ही नही शान्ति पानेका। ऐसा जिसका ठोस निर्णय होगा वही धर्मपालन करनेका पात्र है अन्यथा धर्मके नाम पर कैसी ही मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ कर ली जायें, जब उसका मर्मभूत अन्तरग ही नही है तो धर्म नाम किसका है ?

विपरीत वृत्तिमे धर्मका अलाभ—जैसे चावलरहित धानके छिलकोको खरीदकर कोई लाभ नही पाया जा सकता है। हाँ उसमे भी लाभ है। धानके छिलके भी बिकते होंगे। लेकिन चावलोके भावमे कोई धानके छिलके खरीद ले तो उसमे सारा नुक्सान है। ऐसे ही धर्मके नामपर कोई व्यवहार क्रियाएँ करले और धर्मकी बात वहाँ है नही, निष्कपाय, निष्तरग जो आत्माका शुद्ध ज्ञानप्रकाश है वह मेरा स्वरूप है, जो समस्त परसे न्यारा है और अपने सहज सत्त्वके कारण प्रबल है, समर्थ है, शाश्वत है, ऐसे निज अतस्तत्त्वकी जिन्हे सुध नही होती और धर्मके नामपर व्यवहार क्रियाएँ करें, मनचाही धर्मकी चेष्टाएँ करे तो लाभ तो नही हो सकता। हाँ मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्ति करे तो उससे लाभ है, पर वह लाभ उतना ही लाभ है जैसा कि भुस और छिल्केके भावमे भुस छिल्का लेनेसे जो लाभ है उतना ही लाभ है। यह कोई लाभ नही है, मोक्षमार्गका लाभ नही है। कुछ पुण्य बँध जायगा, थोडी विभूति मिल जायगी। वही ससारका जन्ममरण लगा रहेगा।

एकत्वका आदर—जिस पुरुपने अपने आपके स्वरूपको समझा है, यह मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, सबसे न्यारा हू वही जन्ममरणके चक्रमे निवृत्त हो सकता है। मरनेपर तो कोई जाता ही नही, यह तो प्रकट ही दिखता है। जन्मके समय कोई साथ आया नही, यह भी प्रकट दिखता है। जीवनमे कोई विपदा आ जानेपर वहाँ भी कोई साथ नही निभाता,

यह भी प्रकट दिखता है। जरा और अन्तः प्रवेश करके स्पष्ट निर्णय कर लो कि यह जीव अपनी सब परिस्थितिमे सदा अकेला ही है। ऐसा अकेला रहना दोषकी बात नही है, गुणकी बात है। अकेला रहना कोई खराब नही है, अच्छा ही है। जो केवल अकेला रह जाता है उसका नाम है भगवान। अकेला होना बुरा नही है।

एकत्वके आदरके लाभकी एक घटना—जब चिरोजाबाई जी, जिन्होने बडे वर्णी जी को पढाया, १४ वर्षकी उम्रमे विधवा हो गयी थी। गिरनारकी यात्रामे सब लोग गए हुए थे, उस यात्रामे ही पति गुजर गया। जल्दी घर आयी, वहाँ लोग लुगाई सब घर आये तो उन्हे बहुत बुरा लगे। तो कभी उपवास कर लें आज हमारा उपवास है। आज हम मिलेंगी नही। कुछ यो दिन काटे। इससे पहिले तुरन्त वियोगके समय चित्तमे आया था कि कुवेंमें गिरकर मर जायें, अभी छोटी उम्र है, कैसे जीवन कटेगा? फिर सोचा कि गिरी तो सही मगर न मरी तो उससे भी कई गुना कष्ट होगा। खैर घर आयी, यो उपवासमे कुछ समय बिताया और सोचा खैर अकेली रह गयी है तो यह कुछ बुरा नही है, अनेक झझटोसे बची, पतिकी परतत्रतासे बची, बाल बच्चोके व्यर्थके झझटोसे बची। अच्छा है। ज्ञानार्जनमे चित्त दिया और उन्होने जो वास्तविक आनन्द लिया वह सबको विदित है, ऐसी धर्ममूर्ति थी चिरोजा बाई जी, जिनकी सानीकी उनके समयमे महिला नही थी। बडे-बडे लोग जो धर्म-मर्ममे चकरा जायें, उसे यो ही सहज चलते-चलते सुलझा देती थी। तो अकेला होना कहाँ बुरा है?

समागममें भी एकत्वप्रतीतिसे शान्ति—भैया! समागम भी मिला हो भरपूर तो वहाँ भी अकेला मानना भला है। बड़े भरपूर समागममे रहकर जो अपनेको अकेला नही समझ सकता है, मेरे बहुतसे लोग है इस तरहकी भ्रमबुद्धि बनाए है तो वहाँ पद-पदपर दूसरोकी जरा-जरासी चेष्टापर उसे खेद होने लगता है। आपने देखा होगा किसी अपरिचित स्थानमे किसी अपरिचित व्यक्ति द्वारा कोई आपको कष्ट पहुंचे तो आप उतना बुरा नही मानते। आपमे वहाँ सामर्थ्य रहेगी कि मै कष्टको सह लू, पर आप व्याकुल न होगे और किसी परिचित जगह मे कोई परिचित पुरुष आपको विशेष कष्ट भी नही पहुचा रहा, किन्तु जरासी कोई बात कह दे, इतनेपर आप विह्वल हो सकते है। यह अतर किस बातका आया? वहाँ अपरिचित जगह मे अपरिचितके सामने आप अपनेको अकेला समझ रहे थे। जब अकेला समझ रहे थे तब कष्ट न था। यहाँ परिचित स्थानमे परिचितोंके बीच आप अपनेको अकेला अनुभव नही कर रहे, इस कारण जरा-जरासी बातपर विह्वलता हो जाया करती है। यह तो एक गुण है। जिसे शान्ति पाना हो किसी भी स्थितिमे कितना भी समागम हो, सर्व समागमोमे आप अपनेको अकेला अनुभवें।

एकत्वदर्शनका प्रताप—योगी जन जगलके बीच वर्षो तक प्रसन्न रहा करते है, उनके अद्भुत आनन्द जग रहा करता है। वह आनन्द और किस बातका है ? वे अपनेको सदा अकेला मान रहे है। अकेला माननेमे जो आनन्द है वह आनन्द समागममे नही है। समागम मे रहकर भी अकेलेकी श्रद्धा हो तो वहाँ भी अन्त आनन्द रह सकता है और इस अकेलेपन को माननेका चमत्कार भी निरखिये। जो इस एकत्वका आदर करता है वह अपने अकेलेपन को ही अपनाता है। उसके ऐसा असीम ज्ञान प्रकट होता है कि तीन लोक तीन कालके समस्त ज्ञेय पदार्थ उसके जाननेमे आ जाते है अर्थात् अकेला अनुभव करता है, वह सर्वज्ञ बन जाता है। जो अपनेको अकेला अनुभव न करके कुटुम्ब वाला, देह वाला, धन वाला अनेकरूप अपने को मानता है वह ससारमे रुलता है। छुटपुट ज्ञान और सुख मिल गए, इनमे ही राजी रहकर सुखको भोगते रहते है। प्रभु समस्त ज्ञेयको जानते देखते है, इस कारण विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते है और जो निकट भव्य जीव केवल इस एक अकेलेको ही जानते देखते है वे भी आनन्दका अनुभव करेंगे।

एक बराबर सबका अध्यात्मदर्शन—देखो भैया ! एक बराबर सब। कितनी विलक्षण गणित है ? सब कुछ कितना बराबर है ? इस एक बराबर। इसे कोई मानेगा क्या ? न्यायकी ज्ञानकी तराजूपर एक पलडेपर तो निज रख दो और एक पलडेपर अनन्तानन्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल उनकी भूतकालीन पर्याये, भविष्यकालीन पर्यायें सब कुछ रख दो, और फिर भी बराबर कहलाये इसे कोई मान सकता है क्या ? जाननहार लोग मान सकते है। प्रवचनसारमे तो यह स्पष्ट कहा भी है कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एकको जानता है, इसका भी भाव इस रूपमे निरखिये। प्रभु सर्वज्ञ देव अरहत सिद्ध भगवान किसको जान रहे है ? एकको जान रहे कि सबको जान रहे। एक को भी जान रहे, सबको भी जान रहे। तो क्या उस एकको और सबको यो ही समान कक्षमे रखे हुएके ढगसे जान रहे है प्रभु सर्वज्ञ ? नही। एकको जानते उर्फ सबको जानते। सबको जाननेसे मतलब एकको जानना। इस ढगसे जान रहे है, कही इस तरह नही कि किसीने ११ चीजें जानी तो १० बाहरकी भी जानी और एक अन्तरकी भी जानी। यो नही। सर्वज्ञेयग्रहणात्मक उपयोगमय अपनेको प्रभु जानते रहते है।

परिणमनपद्धति—प्रभु सर्वज्ञ देव अपने ही प्रदेशोमे है। जैसे आपका जीव आपके प्रदेशोमे है, आप जो कुछ भी कर सकते है वह अपने ही प्रदेशोमे कर सकते है, किसी परमे नही कर सकते। किसी परको आप हुक्म दे, सुधार करें, बिगाड करे वहाँ भी आप जो कुछ कर रहे है वह अपनेको कर रहे है, अपनेमे कर रहे है, आपकी कोई परिणति किसी दूसरे पदार्थमे नही बन रही। तो भगवान सर्वज्ञदेव भी जो कुछ कर रहे होंगे वह अपने ही प्रदेशो

मे कर रहे है। क्या कर रहे है ? उनका ज्ञान किस प्रकार परिणाम रहा है ? परिणाम रहा है उनके आत्मामे ही, पर सर्वज्ञेयग्रहणरूप परिणाम रहा है तो समस्त ज्ञेयोके जाननरूप परिणामनसे परिणामते हुए केवल अपने आपको ही भगवानने जाना, एक ही को जाना। उसमे सबका जानना आ गया।

ज्ञानमे ज्ञेयाकारताका स्वभाव—युक्तिसे भी विचारिये— उस ज्ञानका स्वरूप क्या जो ज्ञेयको न जानता हो ? भगवानके केवलज्ञानका और स्वरूप क्या ? यदि वह ज्ञेयको जानता न हो। ज्ञेयका जानना ही तो ज्ञानका स्वरूप बन रहा है। तो उस समस्त ज्ञेयका जानन हुआ तब खुदका भी जानना हुआ। और यहाँ हम आप लोगोंके लिए यद्यपि हम सबको नही जान रहे है। जितना क्षायोपशमिक ज्ञान है उतना ही हम उन पदार्थोंको जान रहे है। लेकिन हम इन पदार्थोंपर दृष्टि न डालकर केवल अपने सहजस्वरूपको जाने तो इस एकको भी जानने का वह चमत्कार होगा कि समस्त ज्ञेय इसके जाननेमे आयेंगे। जिस जीवके सब कुछ जाननेमे पडा है उसे अनन्त आनन्दका अनुभव होता है—यह बात निकट भव्य जीवोंको विदित है। इस मर्मका जिसे परिचय नही है ऐसा अभव्य पुरुष उस सुखका श्रद्धान नही कर सकता है।

सिद्धोका अनन्त सुख—अनेक लोग ऐसी शका उठाते है कि ली, तपस्या की, शरीर छूटा, कर्म छूटा, यह जीव अकेला ही ऊर्द्धगमन स्वभावसे लोकके शिखरपर चला गया। वह क्या वहाँ सुख भोगता होगा, अकेला पडा है लोकके बिलकुल किनारेपर, कैसे समय कटता होगा, क्या करते होगे ? यहाँकी बात लपेटकर और सिद्धमे भी सुखकी शका करते है। अरे सिद्ध भगवानके कैसा सुख है, इसका तब तक परिचय नही हो सकता जब तक आप अपने आपमे बसे हुए एकत्वकी भावनासे उत्पन्न हुए अपने ही आनन्दको आप नही भोग सकते, उस शुद्ध आनन्दकी झलक आप नही ले सकते तब तक सिद्ध भगवानके आनन्दका आप परिचय नही पा सकते है। सुख क्या है ? स्वभावके जो विरुद्ध है स्वभावके जो प्रतिकूल है, स्वभावकी जो प्रतिकूलताएँ है उनका अभाव होनेसे अपने आप जो स्वभावका एक शुद्ध विकास होता है वहाँ ही तो सुख है। आत्माका स्वभाव है दर्शन और ज्ञान। उन दोनोंके विषयका जो विरोध करे उसीका नाम है प्रातिकूल्य। ये प्रतिकूलताएँ सब मोक्षमे नही है। जो आत्मा समस्त ज्ञेयोको जानता है देखता है ऐसे उस विशुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रतिकूलताएँ रंच भी नही है। स्वभावकी प्रतिकूलताएँ- विषयोके भोगमे, विषयोकी प्रवृत्तिमे संकल्प विकल्पमे पडी हुई है। इन सब प्रतिकूलतावोका मोक्षमे अभाव हो जाता है और उन बाधावों का अभाव होनेसे अनाकूलता रूप परमार्थ आनन्दका मोक्षमे अनुभव अचलित रहा करता है।

परमार्थतः अमीरी और गरीबी—यह जीव स्वभावसे ही ज्ञानानन्दस्वरूप है। इस

मर्मका जिसे विशद अवगम है उससे बढकर यहाँ कोई अमीर नही है। और जिसे इस ज्ञानानन्दस्वभावका परिचय नही है उस जीवमे बढकर गरीब दुनियामे कोई नही है। ये थोडे समयके मिले हुए समागम अथवा विकल्प मौज ये सब स्वप्नवत् है, ये परमार्थ कुछ नही है। उस आत्माके ज्ञान दर्शनस्वभावके उस आनन्दका ज्ञान भव्य पुरुष ही जानते है। तो भव्य पुरुष ही मोक्षमार्गमे चलनेके योग्य है, इसका अभव्य श्रद्धान नही कर सकते। अतएव अभव्य जीव मोक्षमार्गके योग्य नही है। जितना भी अपने आपके स्वरूपकी ओर झुकाव होगा, अपने आपको अकेला मानकर और अधिक एकत्वस्वरूपमे जाना होगा उतना ही यह आत्मा विशुद्ध आनन्दका अनुभव करेगा।

लौकिक होडकी व्यर्थता—इस जगतमे लोग सुखकी होड लगा रहे है। दूसरेके सुख को देखकर या दूसरोको मै भी सुखी जचूं, इस ख्यालसे सुखकी होडमे लग रहे है। धनवान बननेकी होडमे ये मनुष्य दूसरे धनवान पुरुषोको देखकर, मैं कही छोटा न कहलाऊँ, कही मेरी प्रतिष्ठा कम न हो जावे, यह सोचकर लोग धनिक बननेकी होड मचाये हुए है, लेकिन ये सबकी सब बातें किसे दिखाना चाहते हो ? यहाँ आपका कोई साथी नही है, कोई हितू नही है, कोई मित्र नही है, कोई रक्षक नही है। किसे प्रसन्न करनेके लिए बाहरी सुख, बाहरी वैभव, बाहरी सञ्चयकी धुनमे अपनेको लगाया जा रहा है ? जो पुरुष उन सबसे परे आत्माके शुद्ध एकत्वस्वरूपको जानता है वह पुरुष विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है।

भव्यत्वका गौरव और उपयोग—इन ससारी जीवोमे जो भव्य जीव है वे ही मोक्षमार्गके योग्य है, सब मोक्षमार्गके योग्य नही है। एक बात और विशेष समझना। इस जगतमे भव्य जीव अभव्यसे अनन्तगुणे है। अभव्य अत्यन्त कम है और फिर हम आपको ऐसी श्रद्धा बनानी चाहिए ही। है भी ऐसी बात कि हम आप सब ऐसी कक्षाके लोग तिर भी सकते है। हम सबका कर्तव्य है कि हम अपने उस ज्ञानदर्शन स्वभावकी श्रद्धा करके अपने एकत्वस्वरूप की ओर झुकें और विशुद्ध आनन्द प्राप्त करनेका उद्यम करें।

दसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इद भणिद तेहि दु बधो व मोक्खो वा ॥१६४॥

साधुसेवितव्य दर्शनज्ञानचरित्र—इस गाथामे इन दो मर्मोपर दृष्टि डाली गयी है कि दर्शन, ज्ञान, और चरित्र—ये तो किसी प्रकार बधके भी कारण हो सकते है किन्तु जीवके स्वभावमे नियत हो जाने रूप निश्चय चरित साक्षात् मोक्षका ही कारण होता है। साधुजनोंने यह बात बतायी है कि साधुजनो ! दर्शन, ज्ञान और चरित्र, यह है मोक्षका मार्ग, इनका सेवन करना चाहिए, परन्तु उनके सेवनमे कभी बध भी हो सकता है और मोक्ष भी होता है।

राग सम्बन्धसे दर्शनज्ञानचारित्रकी बंधहेतुता—दर्शन, ज्ञान, चरित्र कब किस प्रकार

बधके कारण होते है, इसको भी दो दृष्टियोसे सोचिये—एक तो शाब्दिक गुजाइश की दृष्टिसे यह ही तो कहा ना कि दर्शन, ज्ञान, चरित्र कथचित् बधके कारण है, ठीक तो है। वे दर्शन ज्ञान, चरित्र यदि मिथ्या है तो बधके कारण है और सम्यक् है तो बधके कारण नही है। यह तो शाब्दिक गुञ्जाइशका निपटारा है। अब भीतरी मर्मकी बात सुनो। हम आपसे पूछे कि बतावो घी ठडक पैदा करने का कारण है या जलानेका कारण है ? उत्तर दो। क्या घी ठडक पैदा करनेका कारण है ? तो अच्छा सुनो! कडाहीमे पक रहे घी को डाल दे कोई तुम्हारे ऊपर तो ·· अरे क्यो भागते हो, घी तो ठडक पैदा करनेका कारण है, ठीक है। घी यद्यपि शीतलता लानेका कारण है, परन्तु अग्निसे सम्बधित होकर तो यह घी जलानेका ही कारण बनेगा। ऐसे ही समझिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दृष्टियोके भी ये तीनो है तो मोक्षके कारण ना ? तब जब कभी रत्नत्रय शुभोपयोग और राग से सम्बधित है, रागी पुरुषमे है तो शुभोपयोगसे रागसे सम्बधित यह रत्नत्रय स्वर्गका कारण बनेगा।

अद्वैतवस्तुका प्रति समय अद्वैत परिणमन—बन्ध और मोक्षकी हेतुताका बहुत विश्लेषण करें और उनके अश अशकी बात करें तो यो कह लेंगे कि जितने अशमे रत्नत्रय है उतने अशमे मोक्षका कारण है और जितने अशमे राग है उतने अशमे वह ससारका कारण है, लेकिन यह अश आपके दिमागमे ही तो है। आत्मामे प्रकट तो कही जुदा अश नही पडा है ? वहाँ तो जो कुछ है प्रतिसमयमे एक ही परिणमन है। अद्वैत पदार्थ है और प्रतिसमयमें अद्वैत परिणमन है। जैसे उस घी के सम्बन्धमे भी कह सकते है, जो कडाहीमे उबल रहा घी है, उसमे जितने अशमे घृतपना है उतने अशमे यह शीतलताका कारण है और जितने अश मे गर्मीका सम्बन्ध है उतने अशमे जलानेका कारण है, मगर उस घी मे यह शीतलताका हेतुभूत और जलानेका हेतुभूत अश जुदा-जुदा कहाँ पडा है ? वह तो एक हो रहा है। जिस प्रकारसे भी वह परिणत है उस प्रकारसे वह एक है। तब यही बात हुई ना कि जैसे अग्निसे सम्बन्धित उबला हुआ घी विरुद्ध कारणरूप होता है ऐसे ही किसी भी मात्रामे शुभोपयोगकी परिणतिसे सम्बन्धित ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र बधके कारण भी होते है।

दर्शनज्ञानचारित्रमे मोक्षहेतुताका आविर्भाव—ये दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षके कारण कब होते है ? इसे जैसे कि उस घीमे से अग्निका सम्बलन दूर हो जाय तो वह घी अब विरुद्ध कार्यका कारण नही रहा अर्थात् जलानेका कारण नही रहा, इस ही प्रकार जब सर्व प्रकारके परसमयोकी परिणति दूर हो जाती है और स्वसमय परिणतिसे लग जाता है तब वह मोक्षका कारण ही होता है, बधका कारण नही है। जीवस्वभावमे नियत होनेरूप जो चारित्र है वह तो साक्षात् मोक्षमार्गका कारण है अर्थात् सर्व प्रकारसे जो स्वसमय परिणत है वह

साक्षात् मोक्षका मार्ग है । जैसे अग्निके सयोगमे स्वभावसे शीतल होने वाला भी घी दाहका कारण बन जाता है, ऐसे ही पचपरमेष्ठी आदि पावन द्रव्यके आश्रयमे बने हुए जो भक्ति आदिक परिणाम है इन परिणामोसे सहित जो परिणमन है, रत्नत्रयरूप प्रवर्तन है वह भी साक्षात् पुण्यबधका कारण होता है, और अत्यन्त मोटी बात जैसे पहिले शाब्दिक गुजाइशमे बताया था, मिथ्यात्व, विषयकषाय निमित्तभूत परद्रव्योका आश्रय करके होने वाला जो दर्शन ज्ञान चारित्रका परिणमन है वह तो पापबधका ही कारण होता है । इससे यह निश्चित कर लीजिए जीवके स्वभावमे नियत होनेरूप चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ।

दृष्टिकी चारकता—सब कुछ जीवकी एक दृष्टि लगनेकी बात है । लग जाय जीव इस ओर तो उसका कुछ भविष्य ही उज्ज्वल होने लगता है, और लग जाय पापोकी ओर तो उसका भविष्य भी सब गदा हो जाता है । यहाँ भी केवल दर्शन ज्ञान चारित्रका परिणमन किया और शुद्ध पथमे लगनेपर भी दर्शन ज्ञान चारित्रका परिणमन किया । न यहाँ ससारमे फसनेकी परिणतिमे भी कुछ अन्य हाथ लगा और मोक्षमार्गमे भी कुछ अन्य हाथ लगनेकी कथा ही क्या है, वह तो स्वके उपलम्भ स्वरूप है । ससारमार्गमें चाहते हुए भी जीवको कुछ मिलना नही है बाहरमे । मोक्षमार्गमे भी मिलता नही, लेकिन यह चाहता भी नही । इतना अन्तर है । ससारमार्गकी चाह है, पर मिलता कुछ नही है, मोक्षमार्गमे चाह भी नही है, मिलता भी नही है बाहरसे कुछ । इस प्रकार इस निश्चय मोक्षमार्गके प्रकरणमे "जीव आत्मस्वभावमे नियत रहे, यही शान्तिका उपाय है," यह बात बताई गयी है ।

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसपओगजुदो ।
हवदित्ति दुक्खमोक्ख परसमयरदो हवदि जीवो ॥१६५॥

सूक्ष्मपरसमयपनेका आख्यान—जैसे लोग कहते है कि अपने ही घरमे बैठा हुआ गुप्त दुश्मन अधिक खतरनाक होता है । यद्यपि प्रकटरूपसे आपत्ति उपसर्गोका आना व्यक्त दुश्मनो की ओरसे होता है । घरमे छुपे हुए दुश्मनसे कोई बिगाड सामने नजर नही आता, लेकिन वह भी जड काटने वाला दुश्मन है । ऐसे ही मिथ्यात्व विषयकषाय हिंसा आदिक पाप ये सब व्यक्त दुश्मन है और इनसे जीवका बिगाड है, जीवकी अवनति है, ये प्रकट जाहिर है, किन्तु इन व्यक्त दुश्मनोको दूर कर देनेपर भी अन्तरङ्गमे कोई बैरी बसा हुआ होता है जो बडा सुहावना लगता है और यह बैरी है, इस प्रकारका कि उसपर सदेह भी नही होता । उस आत्मबैरीकी चर्चा इस गाथामे की गई है अर्थात् सूक्ष्मतासे परसमयपनमे क्या होता है उसका इसमे वर्णन किया गया है । ज्ञानी पुरुष अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि जीव अथवा व्यवहारसम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् अज्ञानभावसे कोई सूक्ष्म विवेक न होनेमे ऐसा मानते कि शुद्ध जो अरहत आदिक पदार्थ है, उनके लगावमे, उनके लगनेमे, शुभोपयोगसे दु खोमे छुटकारा होता है, ऐसा

समझ ले तो उस जीवको परसमयमे अनुरक्त हुआ समझिये ।

प्रभुभक्तिमे उपकार व रागलेशका बंध—अरहंत आदिक भगवान ये सिद्धिके साधनीभूत है । जैसे कहते है ना कि जो यह जिनवाणी न होती तो हम मोक्षमार्गमें कैसे लगते ? तो किस भाति पदारथ हांति कहाँ लहते रहते अविचारी । तो इसमे कुछ सन्देह नही है कि अरहत भगवान हम सब भव्य जीवोकी सिद्धिके साधनभूत है, उनका बहुत उपकार है । यहाँ हम आप ससारी जीव किसीकी सहायतासे कुछ अपनी आजीविकका साधन बना लेते है तो उसका बहुत बडा आभार मानते है जो कि सब मोहकी निद्राके स्वप्न है, फिर उनके उपकार का कौन वर्णन कर सकता है जिनकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चला आया हुआ यह समस्त उपदेश है जो अन्तरङ्गके मिथ्या भ्रमको दूर करके एक सम्यग्ज्ञानका प्रकाश करा देता है, उसके उपकारका ऋण कौन चुका सकता है ? जीवके सुख दुःख आनन्दका सम्बंध तो ज्ञानकी पद्धतिसे है, बाहरी चीजोसे नही है । जिस ज्ञानपद्धतिसे आनन्द प्राप्त हो सके वह ज्ञानपद्धति जिसकी कृपासे बन जाय उसके उपकारका ऋण कौन चुका सकता है ? भगवत अरहंत परम उपकारी पुराण पुरुष है, उन अरहत परमेष्ठियोकी भक्तिके फलसे अनुरजित अर्थात् धर्मानुराग करते हुए जो चित्तवृत्ति है उसका नाम है शुद्ध सप्रयोग । शुद्ध पावन चैतन्य द्रव्यमे उपयोग का जो भली प्रकार प्रयोग है वह है शुद्ध सम्प्रयोग । ठीक है, उसे जान लें, शुद्धका उपयोग करे, शुभोपयोग करें, पर अज्ञानका लेशमात्र होनेसे ज्ञानवान होकर भी यदि कोई ऐसा मान बैठे कि इस शुद्ध सम्प्रयोगसे मोक्ष होता है तो इस अभिप्रायसे उसे विधिबन्ध होता है व खेद पहुचता है ।

वस्तुस्वातन्त्र्यके प्रतिकूल विचारमे खेद—विकल्प करना और विकल्पोसे अनुरजित होना, यह तत्काल खेदको उत्पन्न करने वाली वृत्ति है । शुभोपयोगसे मोक्ष होता है—इस प्रकारकी श्रद्धा, इस प्रकारके विकल्पसे ही उसे अविदित खेद पहुच रहा है । जो बात जहाँ यथार्थ नही है, जो बात जहाँ फिट नही बैठती है उसको वहाँ जोडनेके समय खेद तो होता है । आप किसी मशीनमे कोई पेंच पुर्जा लगायें, मान लो एक ढिबरी ही लग रहे है और वह किसी दूसरी कीलीपर लगाया है, फिट नही बैठती है तो चित्त दुःखी हो जाता है, खिन्न हो जाता है । देखो है मामूली-सी बात, पर उसमे ही आप खेदखिन्न हो जाते है, और जब वह ढिबरी ठीक फिट हो जाती है तो वहाँ आप खुश होते है । ऐसे ही कोई आशय बने भीतरमे जो आशय वस्तुस्वरूपके विरुद्ध हो उस आशयके करने मात्रमे ही खेद उत्पन्न होता है, और फिर उससे जो काम बिगडेगा उसका खेद होगा वह अलग बात है, पर तत्काल ही एक विरुद्ध आशय होनेपर खेद होता है यह तो उसी समयका उसका ही काम है । तो जब यह जीव ज्ञानवान होकर भी इस शुभ रागसे मोक्ष होता है इस अभिप्रायसे खेद करता है उस शुभ राग

मे प्रवृत्ति करता है तब तक वह भी रागका सद्भाव होनेसे परसमयरत कहा गया है ।

विरोधीसे सावधानी—जैसे कोई पुरुष बहुतसे दुश्मनोमे घिर जाय तो वह बुद्धिमान पुरुष क्या करता है ? उनमे फूट डाल देता है । इससे बहुतसे दुश्मनोसे वह रक्षा कर लेता है और जिनमे रह जाता है उनके सम्बन्धमे भी जानता वह सब है कि इससे भी हमे छूटना है, यह भी मेरा वैरी है । जैसे पहिले समयमे कुछ ऐसी घटनाएँ हुई है यहाँ भारतमे कि अग्रेजो के राज्यमे कोई इन्ही भारतीयोमे एक दूसरेको आपसमे मार दे या बरबाद कर दे, ऐसा करने वालोंके लिए प्रलोभन दिया, इनाम देनेके लिए बोल दिया । पर जब उन्हे मार दिया, बरबाद कर दिया और इनाम लेने अथवा सम्मान लेने गए तो यह उत्तर दिया गया कि तुम्हारा क्या विश्वास ? जब तुम अपने भारतीयोंके भी होकर नही रहे तो तुम हमारे होकर कहाँ रहोगे ? यो ही समझिये कि यह ज्ञानी चतुर जीव भी सर्वप्रकारके सूक्ष्म रागोसे भी सावधान रहता है, सूक्ष्म रागमे वह भक्ति करता है, परोपकार करता है । सब कुछ करके भी जानता यह है कि रागका लेशमात्र भी हमारे लिए अहितकर है ।

सूक्ष्म परसमयतासे भी निवृत्तिकी दृष्टि—देखो भैया ! ऐसा भी पुरुष जो प्रभुकी भक्ति करके यह मानता हो कि हमारा तो मोक्ष निश्चित हो गया, हम रोज प्रभुभक्ति करते है, रोज पूजा करते है, उस जीवका जो परद्रव्योके प्रति आकर्षण है राग है, उस रागके सद्-भावसे उसे परसमयरत कहा गया है । भला बतलावो जब ऐसा ज्ञानी निर्मल परोपकारी उदार, जो विषयोमे भी आसक्त नही है, जिसे परिग्रहका भी कोई ममत्व नही है ऐसा यह पुरुष प्रभुकी इतनी विशेष भक्ति करके भी इतनी सी बातके कारण यह परसमयरत बन गया तो जो लोग निरकुश स्वच्छन्द रागकी कालिमासे कलकित चित्त वाले है उन जीवोंके लिए तो क्या कहा जाय ? अथवा इस प्रकरणमे सभले हुएको समझाया जा रहा है इसीलिए उस सूक्ष्म दोषकी भी बात निकाली जा रही है ।

शुभानुराग—भगवानका यह उपदेश है कि हे भव्य जीवो ! तुम सब अपने स्वरूपको निहारो और भले ही हमारा सहारा लेकर अर्थात् हमको स्मरण करके, भक्ति करके कुछ अपनी तैयारी बना लो, ठीक है लेकिन हमारा भी ध्यान छोडकर, हमारा भी आस्रव तज कर अपने अन्त प्रकाशमान् उस शुद्ध परमब्रह्ममे ही तुम लीन हो, इसमे ही तुम्हारा गुजारा है, कितना स्पष्ट उदेपश है । रागी भगवान तो यह कोशिश करता है कि तुम एक मुझको ही शरण मानो, अन्यत्र किसीकी शरणमे मत जावो तो तुम्हारा उद्धार होगा । लेकिन वीतराग-सर्वज्ञदेवके उपदेशमे ऐसे बहकावाकी और दबावकी कोई बात नही है । कोई पुरुष निर्विकार शुद्ध आत्माकी भावनारूप परम उपेक्षा सयममे ठहरनेकी इच्छा तो कर रहा है, लेकिन उस परम उपेक्षाभावमे, उस समतापरिणाममे ठहरनेके लिए असमर्थ हो रहा है । तब ऐसी

स्थितिमे काम, क्रोध आदिक राक्षस इस पर आक्रमण कर दें ऐसी गुञ्जाइश है लेकिन ये ज्ञानी जीव क्या करते है कि उन काम क्रोधादिक अशुद्ध परिणामोसे बचनेके लिए और समारकी स्थितिका भी छेदन बना रहे इसके लिए पचपरमेष्ठीमे भक्ति करते है, उनके गुणोका स्तवन करते है। जब यह शुभोपयोग किया जा रहा है तब उस समय तो वे सूक्ष्मकषायोसे परिणत है ना, अतः वहाँ भी शुभानुरागका बन्ध है।

कषायपंक्ति—इन्द्रियके विपयोमे लगे वह तो तीव्र कषाय है, लेकिन भगवद्भक्ति, यह भी अकपाय अवस्थामे नही होती। सूक्ष्म कपाय है, शुभ राग है उसमे यह अवस्था हो रही है, ऐसा सूक्ष्म परसमयमे परिणत होता हुआ यह सराग सम्यग्दृष्टि जीव है, वही सम्यग्दृष्टि जीव जो शुद्ध आत्माकी भावनामे तब भी समर्थ तो था, पर कपायोके वेगमे कर नही रहा था, अब वह उस सूक्ष्म भी कषायपरिणतिको त्यागकर निवृत्त होता है, सूक्ष्म रागसे भी निवृत्त होकर वह स्वसमय बनता है, लेकिन शुद्ध आत्माकी भावनाको त्यागकर शुभोपयोगसे ही मोक्ष होता है, ऐसा वह बन जाय, हठ कर जाय तो वह स्थूल परसमयसे परिणत हो जाता है। तब अज्ञानसे यह जीव नष्ट हो जाता है, बरबाद हो जाता है।

रक्षक ज्ञान—इस जीवको बचाने वाला, रक्षा करने वाला एक ज्ञान है और ज्ञानोमे ज्ञान वही है जो ज्ञान अपने ज्ञानके स्वरूपको जानता रहे और यह प्रतीतिमे लेता रहे कि मैं तो यह ज्ञानमात्र हू। जिन असमानजातीय द्रव्यपर्यायोसे इन मायामयी मनुष्योको रिझानेके लिए हम अपने स्वरूपसे त्रिगकर नाना विभाव परिणमनोमे आते है—न तो ये लोग कोई साथ देंगे और न कोई यहाँ की परिणति साथ देगी। ये सब ससारमे रुलानेके कारण है। कुछ क्षण तो हम इस परमपुरुषार्थको अपनाएँ कि सर्व परद्रव्योसे, परभावोसे परम उपेक्षा करके शाश्वत निज चैतन्यस्वभावमे अपनी दृष्टि करें, यही है कल्याणका साधन। इस गाथामे सूक्ष्म परसमयका स्वरूप बनाकर इस ज्ञानी जीवको उस सूक्ष्म कषायसे रागसे भी दूर होनेका उपदेश किया है।

अरहतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसपण्णो।
बधदि पुण्ण वहुसो ण हु सो कम्मक्खय कुणदि ॥१६६॥

शुभोपयोगसे पुण्यका बन्ध—शुद्ध पदार्थोंमे लगे हुए उपयोगके प्रयोगके समय जो परिणति होती है वह परिणति कथञ्चित् बधका कारण है। इस कारण यह शुभोपयोग मोक्षमार्ग रूप नही है अर्थात् शुभोपयोग पुण्यका बध करने वाला है, किन्तु समस्त कर्मोका क्षयरूप जो मोक्ष है उसको नही करता। वह शुभोपयोग शुद्ध और शुद्धके निर्देशक पदार्थोंके आश्रयसे उत्पन्न होता है।

अर्हद्भक्तिका शुभ उपयोग—शुभोपयोगोमे सर्वप्रथम स्थान है अर्हद्भक्तिका। अनन्त-

ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्दमे सम्पन्न परमात्मतत्त्वमे रुचि जगना सो अर्हद्भक्ति है। रुचि उसे कहते है जो ग्राह्यताके रूपसे प्रकट होती है। यह चीज ग्रहणकी वाचक है, मेरे लगावके लायक है, मेरे लिए हितरूप है। इसी प्रकारकी बुद्धिको जो उत्पन्न करे उसे कहते है रुचि। प्रभुकी यह अनन्त चतुष्टयरूप गुणभक्ति जीवको उपादेयरूपसे विदित है। इस अर्हद्भक्तिसे सम्पन्न होते हुए, उनके गुणोका स्मरण करके, उन गुणोंके चमत्कारको दृष्टिमे रखकर अतिशयसे आनन्दमग्न होता हुआ यह जीव बहुत प्रकारसे अर्थात् अतिशयरूपसे पुण्य का बध करता है।

सिद्धभक्तिका शुभ उपयोग—सिद्ध भगवान भी परमात्मा है, अरहत भी परमात्मा है। केवल एक अघातिया कर्मका उदय और अघातिया कर्मोका उदय है और इस ही कारण शरीर आदिकसे वे सहित है, किन्तु सिद्ध भगवान अष्टकर्मोसे रहित है, इस कारण शरीरादिक से भी रहित है। उन सिद्ध भगवानके उस शुद्ध आत्यतिक कैवल्यस्वरूपका स्मरण करना और ग्राह्यतारूपसे अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, इस ही मे सत्य अनाकुलता है, यो उपादेयताकी पद्धतिमे उनमे रुचि उत्पन्न करना सो सिद्धभक्ति है।

चैत्यभक्तिका शुभ उपयोग—चैत्यभक्ति चैत्य अर्थात् चित्स्वरूपका प्रतीक, जो दृष्टिगोचर प्रतिबिम्ब है उसे चैत्य कहते है। चैत्य चित्स्वरूपमे पाये जाने वाले भावका भी नाम है। इसलिए परमार्थमे चैत्य तो हुआ आत्मस्वरूप और इसके पश्चात् और उपचारमे बढे तो चैत्य हुए अरहत सयोगकेवली। वह चैत्य जिस शरीरमे रह रहा है उस शरीरका नाम भी चैत्य है। अब और आगे चलिए तो सयोगकेवलीका प्रतिबिम्ब, जिसमे स्थापना की है, ऐसी जो मदिरमे विराजमान प्रतिमा है उसका भी नाम चैत्य है, और चैत्यालय भी जो चैत्यका घर है उसे चैत्यालय कहते है। तो परमार्थसे चैत्यालय तो शुद्ध जीवास्तिकाय है। जिसे लोग कहते है मन्दिर, चैत्य अर्थात् चैतन्यस्वरूप। उसका जो आलय है, घर है वह वही जीवास्तिकाय है। कोई पूछे—कहाँ बस रहा है यह चैतन्यस्वरूप ? तो उत्तर मिलेगा कि जीव आत्मप्रदेशोमे बस रहा है। तो चैत्यालय शुद्ध जीवास्तिकायका नाम है, और उपचारमे चलें तो जो सयोगकेवलीका परमौदारिक जो दिव्य शरीर है, वह है चैत्यालय, क्योकि ऐसा चैतन्यस्वरूप उसमे बस रहा है। फिर और चलो तो चैत्य प्रतिबिम्बका जो घर है सो चैत्यालय है, वह है मदिर। चैत्यकी भक्ति करना, जीवस्वरूपकी भक्ति करना, सयोगकेवलीकी भक्ति करना और मदिर चैत्यालयकी भक्ति करना यह सब चैत्यभक्ति है। चैत्यभक्तिमे व्यक्त हुआ जो शुभोपयोग परिणमन है वह परिणमन पुण्यका बध करता है, किन्तु सकल कर्मक्षयको उत्पन्न नही करता है।

प्रवचनभक्तिका शुभ उपयोग—प्रवचनभक्ति प्रवचन नाम है आगमका। जो प्रामा-

णिक वचन हो, उन्हे प्रवचन कहते है। आप्त सर्वज्ञदेवके वचन प्रामाणिक वचन है। अतः उस आगमका नाम है प्रवचन। प्रवचनकी भक्ति करना, प्रवचनमे जो तत्त्व कहा गया हो, स्वरूप बताया है उस स्वरूपका आदर करना, वस्तुस्वरूपका अवगम करना और वस्तुस्वरूपका अवगम करानेमे साधनभूत इस प्रवचनका उपकार मानना सो प्रवचन भक्ति है। प्रवचनका हम आप लोगोपर बडा उपकार है। न होते ये जिनवचन तो हम न जाने किस दिशामे बहे होते ? मिथ्यात्वके प्रवाहमे बहकर कुगतियोमे जन्म लेते फिरते और आज भी कोई पूर्ण सन्तोषकी बात नही है। यदि न चेते तो यही काम आगे होगा, मिथ्यात्व वासनासे अनुरक्त होकर यो ही कुगतियोमे जन्म लेते फिरेगे। इस कारण बहुत बडी जिम्मेदारी है इस मनुष्यभवकी। ससारके समस्त संकटोसे छूटनेका उपाय इस भवमे बन सकता है। इस ओर दृष्टि न दें ममतामे, परिजनोमे, वैभवमे, तृष्णावोमे ही अपने आपको रमाये रहे तो यहाँ कोई जानने वाला तो है नही, अथवा शरण सहाई कोई है नही। मोहकी नीदका स्वप्न देखकर चल बसेंगे और फिर यदि कीडा मकोडा बनस्पति हो गए तो फिर कौन पूछने वाला है ? व्यवहार भी फिर वहाँ न चलेगा। इससे अपनी बडी जिम्मेदारी माननी चाहिए।

मनका निरोध करके अध्यात्मदर्शनकी प्रेरणा—भैया ! मनने जैसा हुक्म दिया, इन्द्रिय विषयोकी भक्ति की, प्रेरणा की तो उस ओर नही बहना चाहिये, जरा रुकना चाहिए, उसमे न बहे। इस मनको समझा दे। इन क्षणिक सुखोमे तेरा गुजारा न होगा। तेरा गुजारा तो जो तेरा शुद्ध स्वरूप है उस स्वरूपकी रुचि कर, उसमे मग्न रह, उसका ही आदर कर, उसमे ही बस, तो तेरा सत्य गुजारा चलेगा। ऐसा अपने मनको समझायें और इन विषयोमे, ममताओमे, परिग्रहोमे आसक्ति न उत्पन्न हो, ऐसा प्रयत्न करें। इस ही प्रयत्नसे हम आप सबका यह जैनशासनका पाना भी सफल होगा। प्रवचनभक्ति सातिशय पुण्यका बध करायेगी, पर मोक्ष उत्पन्न न करायेगी। लेकिन ये सब हमे इस प्रकारके पात्र बनाने वाले है कि जिससे मोक्षके साक्षात् साधनभूत इस निश्चयदृष्टि अथवा स्वानुभूतिका आलम्बन ले सकेंगे।

साधुभक्तिका शुभ उपयोग—मुनियोकी भक्ति—जैसे हम आपके पडौसमे कोई गृहस्थ धर्मात्मा है, उदार है, ज्ञानी है, नम्र है तो उसकी छाप हमपर बहुत अधिक पडती है, क्योकि वह सामने है, और इतिहासके पन्नोमे जिन बडे उदारचित्तोका, नायकोका, संतोका नाम लिखा हुआ है और पढते है उनका इतना प्रभाव शीघ्र नही पडता जितना कि एक दिखने वाले साधारण गृहस्थमे उदारता, परोपकारशीलता, ममताका न होना, सबके काम आना, व्रतमें, तपश्चरणमे, प्रभुभक्तिमे लगना। इन बातोको देखकर प्रभाव बनता है, ऐसे ही समझिये कि सिद्ध प्रभु तो ओझल है और होते भी यहाँ तो आँखो क्या दिख सकते थे ? अरहंत भगवान कभी यहाँ दीखा करते थे, किन्तु आज नही है और अब भी वह आगम गम्य हैं, युक्ति और

अनुभवसे भी गम्य है, किन्तु साक्षात् यत्र-तत्र क्वचित् मिल जाने वाले साधु संतोके दर्शनसे हम अपनेमे तात्कालिक प्रभाव पाते है। जब हम उन साधुवोके गुणोपर दृष्टि देते है, इनका ज्ञान, इनका झुकाव केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी ओर रहा है। जगतके बाह्य आडम्बरोसे कुछ प्रयोजन नही है, कैसी क्या बीत रही है, देहपर भी क्या गुजर रहा है, इस ओर भी ये विकल्प नही करते। एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अतस्तत्त्वकी ओर इनका ध्यान रहता है। जो अतस्तत्त्व निर्विकल्प विकलमप समतारससे परिपूर्ण है ऐसे अभग वैराग्यसम्पन्न ज्ञानपुञ्ज साधु के गुणोपर दृष्टि देते है, उस समय जो एक स्वरूपरुचि जगती है उसका नाम है साधुभक्ति। साधुभक्तिसे सातिशय पुण्यका बध होता है।

ज्ञानभक्तिका शुभ उपयोग—एक ज्ञानभक्ति है। भेदविज्ञानकी महिमा चित्तमे समाना—अहो धन्य हो, जयवत हो यह भेदविज्ञान, जिस भेदविज्ञानके प्रसादसे इस जीवको शिवपथ नजर आता है। हमे शान्ति किस प्रकार मिलेगी उसका साक्षात् अनुभव हो जाता है। भेदविज्ञानका परम उपकार है। ससारके कठिनसे कठिन सकटोमे लगे हुए विपन्न इस प्राणीको ससारसे उद्धार करने वाला यह भेदविज्ञान ही है। जो भी आत्मा सिद्ध हुए है, परमात्मा हुए है वे इस भेदविज्ञानसे ही हुए है। जो आज तक ससारमे बँध रहे हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे पडे है। अहो! जयवन्त हो भेदविज्ञान। सब जीवोंके उपयोगमे समावो हे भेदविज्ञान। इस जीवका वास्तविक शरण यह भेदविज्ञान है। अन्य पदार्थ जो स्वरूपसे ही अलग है, भिन्न हैं उनकी अपनायत, उनकी दृष्टि इस जीवके अहितरूप है। यो भेदविज्ञानके गुण चमत्कार विचार-विचारकर इस भेदविज्ञानका जयवाद करना, सो ज्ञानभक्ति है। फिर जो आगे चलकर जिससे हम अपनेको हटा रहे थे उसका भी विकल्प छोडकर एक निज शुद्ध अत स्वरूपमे अभेदरूपसे मग्न होना यही है अद्वैतज्ञान। इस ज्ञानके अनुभवके बाद विकल्प अवस्थामे आनेपर इस ही अभेदज्ञानका जयवाद करना, मरण करना, उसमे रुचि जगाना सो है ज्ञानभक्ति। यो परमपावन पदार्थ और अभेदकी भक्तिसे सम्पन्न हुआ जीव सातिशय पुण्यका बध करता है। इस सम्बधमे इस जीवके शुद्धोपयोगका लक्ष्य है, लेकिन कुछ राग जीवित है, इस कारण वह उपयोग शुभोपयोगपनेको नही छोड रहा है।

शुभोपयोगकी लक्षणाओसे शिक्षण—शुभोपयोग होनेके कारण यह जीव सातिशय पुण्यका बध करता है। इस कथनसे शिक्षा यह लेनी है कि जब ऐसे पावन पदार्थकी ओर उत्पन्न हुए रागकी कणिका भी एक बन्धनका कारण बन गयी तो हमारा अब यह निर्णय है कि समस्त परतत्त्वोमे अथवा सर्वत्र रागका लेश भी दूर करना चाहिए। क्योकि रागभाव किसी न किसी अशमे परसमयकी परिणति करानेका कारण होता है। रागभाव मोक्षका मार्ग नही है, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि जब यह जीव राग करनेकी योग्यतामे

है तो इस रागको यदि इस परमपावन पदार्थमे न जुटाया जाय, यह राग यदि किन्ही विषयोकी ओर लग जाय तब तो वहाँ बहुत अहित है। इस दृष्टिसे यह सब शुभोपयोग उपादेय है और इसमे हम आप परिणति भी कर रहे हैं, फिर भी हम आप सबका लक्ष्य चिन्तन भावना इस निर्लेप, शुद्धस्वरूपकी ओर होना चाहिए।

मनका विशुद्ध उपयोग—भैया ! यह मन खाली नही बैठ सकता। कुछ न कुछ इसे करनेको चाहिए। जब तक मनका बल चल रहा है, जब तक ज्ञान ज्ञानमे प्रतिबिम्बित नही हुआ है, अर्थात् निर्विकल्प समाधिभाव प्रकट नही हुआ है तब तक इस मनका तो निरन्तर काम चल रहा है ना। तो ऐसी स्थितिमे हम एक ही उपाय यह कर लें कि इस मनको इन शुभ शुद्ध पदार्थोंकी ओर लगा दें तो ये अशुभोपयोग विषय कषाय दुर्ध्यान—ये सब दूर हो जायेगे। इस जीवके वास्तविक बैरी विषय और कषाय है। किसी भी दूसरे जीवको अपना विरोधी मान लेना युक्त नही है। वह अपने विषयसाधनोके लगावसे आज विषय साधनोके लगाव रखने वाले मुझको यह टेढा जच रहा है लेकिन जिस बुनियादपर यह बैरी जच रहा है, किन्तु उसकी बुनियाद भी क्षोभ है और मेरी बुनियाद भी क्षोभ है। इसी कारण जो आज व्यवहारमे विरोधी बन रहा है वह थोड़े ही समय बाद व्यवहारमे हमारा परममित्र बन सकेगा और ऐसा होता भी रहता है बाहरमे। कोई भी जीव मेरा विरोधी नही है। मेरा विरोधो मेरे विषय कषायोका परिणाम है। इसे दूर करे, फिर जगतमे कोई भी जीव मेरा विरोधी न रहेगा।

विषयकषायोको दूर करनेका कर्तव्य—विषय और कषाय परिणामोको दूर करनेके लिए हम तब तक समर्थ नही हो सकते है सही मायनेमे जब तक विषयरहित और कषायरहित निज शुद्ध चैतन्यस्वरूपका परिचय न पा लें। एक उपयोगमे दो बातें एक साथ नही बनती है कि विषयोका उपभोग भी करते रहे और धर्मका पालन भी करते रहे। जैसे एक सूई आगे और पीछे दोनो तरफ एक साथ सी नही सकती, एक पुरुष पूर्व और पश्चिममे दोनो दिशावोमे एक साथ एक ही समयमे गमन नही कर सकता, इसी प्रकार समझिये कि एक उपयोगमे विषयोका उपभोग और धर्मका पालन—ये दोनो नही बन सकते है, इस कारण यह निर्णय करिये कि इन दोनोमे हेय क्या है, उपादेय क्या है, मेरा हितरूप क्या है, मेरा अहितरूप क्या है, ऐसा निर्णय बनाकर जो हितरूप हो उसमे उपयोग लगाइयेगा।

विषय कषायोंको दूर करनेका यत्न—निर्विषय, निष्कषाय शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही हमारा हितकारी है, वही तो मै हू, हितमय ही तो मै हू, ऐसी अपने अतस्तत्त्वकी ओर भक्ति जगे वह तो है शरण और शेष किसीसे भी प्रार्थना करे, आशा करें, मेरे विषयोंके साधन बने इसी लिए तो लोग दूसरोसे आशा रखते है, इन विचारोमे इस जीवको शान्ति और सन्तोप

कभी प्राप्त नही हो सकता है। अपने विचार शुद्ध बनाये, भावना शुद्ध रक्खें, विवेक हमारा सही रहे तो समझिये कि हम बडे स्वस्थ है, सावधान है, विवेकशील है और यह बात न आ सकी, मोह ममतामे ही रहे तो हमने कुछ भी विवेकका काम नही किया। अपना सत्यस्वरूप जानें और यह निर्णय करें कि परतत्त्वोकी ओर लगावका होना ही हमारे लिए विपदा है, इस कारण सर्वप्रयत्न करके शब्दरहित निर्लेप निज चैतन्यस्वरूपकी ओर ही झुकते रहे तो इसमे ही हमे शान्तिका मार्ग प्राप्त हो सकता है।

जस्स हिदयेणुमत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समय सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१६७॥

रागमे ज्ञानकी अवरोधकता—जिस पुरुषके हृदयमे, परद्रव्योके सम्बन्धमे अणुमात्र भी राग है वह आत्माको नही जानता है। चाहे वह समस्त आगमका भी ज्ञाता हो, समस्त सिद्धान्तरूपी समुद्रके पार भी पहुचा हुआ हो फिर भी जिसके हृदयमे रागकी रेणुकी कणिका भी अर्थात् रागकी धूलीकण रच भी जीवित हो रहा हो वह पुरुष रागद्वेषरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र स्वसमयको ही जानता है। तब स्वसमयकी सिद्धिके लिए क्या उपाय करना चाहिए ? उपाय यही होना चाहिए कि अरहत सिद्ध मुनि आदिकके विषयमे भी क्रम क्रमसे रागरेणुको दूर करना चाहिए।

रागनिवारणपद्धति—जैसे रुई धुनने वाला जो एक पीजना होता है तो उससे रुई धीरे धीरे धुन-धुनकर उसको पूरा धुन दिया जाता है। रुई धुनने वाले लोग जैसे ५ सेर रुई धुनना है तो ५ सेर रुई इकट्ठी ही रखकर उसमे पीजना नही लगाते, किन्तु थोडा-थोडा उस पीजनासे धुन धुनकर उसे धुन दिया जाता है। एक बार गुरु जी सुनाते थे कि हम एक रजाई लेकर गये धुनियाके पास, एक दूसरा आदमी भी गया। आमने सामने दो धुनिया रहते थे। हमने एक धुनियाको रजाई दिया और दूसरेने दूसरे धुनियाको दिया। दो दो सेर रुई भरानी थी। तो हमारा धुनिया आधी-आधी छटाक रुई लेकर धुने और दूसरेका धुनिया सीधा दोनो सेर रुई लेकर धुने। तो हमने कहा कि तुम तो देर कर रहे हो, थोडी-थोडी लेकर धुनते हो, देखो वह दूसरा धुनिया इकट्ठी सारी रुई रखकर धुन रहा है। तो वह धुनिया बोला कि तुम्हे इसका तजुर्बा नही है। तुम तो देखते रहो, उससे पहिले और उससे बढिया हमारी रुई धुन जायगी। आखिर ऐसा ही हुआ। तो जैसे रुई धुननेका तरीका थोडी थोडी क्रमसे धुननेका है, इसी प्रकार अरहतादिक भगवन्तोके प्रति जो रागरेणु उठ रही है उसके दूर करनेका तरीका धीरे-धीरे क्रमसे है।

अशुभ रागमे हटकर शुभ रागसे हटनेका उपदेश—कही शुभोपयोगकी बन्धहेतुताका प्रकरण सुनकर कोई ऐसा न कर बैठे कि इसमे तो यह लिखा है कि भगवानकी भक्ति बन्ध

का कारण है, इसे हटावो। प्रभुभक्ति और साधुसेवा आदिक ये सब बंधके कारण है और लिखा है कि इन्हे दूर करना चाहिए, पर यह भी तो मर्म समझना चाहिए कि इसके दूर करनेका तरीका कैसा होना चाहिए ? क्रम क्रमसे दूर करें। जैसे एक बहुत तेज प्रवाहको यों ही उसका बिना मार्ग बनाये या बिना क्रम बनायें रोके तो वह बांध तो फट जायगा। ऐसे ही इस प्रभुभक्तिके रागको अभीसे बिल्कुल दूर करें तो इसका अर्थ यही है कि अन्य रागोमे फिर लगे वह। इस तरह रुई धुननेके तरीकेकी तरह अरहत आदिकके विषयमे भी रागरेणु दूर करना चाहिए।

रागकी बंधहेतुता—यह राग निरुपराग परमात्मतत्त्वके विरुद्ध भाव है और निरुपराग परमतत्त्व विकारके विरुद्ध भाव है। राग स्वस्वरूपको नही जानने देता अथवा अनुभव नही करने देना, इस कारण विषयोका राग तो पहिले त्याग करना ही चाहिए। उसके पश्चात् जैसे जैसे गुणस्थानोमे ऊपर चढते जाते है उस क्रमसे रागरहित निज शुद्ध आत्मतत्त्वमे ठहरकर विशुद्ध विश्राम मिलता है तब अरहतादिकके विषयमे भी राग त्याज्य हो जाता है। यहाँ यह सब बातें इसलिए कही जा रही है कि हम आप सबके निर्णयमे यथार्थ बात तो रहना ही चाहिए। विषयानुराग और शुभानुराग। विषयानुरागका तो इनमे प्रथम ही त्याग होना चाहिए—पर शुभानुराग भी क्रम क्रमसे दूर करें और एक अपना शुद्ध परिणमन बनाएँ। इस गाथामे इस बातका समर्थन किया है कि जब स्वसमयकी उपलब्धि नही है तब वह राग भी बन्धका हेतु बन जाता है।

आगमका बोझ—इस गाथामे समस्त आगमका धारण करने वाला भी होकर राग-रेणुवश स्वसमयका जाननहार नही होता, यह बताया है। इस सम्बधमे एक आशका की जा सकती है कि जो समस्त आगमका ज्ञाता होगा वह तो श्रुतकेवली है और श्रुतकेवली नियमसे सम्यग्दृष्टि होता है, फिर इस गाथाका अर्थ कैसे ठीक बैठेगा ? समस्त आगमका धारण करने वाला होकर भी परद्रव्योमे अणुमात्र भी राग होनेपर स्वसमयका जाननहार नही कहा है, यह कैसे ठीक बैठेगा ? इसका समाधान सुनिये—प्रथम तो स्वसमयका जानन पूर्णरूपसे जान लिया जाय तो उसका अनुभव करना अर्थ कर दीजिए। तब आगमका भी कोई ज्ञाता हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, श्रुतकेवली हुआ, किन्तु उसका भी परिस्थितिवश किसी मुनिमे शास्त्रादिकमें कही उपयोगसे राग पहुच रहा हो तो उस कालमे वह स्वयका अनुभव नही कर रहा, प्रथम तो यह बात समझिये। दूसरी बात यह जानो कि यहाँ कहा है सर्व आगमका धारण करने वाला। तो धारण शब्द एक बोझको सिद्ध करता है। समस्त आगमका बोध लादने वाला भी यदि परद्रव्यमे अणुमात्र राग करता है तो वह स्वसमयको नही जानता है। इस आगममें बोझके रूपमे धारण करनेकी बात कहनेसे स्वय ही यह सिद्ध हो गया कि वह आगम इतना

ले लीजिये कि जितना सम्यक्त्व हुए बिना भी अधिकसे अधिक ज्ञात किया जा सकता है। जैसे ११ अग और ६ पूर्वकी प्रसिद्धि तो है ही। इस आगमका जाननहार होकर भी वह सम्यग्दृष्टि न भी हो, मिथ्यादृष्टिके भी इतना ज्ञान हो सकता है और मिथ्यादृष्टिमे ही क्या, अभव्य जीवके भी उतना ज्ञान हो सकता है।

निरुपराग आत्मतत्त्वकी भावना—इस गाथाका भाव यह है कि परसमयके विषयमे रचमात्र भी राग हो तो वह भी बन्धनरूप है। वह राग भी त्याज्य है। इस तरह निरुपराग शुद्ध आत्मस्वरूपकी ओर प्रवृत्ति करनेका उत्साह देनेके लिए शिक्षा दी गई है कि प्रशस्त राग विकल्प त्यागकर निरुपराग निज शुद्ध समयसारका अनुभव करना चाहिए।

धरिहु जस्स ण सक्क चित्तुब्भाम विणा दु अप्पाण।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१६८॥

क्षोभनिरोधके विना संवरका अभाव—जिस पुरुषके चित्तका सकल्प, चित्तका उद्भ्रम भ्रामकत्व आत्माके विना अर्थात् निज शुद्ध आत्माकी भावनाके विना रोका नही जा सकता है उसके शुभ और अशुभ किए हुए कर्मोंका सम्वर कैसे होगा ? थोडा भी राग हो तो वह दोष परम्पराका कारण हो जाता है, ऐसी बात कही है। जैसे किसीसे थोड़ा भी मन न मिलता हो तो आज तो जरासा ही मन न मिलनेकी बात है, किन्तु वह ऐसा संकल्प-विकल्प और भ्रम उत्पन्न करता रहेगा कि थोडे ही कालमे वह विरोधका विराट रूप रख लेगा, ऐसे ही यह राग जिसे कि लोकव्यवहारमे राजनीतिमे कहते है कि दुश्मनका कोई लेश भी रह जाय तो वह आगामी कालमे विघातका कारण होगा, ऐसे ही यह राग इस आत्माका महा शत्रु है। यह राग थोडा भी रह जाय तो यह कुछ काल बाद विराट रूप रख लेता है।

सूक्ष्म रागमे भी संसरणहेतुता—नवग्रैवेयकोमे सभी अहमिन्द्र होते हैं अर्थात् वहाँ इन्द्रादिक १० भाँतिकी कल्पनाएँ नही है। उनके शुक्ललेश्या मानी है। अब समझ लीजिए कि शुक्ल लेश्याके लक्षण कितने ऊँचे है ? पक्षपात न करें, इष्ट राग न करें, अनिष्टमे द्वेष न करें, समतापरिणाम रखे, इतना उत्कृष्ट परिणाम हो गया, परन्तु मदराग अभी छिपा हुआ है। कोई कोई लोग तो उस नवग्रैवेयकको ही मोक्ष मानते हैं। जैसी वहाँकी स्थिति होती है उस ही स्थितिको बैकुण्ठका रूप देते है, चिरकाल तक वे मुक्त रहते है, परम आत्मा रहते हैं, सब झझटोसे छुट्टी रहती है और कल्पकाल बाद या कोई समय जो कि असख्यातो वर्षका है उतने वर्ष व्यतीत होनेके बाद उनको वहाँसे च्युत होना पडता है और ससारमे जन्म लेना पडता है। यही बात तो उनके सम्बन्धमे है। वे ३१ सागरपर्यन्त जिसमे कि असख्याते वर्ष समाये हुए है वे रहते है। उनके राग कम है, बडे सुखसे है, अहमिन्द्र कहलाते है, और अन्तमे अपनी आयु पूर्ण करनेपर। इस भू लोकमे जन्म लेना पडता है। तो देखो वह अल्प राग रहा

तो राग रहा ना ? वह एक बहुत बडे रागका कारण बन गया ।

प्रभुभक्तिमे भी रागकी अनुवृत्ति—अरहत आदिकके सम्बधमे भी जो भक्ति है वह भक्ति भी रागकी अनुवृत्ति किए बिना नही होती अर्थात् शुद्ध वीतरागताके परिणाममे अर्हद्‌-भक्ति नही होती, और इसी कारण भक्तिका प्रधान कर्तव्य श्रावकोको बताया गया है। यद्यपि साधु भी प्रभुभक्ति करते है, पर साधुजनोंके लिए मुख्यता निर्विकल्प समाधिके यत्नका उप-देश है और उसमे जब वे नही ठहर पाते है तो वे अर्हद्भक्ति आदि भी करते है। अर्हद्भक्ति की मुख्यता साधुजनोको न बताकर श्रावकोको बतायी है और ऐसे ही दानकी मुख्यता साधुवो को न बताकर गृहस्थोको बतायी है।

अर्हद्भक्ति आदिमें ज्ञानीका आशय—अध्यात्मग्रन्थोके प्रणेता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भी रयणसार ग्रन्थमे श्रावकोका मुख्य धर्म दान और पूजा कहा है और साधुवोका मुख्य धर्म सामायिक चारित्र निर्विकल्पसमाधि विशुद्ध समताका परिणाम कहा है। इसके मायने यह नही है कि गृहस्थ केवल भक्ति, पूजा, दान ही करते रहे और वह निरुपराग आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे दूर रहे, यह अर्थ नही है, पर निरुपराग शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि इन श्रावकोंके गौणरूप से रहती है और दान, पूजाकी बात श्रावकोमे मुख्यरूपसे रहती है, और साधु जनोमे निरुप-राग शुद्ध आत्मतत्त्वकी साधनाका कार्य मुख्यरूपसे रहता है और उपदेश देना यही उनका दान हो जाता है। तो ये ज्ञानदान आदिकके कार्य और अर्हद्भक्ति आदिकके कार्य उनके गौणरूपसे चलते है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रावक है मुख्यतासे सराग सम्यग्दृष्टि। तो अब श्रावकको ऐसी स्थितिमे जब कि राग करनेके अनेक विपय सामने पडे है—दूकान, घर, व्यवहार जब इतने रागके साधन पडे है तो ऐसी स्थितिमे यह श्रावक अपने रागका अधिकाधिक प्रयोग अर्ह-द्भक्ति आदिक रूपमे करे।

रागकी अनुवृत्तिमे ज्ञानप्रसारका अभाव—अर्हद्भक्ति रागकी अनुवृत्ति किए बिना नही होती और रागकी अनुवृत्ति होनेपर बुद्धिका विस्तार नही बनता या कुबुद्धिका विस्तार बनता है, ज्ञानका विस्तार नही बनता। रागका स्वभाव ही ऐसा है कि राग रहे किसी ओर तो ज्ञान का प्रसार नही बनता। जिस विषयमे राग रहता है तो इसका तो अदाज किया ही होगा, ज्ञानका विशुद्ध प्रसार नही हो पाता। यहाँ है शुद्ध परमात्मप्रभुमे राग। इस कारण विषयोंके रागकी तरह बुद्धिप्रसारको तो यह न रोकेगा, किन्तु राग है और राग होनेके कारण उपयोग किसी एक विषयमें रुका हुआ है, ऐसी स्थितिमे वहा बुद्धिका प्रसार नही हो सकता अर्थात् केवलज्ञानादिक जैसे मनःपर्ययज्ञान आदिक जैसे विशुद्ध ज्ञान प्रकट नही हो सकते। एक बात। दूसरी बात यह है कि बुद्धिका अर्थ यहाँ विशुद्ध ज्ञान न समझें, किन्तु रागमिश्रित जो कल्प-नाएं होती है उसका नाम है बुद्धि। और जो ज्ञानका विशुद्ध फैलाव है उसका नाम है ज्ञान।

तो जिस विषयमे राग किया जा रहा है उस विषयमें बुद्धि फैल गयी, अर्थात् बुद्धि लग गयी, बुद्धि न लगे तो रागभाव नही हो सकता। तो इस प्रकारकी बुद्धि लगनेपर शुभ और अशुभ कर्मका निरोध न होगा। इस कारण एक ही अपने चित्तमें कर्तव्यका निर्णय करें कि राग कलुषता विलासका कारण जो अध्यवसान परिणाम है वह अनर्थ परम्परावोका मूल कारण है।

प्रतिपद विवेक—यहा निर्णयकी बात चल रही है। निर्णयके समक्ष लोकव्यवहारकी भी चिन्ता नही की जाती। अर्हद्भक्ति, दान, पूजा आदिक कर्तव्योको ही यहाँ कहा जा रहा है कि ये हटाना चाहिए। यह एक वस्तुस्वरूपका निर्णय है। कर्तव्यकी बात तो जो जिस पदवी मे है उस पदवीमे रहकर उस कर्तव्यको निभाता है। जैसे गृहस्थ पदवीमे रहने वाले अविरतजनोसे कोई साधु यह उपदेश करे कि तुम लोगोका काम तो यह है कि पूर्ण रूपसे अहिंसा धारण करो, कोई मारे-पीटे तो पिट लो, कोई धन छीने तो छीन लेने दो, तुम ऐसा काम न करो जिससे दूसरेको कष्ट हो, ऐसा कोई साधु गृहस्थोको उपदेश दे तो क्या गृहस्थ इस बातको निभा सकेंगे ? अरे नही निभा सकते। तब उनके कर्तव्यका विधान स्पष्ट बताया है।

अहिंसकताका विकास—आर्ष ग्रन्थोमे चार प्रकारकी हिंसायें बताकर यह दिखाया है कि गृहस्थ सकल्पी हिंसाका तो पूर्ण त्यागी होता ही है। यदि वह विवेकी है, ज्ञानी है तो वह अपने इरादेसे किसी भी जीवका अकल्याण नही चाहता। लेकिन आरम्भके प्रसगोमे, उद्यमोके प्रसगोमे अथवा किसी शत्रु द्वारा आक्रमण हुआ हो तो वहाँपर जो हिंसायें हो जाती हैं उन हिंसाओका त्यागी यह अविरत गृहस्थ नही है। फिर सयमासयमके बीचमे जैसे-जैसे उसकी प्रतिमा बढती रहती है, प्रतिज्ञा बढती रहती है, आशय विरक्तिकी ओर जाता है तैसे-तैसे उन तीन प्रकारकी हिंसावोमे भी उसका त्याग बढता जाता है और सयत हो जानेपर तो सर्वप्रकारकी हिंसावोका सर्वथा त्याग हो जाता है। अब रह गया यह कि वे साधु श्वास तो लेते है और श्वास लेनेपर भी जीव मरते है तो जो इस तन, मन, वचनके अनुकूल किया ही न जा सकता हो ऐसी स्थिति अशक्यानुष्ठानमे कहलाती है और आशय रंच भी किसीके घात का न होनेमे वहाँ वह अहिंसक ही कहलाता है।

हिंसाका दोष—तो जैसे पदवियोके अनुसार कर्तव्यका विभिन्न-विभिन्न वर्णन है, पर विभिन्न वर्णन होते हुए भी सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है यदि, तो अपने निर्णयमे तो वह साधुकी तरह ही वस्तुस्वरूप लिए हुए है कि भले ही गृहस्थ उन तीन हिंसावोका त्यागी नही है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि गृहस्थको उन तीन हिंसावोका दोष नही लगता। जो भाव, जो कर्म जिस प्रकारके निमित्तनैमित्तिक भावको लिए हुए होते हैं वहाँ फेर नही पड सकता। क्योंकि यह ज्ञान नही है, कर्म जड हैं। वे यह न सोच सकेंगे कि यह ज्ञानी गृहस्थ सम्यग्दृष्टि घरमे रह रहा है अथवा अन्य कोई गृहस्थ सम्यग्दृष्टि ही न सही, घरमे रह रहा है और इसका

कर्तव्य हिंसावोंके त्यागका बताया है और यह तीन हिंसावोंको कर रहा है तो इसको हम न बाँधे। आगममे लिखा है ना। तो वहाँ यह बात नही है। वहाँ तो निमित्तनैमित्तिक भावों की जो विधि है उस विधिके अनुसार बन्धन होगा ही।

विरति व अविरतिकी स्थितिमे हुई हिंसाका दोष——हाँ यह बात बतायी है आगममे कि गृहस्थ तीन हिंसावोंका त्यागी नही है अर्थात् चार प्रकारकी हिंसावोंका त्यागी साधु सत्पुरुष यदि उनमे किसी प्रकारकी हिंसा करे तो उसके महादोप है, त्याग किए हुएको उसने पकडा और यह प्रवृत्ति उसमे कपायोकी तीव्रता जगे बिना नही हुई। जैसे गृहस्थ एक साधारणरूपसे रसोई बनाता है, खा लेता है और कोई मुनि किसी समय बडी ही शुद्ध विधिसे कोई थोडी-सी रसोई बना ले और खा ले तो अदाज करो कि साधुको कितनी तेज कषाय करनी पडी होगी अन्तरमे तब वह ऐसी प्रवृत्ति कर सका। जो पुरुप जिस नियमपर रहता है उस नियमसे च्युत होनेके लिए कषाय तीव्र करना होता है, तब वह महादोप है। इस प्रकार का दोष तीन प्रकारकी हिंसामे रहने वाले गृहस्थको नही लगा।

यथार्थ श्रद्धा व स्वरूपाचरणयत्न——भैया! तो जैसे कर्तव्यपथमे पदवियोके अनुसार अलग-अलग विधान बताया है तिसपर भी स्वरूप यथार्थ सभीको समझना पडता है। इसी तरह गृहस्थ हो अथवा प्रमत्तविरत साधु हो, कर्तव्यके पथमे अपनी परिस्थितिके अनुसार अर्हद्भक्ति आदिक रागमे लग रहा है वह फिर भी स्वय निर्णयके मार्गसे उसका अतःकरण निरुपराग शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करनेके लिए ही बना रहता है। इस प्रकार इस गाथामें यह शिक्षा दी है कि रागका लेश भी हो तो वह दोष परम्पराको वढाने वाला होता है। अतः कोशिश यही करें, श्रद्धामे यही बात लायें कि मुझमे रागका लवलेश भी उत्पन्न न हो और उस रागद्वेष रहित शुद्ध निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वमे रमकर सर्वसकटोसे मुक्त होनेका एक सच्चा मार्ग प्राप्त करें।

तम्हा णिव्बुदिकामो णिस्सगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्ति णिव्बाण तेण पप्पोदि ॥१६९॥

निर्वाणयात्रामे निःसङ्गता—चूकि रागादिककी अनुवृत्ति होने पर चित्तमे उद्भ्रम उत्पन्न होता है, डावाडोलपना चित्तका रहता है अथवा बुद्धि भ्रान्त रहा करती है और उस बुद्धिकी भ्रान्ति होनेपर कर्मबन्ध होता है। इस कारण मोक्ष चाहने वाले पुरुषोको निःशंक होकर, निर्मम रहकर सिद्ध प्रभुकी भक्ति करना चाहिए, इससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। प्रत्येक पदार्थ निःसग है तभी पदार्थोका अस्तित्व रहता है। अपने स्वरूपसे ही रहना, परके स्वरूपसे न रहना, परके द्रव्यगुण पर्यायोसे विविक्त रहना-यही निःसगता है। यह आत्मा भी अपने ही सत्त्वसे है। समस्त परपदार्थ उन द्रव्य गुण पर्यायोसे विविक्त है, इस कारण आत्मा

भी निःसंग है। ऐसे निःसग आत्मतत्त्वकी जब यह जीव सुध नही रखता तो कल्पनामे यह परिग्रही बन जाता है, बाह्य परिग्रहोमे परिग्रही कोई होना ही नही है। किसी-किसी जीवके बाह्य परिग्रह लगे है तो भी स्वरूपमे तो निष्परिग्रही यह आत्मा है ही। केवल अन्तरग परिग्रह जो आत्माका जोड रखवा है, कल्पनाएँ, विकल्प, मूर्छा इन अन्तरङ्ग परिग्रहोके दूर होनेमे यह आत्मा निष्परिग्रही कहलाता है। निःसग आत्मतत्त्वसे विपरीत बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोसे रहित होनेके कारण जीव निःसग हो जाता है। जिसे निर्वृत्तिकी इच्छा है उसे निःसग होना चाहिए।

निर्वाणयात्रामे निर्ममता—जो मुक्ति चाहता है, सर्व झझटोसे बन्धनसे छुटकारा चाहता है उसका कर्तव्य है कि पहिले यह स्वीकार करे कि मैं इन सब बन्धनोसे रहित स्वरूप वाला हू और फिर यथाशक्ति ऐसी अपनी वृत्ति रखें जिसमे बाह्यपरिग्रहोका सम्बन्ध न रहे। मोक्ष चाहने वाले पुरुषोको निर्मम होना चाहिए। लोकव्यवहारमे निर्मम होनेको गाली समझते है। यह पुरुष बडा निर्मम है, लेकिन ममता तो जीवका विकार भाव है। लोग तो चाहते है कि हमपर दूसरोकी ममता जगे, हमारी लोग सेवा करें, पालन पोषण करे, इस कारणसे ममताका आदर रखते है, पर मोक्षके प्रसगमे इन ममतावोसे तो जीवकी हानि है, अतएव ममताका लवलेश भी न रहे ऐसी जो निर्ममता है, ममकाररहित परिणाम है ऐसे परिणामोमे रहकर मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय बनाना है।

चैतन्यशक्तिकी उपासनासे सिद्धि—यह मैं आत्मा चैतन्यप्रकाशरूप हू, जिसमे रागादिक उपाधियोका सम्बन्ध नही है, ऐसे आत्मतत्त्वसे विरुद्ध है यह मोहविकार। उस मोहके उदयसे ममकार आदिक विकल्पजाल उत्पन्न होते हैं, उन विकल्पजालोसे जो रहित बन जाय उसका नाम है निर्मम अथवा निर्मोह कहो। तो मुक्ति चाहने वाला पुरुष निःसग होकर, निर्मोह होकर सिद्धमे भक्ति करे। जो आत्मा अपने आप सहज सिद्ध है, शाश्वत है ऐसा जो चैतन्यस्वभाव उस ही भाँति कल्पनाएँ करके देखी गयी जो शक्तियाँ है उन शक्तियोकी भक्ति करे।

लोकमे शक्तिकी उपासना—कुछ सम्प्रदाय शक्तिकी भक्ति करते है। जैसे दुर्गादेवीके भक्त जितने लोग होते है उनमे कुछ तो मुद्राकी भक्ति करते है। जो दुर्गाकी मुद्रा बनायी जिस प्रकार भी उस रूपको देखकर उपासना करते है और कुछ लोग मुद्राकी उपासना नही करते, किन्तु एक जो शक्ति है सहारशक्ति अथवा पालनशक्ति, जो भी उन्होंने कल्पनामे समझा है उस शक्तिकी उपासना करते है, ठीक है, शक्तिकी उपासना करने वाले दुर्गाका सही स्वरूप समझें और उसकी शक्तिका सही स्वरूप समझें, फिर उपासना करें तो उन्हे भी रास्ता मिल सकता है।

दुर्लभ विभूति और उसकी शक्ति—दुर्गा नाम किसका है। दु खेन गम्यते या सा दुर्गा, जो बडी मुश्किलसे प्राप्त की जा सके उसका नाम दुर्गा है। जरा निगाह डालकर तो देखो यह आत्मा प्राप्त क्या किया करता है? धन प्राप्त कर नही सकता, अन्य जीवोको पा नही सकता, क्योकि यह मैं आत्मा रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित अमूर्त तत्त्व हू, इसमे तो इसकी परिणतियाँ जगती है और उन्ही परिणतियोंके होनेका नाम प्राप्त करना है। मै क्या प्राप्त कर सकता हू? अपने आपमे अपने ही परिणमनमे प्राप्त कर सकता हू। तो अब सर्वपरिणमनोमे से ऐसे परिणमनको खोजो जो परिणमन बडी कठिनाईसे मिलता है। विषयकषायो के परिणमन अनादिकालसे जीवके साथ चले आ रहे है, ये बडे आसान लग रहे हैं। प्रत्येक जीव ससारके विषय और कषायमे मग्न है। वे परिणतियाँ तो दुर्गा नही है, केवल एक निर्विकार शुद्ध अतस्तत्त्वकी अनुभूति यह बडी कठिनाईसे मिलती है। देखो ना जहाँ आँख उठाकर देखो। जितने लोग दिखते है, जितने पशु पक्षी दिखते है सबकी परिणतियाँ विषयोमे कषायोमे बडी आसानीसे लग रही है। केवल एक अपने आपकी ऐसी अनुभूति जहाँ कोई विकल्प नही है, केवल चैतन्यप्रकाशका अनुभव है ऐसा शुद्ध अतस्तत्त्वका अनुभव ही वास्तवमे दुर्गा है जो बडी मुश्किलसे प्राप्त होता है, उस अनुभूतिकी शक्तिरूपमे उपासना करिये।

उपासनाओका मूल प्रयोजन—वह अनुभूति किस आधारसे हुई है, किसका आलम्बन लेकर करना है, ऐसी शाश्वत जो चिर शक्ति है उस शक्तिको एक भेदरूपमे विस्तृत करे तो शाश्वत सहज ज्ञान, सहजदर्शन, सहजगुण आदिक अनेक सहज गुण विदित होते है। उन गुणोमे भक्ति करें तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कोई समय था जब लोगोमे धर्मका वातावरण विशेष था और उस धार्मिक वातावरणमे धर्मका प्रतिपादन कभी अलकारिक रूपमे भी चला करता था। तो उस समयके जो अलकारिक शब्द है, जिनकी उपासनाके लिए धर्ममार्ग मे बताया था वे सब आज भिन्न रूपसे देवी देवतावोके रूप रखने लगे है किन्तु समस्त उपासनाओका प्रयोजन मूलमे इस सहज सिद्ध प्रभुकी उपासनाका ही है। आज जितने भी मजहब, जितने भी धर्म भिन्न-भिन्न रूपोको लेकर प्रकट हुए है उन सबका प्रारम्भमे जब कि एक ही धार्मिक वातावरण था, सबका उद्देश्य कोई एक था, बादमे विचारधारायें और अर्थप्रतिपादनकी प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होनेसे मजहबोके रूप हो गए।

पारमार्थिकी भक्ति—सभी लोग आखिर धर्ममार्गमे तब सन्तोष पाते है जब अपने आपकी ओर झुकते है और तभी एक परमविश्राम मिलता है। यह सब क्या है? निसंग होनेका और निर्मम होनेका रूप। जिन्हे मुक्ति चाहिए वे निःसग हो और निर्मम बनें, शुद्धगुणोकी तरह जो अनन्त ज्ञानादिक आत्माके गुण है उनमें भक्ति करें। वास्तविक भक्ति क्या है? पारमार्थिक जो निज अतस्तत्त्व है उसका स्वसम्वेदन ही वास्तविक सिद्धभक्ति है। इस

सिद्धभक्तिके परिणाममे जो शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है यही निर्वाण है। इस निर्वाणकी प्राप्तिके लिए सर्वप्रयत्नोंसे रागादिककी अनुवृत्ति समाप्त करनी होगी। रागादिक भाव प्रकट हुए है उसके अनुकूल आशय बनाना इसका नाम है रागादिककी अनुवृत्ति। रागादिक भाव प्रकट होते है, उस रागादिक भावमे उपयोगका जोड़ना इसका नाम है रागादिकी अनुवृत्ति। इसके अतिरिक्त जो अन्य अबुद्धिपूर्वक राग उत्पन्न होते है जिन्हे यह शुद्धोपयोगसे ग्रहण भी नही करता है वे सब तो अपने आप ही दूर हो जाते है।

रागविनाशके ठौर—रागादिक दूर किये जानेके ये तीन मुख्य ठौर हैं। रागादिकके अनुकूल आशय बनाना यह तो है मिथ्यात्वकी पदवी। अभिप्राय बना बनाकर रागादिक उत्पन्न करना और रागादिक होते है उनमे उपयोगका लगाना यह दूसरी पदवीका राग हो सकता है। ऐसी स्थिति मिथ्यात्वमे भी हो सकती है और सम्यक्त्वमे भी हो सकती है अर्थात् आत्मामे रागादिक होते है तो उन रागादिकोकी प्रेरणासे उपयोग स्वकी ओर न रहकर रागादिकोके साधनोकी ओर चला जाय, यह बात सम्यग्दर्शनके होनेपर भी किसी हद तक सम्भव हो सकती है और मिथ्यादृष्टियोके तो यह होती ही रहती है, किन्तु तीसरे दर्जेकी जो रागादिक स्थितिया है, वे अविदित रहती हैं। राग हो गया, जिस आत्मामे राग हुआ, न उसको उपयोगने ग्रहण किया, न उसने समझ ही पाया कि हुआ राग। यो अबुद्धिपूर्वक राग होकर वह अपने आप समाप्त हो जाता है।

उपदेश्यता—अबुद्धिपूर्वक रागको दूर करनेके लिए तो उपदेश क्या है, किन्तु जो बुद्धिपूर्वक राग करता है, मिथ्यात्व अवस्थामे विपरीत अभिप्राय रखकर राग करता है उसे त्यागनेका उपदेश हो सकता है, और सम्यक्त्व होनेपर भी आसक्तिके कारण रागादिकमे उपयोग लगता है। जैसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावक जब दूकान मकान परिजन सर्वप्रकारके प्रसगोंमे है तो क्या उसका उपयोग कभी इनमे जाता नही, हाँ प्रतीति अवश्य विशुद्ध रहा करती है। तो उस समयमे भी जो रागादिक होते है उनके भी त्यागका उपदेश किया जाता है और प्रमत्त अवस्थामे साधु जनोके भी जो रागादिक हुए वे धर्मानुराग हैं, उनके भी परिहारका उपदेश किया जाता है। जिसे मुक्तिकी अभिलाषा है उसे रागादिककी अनुवृत्तिका तो समाप्तिकरण करना ही चाहिए।

स्वसमयरतता—जब ये रागादिक दूर हुए तो आत्मामे पारमार्थिक सिद्धभक्ति उत्पन्न होती है। जो अपने आप सिद्ध है ऐसे निर्मल शुद्ध आत्मद्रव्यमे ही विश्राम पा लेना, विकल्प तरग न होना, ऐसी अपनी जो अभेद पारमार्थिक सिद्ध भक्ति है उसको धारण करते हुए यह जीव स्वसमय परिणति वाला होता है। यह हुआ स्वसमयरत। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे स्थित है उसे स्वसमय कहा गया है। जब ऐसे स्वसमयका प्रकाश होता है तो समस्त कर्म-

बन्ध दूर होते है और अन्यत्वकी सिद्धि, सदाके लिए कर्मजालोसे मुक्ति इसके प्रकट होती है।

सपयत्थ तित्थयर अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतर णिव्वाण सजमतवसपओत्तस्स ॥१७०॥

सूक्ष्म परसमयता—इस प्रकरणमे पूर्वकी कुछ गाथाओमे सूक्ष्म परसमयका व्याख्यान किया है। जैसा कुछ परसमयपना साधुजनोमे भी पकडमे न आये, ऐसा भी सूक्ष्म होता है। यह तो मोटे परसमयकी बात है कि कोई साधु अपनी मुद्राको निरखकर ऐसा विश्वास रखे कि मै साधु हू, मुझे ऐसे-ऐसे व्रत लेना है, मुझे यो चलना चाहिए, यो बैठना चाहिए, और शिष्यजनोको हमसे इस तरहका व्यवहार करना चाहिए, मैं साधु हू, मैं मुनि हू, आचार्य हू। मुझे सही व्यवस्था रखनी चाहिए। इस प्रकारकी अगर अपने स्वरूपमे श्रद्धान है, अन्तरगमें विकल्प बने हुए है, तो वह तो मोटा परसमयपना है। सूक्ष्म परसमयकी बात तो वहाँ है जहाँ निर्दोष परमात्माकी उपासना की जा रही हैं, उनके गुणोमे भक्ति की जा रही है, और वे उस भक्तिमे ही रत और सतुष्ट हो रहे है, वहाँ है सूक्ष्म परसमयता। जो बात कहने सुननेमे धर्म की लग रही है और व्यावहारिकतामे धर्मकी बात भी है—प्रभुभक्ति करना, साधुभक्ति करना, गुरुसेवा करना धर्मकी बात भी है, फिर भी इस ओर लगा हुआ उपयोग और इस तरहका उपयोग भी लगा है और अपने आपके शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति भी है तो देखो कि धर्मकी बात लग रही है, किन्तु वहाँ हो रहा है परसमयपना। इसमे भी सूक्ष्म परसमयपना यह है कि सम्यक्त्व होनेपर भी शुद्ध प्रतीति होनेपर भी परकी ओर जो जितने काल उपयोग लग रहा है उतने काल यह परसमय है।

परसमयताकी हेयता—यो समझ लीजिए कि परसमयपना मिथ्यादृष्टिके और कभी-कभी सम्यग्दृष्टिके भी जगता है, पर सम्यग्दृष्टिके परसमयपनेका अर्थ केवल इतना है कि यह सम्यग्दृष्टि उस समय अपने आपके आत्माकी अनुभूतिमे न रहकर बाह्यपदार्थोके परिज्ञानमे और उनकी व्यवस्थामे लग रहा है। मोक्षके प्रसगमे तो परसमयपना रच भी नही होना चाहिए। इस गाथामे यह बात कह रहे है कि संयम और तपमे भी कोई लगा हुआ हो, श्रुतकी, आगम की रुचि भी रखता हो, जीवादिक पदार्थोके और तीर्थंकरोके प्रति भी जिनकी बुद्धि लग रही हो, उनमे आदरभाव कर रहा हो ऐसे जीवका भी निर्वाण दूर है।

परसमयताके विश्लेषणसे शिक्षण—इस गाथामे जो अर्थ वताया है, उससे हमे कई बातोकी शिक्षा मिलती है। साक्षात् तो यह शुभोपयोगरूप प्रवर्तन मोक्षका हेतु नही है, इस कारण इसका दूर निर्वाण है। इसका भाव यह है कि यह परम्परा मोक्षका कारण है। जो पुरुष मोक्षमार्गमे उद्यमी हुए हैं और जिन्होने अचिन्त्य विलक्षण महान सयम और तपश्चरणके भारको भी धारण किया है अर्थात् सयम और तपश्चरणका पालन भी जो खूब

करते है, किन्तु अपनी प्रभुशक्तिकी, प्रभुभक्तिकी जिन्हे सम्भावना नही है, जो परमभूमिकामे चढाने वाली शक्ति है ऐसी शुद्ध शक्तिकी जिनके चित्तमे सम्भावना नही जगती है वे पुरुष निर्वाणकी रुचि करते हुए भी अरहंतादिक शुद्ध आत्मतत्त्वकी भक्ति करते हुए भी उस भक्ति को, उस रुचिको छोडनेके लिए उत्साहित नही होते, वे भी साक्षात् मोक्षको प्राप्त नही करते। थोडेसे शब्दोमे इसका भाव यो समझिये कि अर्हद्भक्ति अथवा तत्त्वचर्चा आदिक ६ पदार्थोंका श्रद्धान अवगम किए हुए भी चित्तमे यह बात नही आती कि यह अर्हद्भक्ति भी एक रागका अश है और यह रागका अश भी इस जीवका स्वरूप नही है, ऐसी बात चित्तमे न आये तो वह उस रागाशसे दूर होनेके लिए उत्साह नही कर सकता है।

शुभ रागके छोडनेका विधान—भैया! अर्हद्भक्तिके रागसे दूर होनेके बाद यदि अभिन्न सहज सिद्ध चैतन्यस्वभावके सम्वेदनरूप पारमार्थिक भक्ति आती है तो वह तो है शुभ रागके छोडनेका विधान, और इस प्रकरणको सुनकर अर्हद्भक्तिको छोडना आसान समझकर छोड दे और सहज स्वभावमे उसकी भक्ति न जगे, स्वसम्वेदन न बने तो वह उस शुभरागके छोडनेका सही विधान नही है। शुभराग छोडकर अशुभ रागमे नही गिरना है, किन्तु शुभ राग छोडकर शुभ अशुभ दोनोसे रहित नीरग निर्मम शुद्ध अन्तस्तत्त्वके सम्वेदनमे आना है और इस ही लक्ष्यसिद्धिके लिए शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके रागोका त्याग कराया जाता है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वमे रतिका उत्साह—जो जीव शुभ रागको छोडकर शुद्ध सम्वेदन रूप परिणति बनानेके लिए उत्साहित भी नही हैं वे पुरुष देवलोक आदिकके क्लेशकी प्राप्तिमे समय गुजारकर परम्परासे भविष्यमे कभी मोक्ष पायेंगे, वर्तमानमे नही पाते है, उस समय शुभ रागसे होता है पुण्यबध और पुण्यबधसे प्राप्त होगा देवलोक। उस देवलोकको भी ज्ञानी जीव क्लेश मानते है। क्लेशरहित अवस्था तो निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव है, यह जिन्हे प्राप्त होता है वे ही वास्तवमे अमर है। उनको फिर कोई आकुलता नही रहती है। यहाँ शिक्षा दी है कि जिसे निर्वाण चाहिए वह शुभ अशुभ रागोसे विविक्त शुद्ध अन्तस्तत्त्वमे रति करे।

स्वरूपप्रतपन—जो साधु बहिरङ्गमे तो इन्द्रियसयम और प्राणसयमके बलसे रागादिक उपाधियोसे रहित निर्विकल्प ज्ञानको अपने शुद्ध आत्मामे सयत करनेका यत्न कर रहे है, ये साधु ख्याति, पूजा, लाभ अथवा अनेक मनोरथ विकल्पजालोकी दाहोसे जो रहित है इसी कारण वे अपने शुद्ध आत्मामे अपने उपयोगका सयम करनेके लिए स्थितिकरण कर रहे है, सयमी है, शुद्ध है, सम्यग्दृष्टि है और अनशन आदिक अनेक प्रकारकी बाह्य तपस्यावोके बलसे वे अपना अन्तरङ्ग तप भी बढा रहे है। अन्तरङ्ग तप है सर्व परद्रव्योकी इच्छाका अभाव करना, निरोध करना। ऐसी अन्तरङ्ग तपस्याके बलसे ये साधुजन नित्य आनन्दस्वरूप

एक विशुद्ध आत्मस्वभावमे तप रहे है, इस अपने आपमे विजय पा रहे है, अतएव वे तपस्या से भी युक्त है। ऐसी विशिष्ट योग्य विजय होने पर भी जब कभी चूँकि उत्तम सहनन आदिक नही होनेसे योग्य प्रकारसे शक्तिका विकास नही होता तब इस भावमे, निर्विकल्प समाधिमे निरन्तर ठहरनेके लिए असमर्थ हो जाते है। उस समय ये मुनिजन क्या किया करते है, इसे सुनिये।

शुभोपयोगप्रवर्तनका कारण—जिनका लक्ष्य विशुद्ध है और जब कभी अपनी उस लक्ष्मीका आलम्बन भी कर लेते है, निर्विकल्प समाधिमे उपन्न हुए सहज शुद्ध आनन्दका अनुभव भी कर लेते है, इतनी विशिष्टता होनेपर भी विशिष्ट सहनन आदिक शक्तियोका अभाव होनेसे जब वे अपने इस लक्ष्यमे ठहर नहीं पाते है उस समय वे कभी तो शुद्ध आत्मा की भावनाके अनुकूल जीवादिक पदार्थोका प्रतिपादन करने वाले आगमकी रुचि करते है। शुद्धरुचिक साधुके वचनोको सुनें तो उस तत्त्वमर्मको जानकर चित्तमे हर्ष उत्पन्न करना ये सब शुभोपयोग किया करते है और कभी उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी बात दिखाने वाले, सुनाने वाले, मार्ग बताने वाले साधुजनोका सन्मान दान सेवा आदिक किया करते है।

अनुरागका प्रभाव—जैसे कि किसी पुरुषको अपनी स्त्रीसे अधिक अनुराग है और उसकी स्त्री अपने माता पिताके घर है, मायकेमे है, उस स्वसुरालसे कोई पुरुष आये हो तो यह पुरुष उन पुरुषोका बडा आदर करता है। आदर करता जाता है पर लगन लगी है स्त्री प्रेमकी ही ना, अतएव स्त्रीकी बात भी बीच-बीचमे पूछता जाता है। उनका सन्मान इसलिए कर रहा है यह पुरुष, चूकि उसके प्रेमके एक साधन मात्र स्त्रीके ग्रामसे आये हुए ये पुरुष है, उनसे स्त्रीकी खबर विशेष मिलेगी आदिक आशय है, अतएव वहाँसे आये हुए पुरुषोका सन्मान करना है, उनकी सेवा करता है। ऐसे ही जिस ज्ञानी सतको शुद्ध अतस्तत्वकी तीव्र रुचि जगी है उस शुद्ध अन्तस्तत्वके नगरके निवासी जो साधुसत पुरुष है उन साधु सत पुरुषोका सन्मान दान पूजन आदिक करते है, करते जाते है और उनकी मुद्राको देख-देखकर शुद्ध अन्तस्तत्व खबर लेते रहते है, और कभी तो विनम्र होकर इस शुद्ध अतस्तत्त्वकी कुशलताका समाचार भी पूछते है, उस शुद्ध अतस्तत्त्वके प्रभावका, चमत्कारकारका भी वर्णन सुना करते है। यो ये साधु सत पुरुष जो निर्विकल्प समाधिमे स्थिर नही रह पाते है वे क्या क्या किया करते है उसका यह वर्णन चल रहा है अर्थात् वे शुभोपयोगसे अपने आत्माको पुण्यरूप कर रहे है।

ज्ञानियोके पुराणपुरुषोकी कथाके श्रवणका लक्ष्य—ये भव्य सत कभी इस मुक्ति लक्ष्मीको वश करनेके लिए निर्दोष परमात्मा तीर्थंकर परमदेवके चरित्र पुराण भी सुनते है। गणधर देव, सागर, भरत, राम, पाडव आदिक अनेक महापुरुषोके चरित्र पुराणोको सुनते है, वे भी ऐसी कुशल उस मुक्ति लक्ष्मीको वश करनेके लिए सुनते तो सही उनका कुछ चरित्र,

उनकी करामाते, जिन्होने इस मुक्तिलक्ष्मीको वश कर लिया है अर्थात् मुक्त हो गए है, ऐसे पुरुषोकी जीवनचर्चा सुनते तो मही, परन्तु अपने लिये वे शिक्षा लेते रहते है। क्या किया, कैसे रहे, घरमे रहे तो किस प्रकार जलमे भिन्न कमलकी नाई रहे। साधु हुए तो किस प्रकार से पुरुषार्थ प्रकट करके समस्त उपसर्ग सकटोको कैसे उन्होने दूर किया, कैसे कष्टसहरगु बने और कैसे उन्होने ध्यान किया, कैसे निजमे गुप्त रहे? अहा, यो यो, तभी तो आखिर मुक्ति श्री उनके वश हो ही तो गयी। ये भव्य सत ऐसी मुक्तिश्रीको जिन्होने वशमे किया है उनका चरित्र भी सुनते है, एक तो यह प्रयोजन है महापुराण पुरुषोके चरित्र सुननेका।

अनुरागका योग्य धाममे न्यास—महापुरुषोके चरित्र सुननेका दूसरा यह प्रयोजन है कि अब यहाँ रागका उदय आया तो जैसे कुछ मत्रवादी ऐसा किया करते है कि देखो ये ओले पडने ही वाले है, ये रुकते नही है तो उन ओलोको दूसरी ऐसी जगह गिरा देते कि जहाँ नुक्सान न हो और अपनी खेती बच जाय। तो इसी तरह ये रागादिकके ओले पडने वाले है, ये निवारे नही जा रहे, ऐसे प्रवाहसे उठने वाला राग है तो अब इस रागको कहाँ पटकें, कहाँ लगायें जिससे हमारे शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी रक्षा बन सके, उन्हे ये शुभरागमे लगाते है, चरित्र सुनें, पुराण सुने। वहाँ यह भाव है कि कही यह राग खोटी जगह लग जायगा, विषयकषायो के साधनोमे लग जायगा तो फिर ससार लम्बा हो जायगा।

अन्तस्तत्त्वके अनुरागियोकी सावधानी—जिन्होने आत्माके हितकी धुन बनायी है ऐसे साधु पुरुष कैसे सावधान रहते है? उनको केवल आत्महित ही प्रिय है, ससारका कोई वैभव उन्हे रुचिकर नही है। जो कुछ वे करते है इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी सिद्धिके लिए करते है। ये अशुभ रागसे हटनेके लिए शुभ धर्मका अनुराग उत्पन्न करते है और इस तरह उस अनुरागवश महापुरुषोके चरित्र भी सुनते है। जो कोई पुरुष गृहस्थ हो तो वह भेद और अभेद रत्नत्रयकी भावनाकी सिद्धि करने वाले आचार्य, उपाध्याय, मुनिजनोकी पूजा आदिक करता है, यह बतायी जा रही है उन ज्ञानी साधकोकी बात कि जो लक्ष्यरूप पहुच तो गए है और कभी-कभी लक्ष्यका अनुभव भी कर लेते है, अद्भुत विचित्र आनन्दका अनुभव भी होता रहता है, किन्तु अपनी विशिष्ट सहनन आदिक शक्तिया न होनेसे जब वे इस निर्विकल्पसमाधिमे स्थिर नही रह पाते तो वे क्या किया करते है, इस बातका वर्णन चल रहा है। लो यो शुभोपयोग किया करते है यह उसका उत्तर है। इसके फलमे उनपर बीतती क्या है, इसे भी सुनो।

ज्ञानियोके शुभोपयोगका प्रभाव—शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखने वाले और कभी-कभी शुभोपयोगमे प्रवृत्ति करने वाले ऐसे इन पुरुषोकी चूकि शुभोपयोगमे प्रवृत्ति है और शुद्धोपयोग का लक्ष्य है, इन दोनोके समन्वयके कारण, शुद्धोपयोगके लक्ष्यके कारण अनत ससारकी स्थिति का छेद तो हो गया। अब ये सत पुरुष अनन्त ससारके पात्र नही रहे, निकटभव्य हैं, कुछ

काल बाद मुक्ति प्राप्त करेंगे। लेकिन ये तद्भव मोक्षगामी नही है। जो शुभोपयोगमे प्रवृत्ति रखते है उनका उस भवसे मोक्ष नही है, नही है मोक्ष तो भी पापास्रवका भाव तो नही, पुण्यास्रवका परिणाम तो है ना। उस पुण्यास्रवके परिणामसे उस भवमे ये निर्वाण तो प्राप्त नही करते, किन्तु इस भवके बाद अन्य भव जो पायेंगे वे देवेन्द्रादिक उच्च पद पायेंगे, लो पा लिया देवादिक पद। वहाँ विमान परिवार आदिक अनेक विभूतियाँ मिली, तो चूंकि पूर्वभवमे इनको शुद्धोपयोगका लक्ष्य था और उसके सस्कारमे पले हुए इन जीवोने देवेन्द्रपद पा लिया तो भी उस सस्कारके कारण ये उस विभूतिको तृणके समान गिन रहे है।

ज्ञानियोके शुभोपयोगकी परम्परया मोक्षहेतुता—इस जीवको इस परिवार और अन्य वैभव परिग्रहोसे कौनसी सिद्धि होगी? यह तो केवल अपने स्वरूप मात्र है। इसमे जो कुछ गुजरता है, परिणमन होता है वह सब इसका परिणमन है। उसमें दूसरा पदार्थ क्या करता है? प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक पदार्थसे अत्यन्त भिन्न है। यह विभूति क्या है, जड पुद्गलो का संचय है, परमाणुवोका पुञ्ज है, यह तृणवत् है, हितरूप नही है। ऐसी मान्यतामे वे ज्ञानी उस देवपदवीके योग्य धर्मसाधनमे व्यतीत करते है, विदेहक्षेत्रमे जाकर, जहाँ कि सदैव तीर्थंकर विराजमान रहते है, उन महाविदेहोमे जाकर समवशरणमे वीतराग सर्वज्ञदेवके दर्शन करते है और निर्दोप परमात्माके आराधक गणधरदेव आदिकके भी दर्शन करते है 'और वहाँ परमेष्ठियोके दर्शन करके अपने धर्ममे और दृढ होते है। अवधिज्ञानबलसे पूर्वभवकी बातोका स्मरण करके अथवा जो कुछ सुना करते थे, जो पूर्वभवमे समझा था कि ऐसे-ऐसे अरहत प्रभु होते है, लो अब मै यहाँ साक्षात् दर्शन कर रहा हू, उससे तो और दृढता होती है। तब वे चतुर्थगुणस्थानमे जिस स्थिरताके साथ आत्मभावना बन सकती है उस आत्मभावनाको अब ये देवेन्द्र छोडते नही है। जिस परिणतिसे, जिस भावनासे आत्मामे विशुद्ध आनन्द जगा है उस आनन्दका अनुभव करनेके बाद उसे छोडनेको चित्त कैसे चाहेगा? चाहे उस आनन्दको ही बारबार न पा सकें, देर तक न पा सके, लेकिन दृष्टि उस भावनाकी ओर ही रहती है। इस प्रकार धर्ममे दृढचित्त होते हुए ये स्वर्ग लोकमे अपना समय व्यतीत करते है।

शुद्धोपयोग और शुभोपयोगके समन्वयकी स्थिति—यह बात सुनाई जा रही है अन्तस्तत्वके परिचयी शुभोपयोगी मोक्षमार्गी जीवोकी। साधुपदसे लेकर कि जहाँ विशुद्ध लक्ष्य समझमे आया था और उस लक्ष्यके अनुसार आत्मीय अनुभव भी जगा करता था। लेकिन उस अनुभवको सदा रखनेकी सामर्थ्य नही जग पायी थी, तब उन्होने इस स्थितिमे क्या किया और उसके फलमे क्या मिला? चूकि वहाँ शुद्धोपयोगका और शुभोपयोगका एक समन्वयसा बना हुआ था, उसके फलमे देवेन्द्र हुए। देवेन्द्रोकी शोभा इसीमे है, उनका बडप्पन इसीमे है कि ऐसी बड़ी विभूति पाकर जो मनुष्योके सम्भव नही है, चक्रवर्तियोके भी सम्भव नही

होता ऐसी महर्द्धिक विभूतिको पाकर उसे भी तृणके समान समझें। इस थोडी-सी विभूति को पाकर उसको चित्तमे चिपकाये रक्खें, यह तो मोही जनोका काम है, जिनको ससारमे और अनेक कुयोनियोमे रुलनेका काम पडा हुआ है। महत पुरुष तो वे है कि जो कुछ उन्हे मिला है उसे तृणवत समझते हो। ये देवेन्द्र जिनके कई हजार देवागनाएँ हुआ करती है, जिनका शासन असख्यात देवोपर चल रहा है, जिनमे अनेक प्रकारके चमत्कार करने वाली ऋद्धियाँ प्रकृत्या मिली हुई है, जिनका शरीर दिव्य है, कई-कई हजार वर्षोंमे क्षुधाकी कुछ वेदना होती है और वह भी कठसे अमृत झरकर शान्त हो जाती है, कई-कई पखवारोमे श्वास लेनेका कष्ट करना पडता है। ऐसे बडे सुखोसे सम्पन्न ये देवेन्द्र उस सारे वैभवको तृणके समान देख रहे है और समय व्यतीत कर रहे है धर्मके अनुरागमे, भगवानकी भक्तिमे। समवशरणमे जाना, प्रबध करना, गणधर आचार्य आदिकका भी विनय सम्मान बनाना—ये सब शुभोपयोगके कार्य भी देवेन्द्र कर रहे है।

पूर्वसस्कारका प्रभाव—ज्ञानी तपोधनने देवेन्द्रादिपदमे जन्म लेकर सागरो पर्यन्तका, असख्यात वर्षोका समय धर्मप्रवृत्तियोमे व्यतीत किया, उसके बाद जीवनके अतमे जब देवायुकर्म का क्षय होनेको है, उस क्षणके बाद वे स्वर्गसे आकर मनुष्यलोकमे चक्रवर्ती आदिक जैसी बडी विभूतियोको प्राप्त करते है। लोग अपने घर पुत्रके उत्पन्न होनेपर बडी खुशिया मनाया करते है। खुशी क्या मनाते है, खुशी खुश होकर मनानी पडती है। भला ऐसे स्वर्गोंमे जो बडे देवेन्द्र थे, जिनकी अतिशय ऋद्धिया थी, जिनका बडा चमत्कार था, जिन्होने असख्यात वर्ष जैसे लम्बे समय तक उस धर्मका अनुरागभरा अतिशय पुण्य कमाया, ऐसा जीव यहाँ किसी मनुष्यके यहाँ उत्पन्न हो तो उसका पुण्य क्या यहाँ न करायेगा ? उसके पुण्यका यह प्रताप है कि सारे नगरके लोग उसकी खुशी मनाते है। भला जो किसी महामडलेश्वर राजा के चक्रवर्ती होने वाला पुत्र बने या अन्य वैभववान पुत्र बने तो उसे बचपनसे ही बडा वैभव प्राप्त होगा। इतनी विभूति प्राप्त करके भी धन्य है वह ज्ञानी पुरुष, भले ही वह अभी बालक है, लेकिन पूर्वभवमे जिस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना की थी उसके सस्कार मिटते नही है, वे बने हुए है। उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावनाके उपयोगसे इतनी बडी विभूतियोको पाकर भी उनमे मोह नही करते है।

जन्मजात निर्मोहता—ये ज्ञानी पुरुष जब तक यहाँ गृहस्थीमे है तब तक भी उस वैभवके बीच रहकर निर्मोह है, और अनेक बालक तो ऐसे भी होते होगे कि जन्मसे लेकर अन्त तक उन्होने वस्त्र भी न पहिने हो। १०-१२ वर्ष तक तो बालक अब भी नगे ही फिरा करते थे। कुछ वर्षोंके बादसे यह प्रथा चली है कि चाहे ६ माहका भी बालक हो उसे भी कुछ न कुछ पहिना दिया करते है। देहातोमे अथवा देहातोके जो वृद्ध लोग है उनसे पूछो तो

वे बतायेंगे कि १०-१५ वर्षके बालक नग्न ही रहा करते थे। हुए हो कोई ऐसे बालक जो ७-८ वर्ष ऐसे ही नगे रहे और फिर मिल गया सुयोग कही मुनिधर्म सुननेका, प्रतिभा विशेष हो, ज्ञान आ जाय और वह निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ले, यह एक बात कही जा रही है। कभी उन्होने अगर कपडे पहिन भी लिये हो तो उसको गौण करके इस बातको सुनो। हुए है कोई ऐसे योगिराज। कितने ही लोग गृहस्थावस्थामे गृहस्थीके सब कुछ काम करके भी उस विभूतिको तृणवत् गिनते हुए उस वैभवसे विरक्त रह-रहकर गृहस्थावस्थासे विरक्त रहकर विषयसुखोका परित्याग करके जिनदीक्षाको ग्रहण करते है।

निर्विकल्प समाधिकी पुष्ट स्थिति—अब ज्ञानी पुरुषकी वही स्थिति फिर आ गयी जो स्थिति इनके तीसरे भव पहिले थी। लेकिन उस स्थितिकी अपेक्षा अब इस भवमे बल विशेष मिला है। तब निर्विकल्पसमाधिका लक्ष्य तो था और उस समाधिबलसे आत्मतत्त्वका बहुत-बहुत बार स्पर्श भी किया करते थे, लेकिन उसकी स्थिरता न होनेसे वे शुभोपयोगमे अपना समय भी गुजारते थे, लेकिन अब इस भवमे उन्हे ऐसा महान बल मिला है कि निर्विकल्प समाधिका अब उत्कृष्ट विधान बन रहा है, उस बलसे विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज शुद्ध आत्मामे वे स्थित हो रहे है।

अन्तस्तत्त्वके परिचयीके अन्तस्तत्त्वके अनुभवकी सुगमता—जैसे यहाँ जिस करोडपतिको करोडोका वैभव मिला है उसे वह सुगम और सस्तासा दिखता है। जिसे अरबोका वैभव मिला है उसे वह भी सस्तासा दिखता है, भले ही शतपति, हजारपतियोंके लिए वह बडी कठिन बात सी लग रही हो, पर जिसका जहाँ प्रवेश है, अधिकार है उसे वह सुगम नजर आता है। इस दृष्टान्तके अनुसार क्या कहे, इससे भी विलक्षण बात यह है कि जिसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्वका स्पर्श हुआ है, अनुभव जगा है उसे तो यह इतना सुगम मालूम होता है काम, कि कठिन है कहाँ ? यह स्वय ही ज्ञानानदघन है, ज्ञानस्वरूप है, बस इस निज उपयोग से इस निज ज्ञानस्वरूपको निहारनेमे कौनसी मुसीबत है ? यह तो अत्यन्त सुगम काम है। सुगम काममे स्थिरता अधिक रहती है।

स्वच्छ ध्यान—इस निर्विकल्प समाधिके बलसे यह जीव इस शुद्ध ज्ञानस्वभावी निज शुद्ध आत्मतत्त्वमे स्थिर हो गया है। ऐसा स्थिर हो गया है कि अब यह पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानसे भी ऊचा उठकर एकत्व वितर्क अवीचार शुक्लध्यानमे स्थित हो गया है। शुक्लध्यानका अर्थ है सफेद ध्यान, निर्दोष ध्यान। रागके रगकी रच कणिका भी न रहना और रागके सम्बन्धसे जो अस्थिरता उत्पन्न हुई थी याने ज्ञप्तिपरिवर्तन हुआ था उस ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्मसे भी रहित ऐसा सफेद ध्यान शुक्लध्यान परिणाम करके यह जीव शेष समस्त घातिया कर्मोका विनाश करके कुछ समय बाद अघातिया कर्मोका क्षय करके परमो-

त्कृष्ट मोक्ष अवस्थाको प्राप्त करता है ।

अरहंतसिद्धचेइयपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्म सो सुरलोग समादियदि ॥१७१॥

शुभोपयोगकी शिवावरोधकताका समर्थन—अरहत आदिक शुद्ध आत्मावोमे भक्ति करने मात्रसे भी उत्पन्न हुआ जो राग है वह राग भी साक्षात् मोक्षका अतरायरूप है । इस विषयका वर्णन पूर्व गाथामे भी किया गया था और अब इस गाथामे भी उस ही का समर्थन कर रहे है । जिस किसी प्रसगमे जो बात विशेषतया कही हुई है वह एक बार ही कहे जाने मे सन्तोष उत्पन्न नही होता, उसका दुबारा समर्थन किया जाता है और इसीकी ही नकल सोसाइटियोमे है । प्रस्तावकने प्रस्ताव किया, समर्थकने समर्थन किया, इसके बाद बहुसम्मतिसे पास होता है । प्रथम बार कहना एक प्रस्तावरूप होता है और उसका दुहराना एक समर्थनकी चीज बन जाती है । जो चीज उपादेय है, जिस तत्त्वपर अमल करनेमे हित है उसके वक्तव्य के बाद समर्थन हुआ करता है । यहाँ कोई खास आवश्यकता न थी कि कही हुई बातको फिर पुन· दुहराया जाय, लेकिन धर्मके कामपर धर्मानुराग अथवा शुभोपयोग ही कही जीवके अन्तिम लक्ष्यकी चीज न बन जाय, इस कारण करुणा करके आचार्यदेव साधुसतजनोको प्रति-बोधित करनेके लिए दुबारा भी यही बात कह रहे है । जो पुरुष अरहत सिद्ध चैत्य और प्रवचनकी भक्तिमे परायण हुए हो, उत्कृष्ट नियमके साथ तपस्यारूप सत् कर्मको करते है, तपश्चरण करते है वे पुरुष स्वर्गलोकको प्राप्त करते है ।

पुराण पुरुषोत्तम—अरहत कहलाते है—पुराणपुरुषोत्तम । अच्छा बताओ—अरहत देव मनुष्य है या नही ? कुछ तो झिझक होती है कि हम उन्हे मनुष्य कैसे कह दें, वे तो परमात्मा है और मनुप्य न कहे यह भी तो ठीक नही है । आखिर मनुष्यगतिमे ही तो है, इसी कारण उन्हे पुराण पुरुषोत्तम शब्दसे कहा गया है । अरहतदेव अब लोकव्यवहारमे प्रवृत्ति नहीं करते है । मोह रागद्वेपसे सर्वथा रहित हो गए है, केवलज्ञान केवल दर्शनसे सम्पन्न हो जानेके कारण वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । वे हम आप लोगोकी तरह किसीकी बात सुनें और उसका जवाब दें ऐसी भी प्रवृत्ति उनके नही है । जैसे लोग किसी बडे आदमीका सम्मान सेवा करते हुए अन्तरमे श्रद्धा और विनयमय भय दोनो रखते है, उनका भय दोपरूप नही होता किन्तु गुणरूप बन जाता है । श्रद्धाके साथ लगा हुआ भय दोषरूप नही होता, वह विनय रूपमे परिणत हो जाता है ।

प्रभुकी छत्रछायामे—प्रभु अरिहतदेवकी भक्तिमे उनके विहारप्रबधमे, उनके उपदेश-प्रबधमे इन्द्र कुबेरदेव सभी जन सहयोग देते है, व्यवस्था बनाते है बडी श्रद्धासे, फिर भी उनमे से कोई अथवा मनुष्योमेसे कोई भगवानके निकट पहुच जाय, बात करने लगे, ये सब बातें

नही बन पाती है क्योकि वहाँ सभी जीवोकी श्रद्धा और विनयपूर्ण भय अथवा विनय ही बहुत भरा हुआ है और दूसरी बात यह है कि लोग बोलकर करे क्या ? उनके राग और द्वेष नही है । प्रभुके रागद्वेष नही है इतने मात्रसे इनकी बडी भक्ति नही हुआ करती, साथ ही वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, गुणसम्पन्न है इस कारण तीन लोकके इन्द्र उनकी भक्तिमें रत रहा करते है । यहाँ भी तो कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि जिन्हे किसी ओरका पक्षपात नही होता । राग और द्वेपसे वे अलग रहा करते है, लेकिन उनमे कुछ और गुण हो, जानकारी हो, हित की भावना भी हो, हितका कार्य भी करें तो लोगोका आकर्षण उनकी ओर विशेप होता है । तो प्रभु भगवानमे निर्दोषता और गुणसम्पन्नता दोनो ही प्रकट है, उनकी भक्तिमें इसी कारण तीनो लोकके जीव रहकर अपने जन्मको सफल मानते है ।

प्रभुदर्शनमे निःसदिग्धता—अरहतदेवकी मुद्राके दर्शन करते ही जिसके चित्तमे जिस प्रकारकी शकाएँ उठ रही हो उन शकाओका समाधान उनके ही ज्ञानस्फुरणके कारण हो जाय करता है, और इतने पर भी न हो कदाचित तो प्रभुकी दिव्यध्वनि सुनकर जो चित्तमे एक हर्प उत्पन्न होता है जो कि अत्यन्त विलक्षण है, उस हर्षातिरेकके समयमे ऐसा ज्ञान-स्फुरण होता है श्रोताओके कि शकाका समाधान वे स्वय प्राप्त कर लेते है । भैया ! शकाका उठना भी योग्यतापर निर्भर है । जो जितने क्षयोपशम वाला होगा वह उस सीमाके भीतर ही तो कुछ शका उत्पन्न कर सकेगा योग्यताके भीतर ही शका उत्पन्न होती है तो उसका समाधान स्वयमेव हो जाता है । कठिनाई तो तब पडती है कि कोई पुरुप बडी तेज सूक्ष्म शका करले और उतनी योग्यता थी नही तो उसका समाधान मिलना कठिन होता है । यो यह अतिशय भी अरहत प्रभुके दर्शन और दिव्यध्वनिके श्रवणमे प्राप्त होता है ।

विरोधियोकी विरोधसमाप्ति—तीसरा अतिशय जो एक अत. प्रभाव पैदा करे वह है बैर विरोधके भावके समाप्त कर लेनेका । समताकी मूर्ति सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभुके निकट पहुचने पर चूँकि यह भक्तिभावसे प्रभुपादमूलमे गया ना, अतएव उसके चित्तमे अब बैर विरोधका स्थान नही रहता है ।

विपरीतवृत्तियोका समवशरणमे अस्थान—शास्त्रोमे यह वर्णन है कि समवशरणमे मिथ्यादृष्टि जीव नही पहुचते । उसका अर्थ सभी मिथ्यात्वदृष्टि जीवोंसे नही है, किन्तु जिनमे उद्दण्डता है, जिनका परिणाम विनयसे युक्त है ही नही, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव समवशरणमे नही पहुच सकते । जिनका होनहार भला नही है वे मिथ्यादृष्टि क्यो नही पहुचते ? उसमे दो कारण है जो नही पहुचने देते । प्रथम तो यह है कि ऐसे उद्दण्ड मिथ्यादृष्टिका भाव ही नही हो सकता कि हम समवशरणमे जायें, अत. वह स्वय जाता ही नही है । कदाचित कोई उद्दण्डता मचानेके लिए जाय तो वहाँ देवशक्तिका इतना उच्च प्रबध है कि वे जाने नही देते

है। किन्तु वहाँ कोई मिथ्यादृष्टि पहुचता ही नही है—यह बात घटित नही होती, क्योकि वहाँ अनेक जीवोको सम्यक्त्व पैदा होता है तो कैसे होता है और यह भी वर्णन आता है कि यह जीव अनेक बार समवशरण भी पहुचा, किन्तु सम्यक्त्व उत्पन्न नही हुआ— यह भी बात कैसे घटे ? हाँ यह बात अवश्य है कि उद्दण्ड मिथ्यादृष्टि वहाँ पहुच नही सकता।

अर्हद्भक्तिकी बुनियाद व फल—सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वहितैषी अरहतदेव, जरा सुनिये, प्रभु वीतराग है सो अब तो हितैषी नही हो रहे है, मगर हितका काम तो कर ही रहे है तब हितैषीके एवजमे हितोपदेष्टा कहिये। ऐसे प्रभु अरहतदेवकी भक्ति तभी तो बनेगी जब वैराग्य से चित्त ओतप्रोत होगा। यो ही केवल राग-रागमे अर्हद्भक्ति नही बनती, किन्तु किसी अशमे वैराग्य है, किसी अशमे राग है, ऐसी स्थितिमे अर्हद्भक्ति बना करती है। इस अर्हद्भक्तिमे जो शुभ अनुराग है, धर्मका अनुराग है, अल्पराग है, ऐसे अध्यवसाय भावसे जो जीवके विभावका वातावरण बनता है वह साक्षात् मोक्षको प्रदान करनेमे अन्तराय करता है और वह परिणाम देवआयु देवगतिका बध कराता है और इसके फलमे यह जीव स्वर्गलोकमे अथवा ऊर्ध्वलोकमे, नवग्रैवेयक आदिकमे सर्वार्थसिद्धि तकमे यह जीव उत्पन्न हो जाता है। वैराग्यकी अधिकता हो तो यह सर्वारिसिद्धि तक पहुच जाता है, किन्तु अर्हद्भक्तिकी प्रमुखता हो तो यह स्वर्गलोकमे उत्पन्न हो जाता है। वहाँ क्या बीतती है सो इसे भी सुनिये।

अर्हद्भक्तिका पुण्यफल—स्वर्गलोकमे १६ स्वर्गों तकके देव प्रवीचार सहित है, केवल ब्रह्मलोककी दिशा विदिशाओमे रहने वाले लौकान्तिक देव इस वासनासे रहित हैं। लौकान्तिक देव देवर्षि कहलाते है। देव होनेपर भी वे ऋषि तुल्य है, द्वादशागके पाठी हैं, विशिष्ट ज्ञानी है और इनको वैराग्यमे ही रुचि रहा करती है। यद्यपि ये भी सयम धारण नही कर सकते, क्योकि शरीरादिककी स्थितिया ऐसी ही है, किन्तु इन्हे प्रेम होता है वैराग्यसे। और इसी कारण तीर्थंकर भगवानके गर्भमे, जन्मकल्याणमे, ज्ञानकल्याणमे, निर्वाणकल्याणमे भी ये सम्मिलित नही होते, किन्तु तपकल्याणमे ये सम्मिलित हुआ करते है। इसी कारण तीर्थङ्कर प्रभुको वैराग्य होनेपर ये लौकान्तिक देव आते है और प्रभुके वैराग्यका समर्थन कर चले जाते हैं। तो लौकान्तिक देवोको छोडकर १६ स्वर्गों तकके देवोमे प्रवीचार होता है और जैसे-जैसे नीचेके स्वर्ग है वहाँ प्रवीचारकी विशेष प्रमुखता है, सो वे देव विषयविषरूपी वृक्षके सुगधसे मोहित बने रहा करते है।

रम्यलीनता—जैसे कभी कोई पथिक रास्ता चलते-चलते किसी ऐसे बगीचेके निकटसे निकलता है जहाँ बहुत ही मीठी सुहावनी सुगध चल रही है तो वहाँ यह पथिक कैसा मोहित होता है कि कुछ ठिठक जाता है और वहाँ जो कुछ विचार उत्पन्न हुए थे वे सब रुक जाते है, उस सुगधका उपभोग करनेमे रति हो जानेके कारण अन्य विचार दूर हो जाते हैं। स्वर्गों

मे ये देव सागरो पर्यन्त विषयोमे लीन रहा करते है। खेदके साथ यहाँ आचार्यदेव बता रहे है, उनसे उनका अन्तरङ्ग मोहित हो गया है, उनका विवेक भी ज्ञान भी मोहित हो गया है।

विषयविषरतिकी अनर्थता—यह मोह, विषयविषका प्रेम जीवका अनर्थरूप है। यहाँ शान्ति और सन्तोषका नाम नही है। उन समागम और विषयसाधनोमे क्या तत्त्व रखा है? जो अशान्ति और असन्तोषको ही उत्पन्न करें। मोही जीव केवल कल्पनामे ही तो अपने आपको महान समझ लेते है, सुखी समझ लेते है, किन्तु वे सुखी है कहाँ? ऐसी बात बीतती है उस स्वर्गलोकमे, यह किस परिणामका फल है? अरहत आदिककी भक्तिमे बुद्धि जिनकी लगी है ऐसे पुरुष जो परमसयम प्रधान अति विशेष तपको करते है उस तपश्चरणके निमित्त से बधको प्राप्त हुए विशिष्ट पुण्यका यह फल मिला है, इतने ही मात्र रागसे जिसका हृदय कलकित हो गया है वह पुरुष साक्षात् मोक्षसे तो वचित है ही, पर ऐसे स्वर्गलोकमे उत्पन्न होकर राग ज्वालावोमे सागरोपर्यन्त पच-पचकर क्लेश पाते रहते है।

अनवधानीय क्लेश—भैया! एक दु:ख तो होता है व्यक्त दु:खीकी भी समझमे आने वाला और एक दु:ख ऐसा होता है जो उस दु:खीकी भी समझमे नही आ रहा है, किन्तु हो रहा है दु:खी, हो रहा है अशान्त व्याकुल। पर अपनी व्याकुलताको वह व्याकुलता नही समझ पाता। हाँ उन विषयसाधनोके प्रसगमे कभी कोई अन्तराय आये तो वहाँ यह व्याकुलता समझता है। वह व्याकुलता आर्तध्यानमे हुई, रौद्रध्यानमे कोई पुरुष अपनी व्याकुलताकी परख नही करता। आर्तध्यानमे व्यक्त समझमे आता है दु:खी जीवोको भी कि मै दु:खी हो रहा हू। स्वर्गलोकमे रौद्रध्यानकी प्रधानता है। जैसे नरकगतिमे आर्तध्यानकी प्रधानता है। जो जीव सुखपूर्वक रहा करते है, बडे साधनसम्पन्न है ऐसे जीवोमे प्राय. रौद्रध्यानकी प्रमुखता रहती है। जो विषयोके साधन पाये है उनके सरक्षणमे उनके उपभोगमे वे आनन्द माना करते है। वह मौजकी बुद्धि दु:खोसे भरी हुई है, अज्ञानसे भरी हुई है। वे अन्तरङ्गमे बडे सतप्त रहा करते है।

पुण्यका बन्धन—यद्यपि ये पुरुष साधु सत शुद्ध आत्माको उपादेय मान रहे है, यह सम्यग्दृष्टियोकी चर्चा है, अज्ञानी तपस्वियोकी बात नही कह रहे, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधु सतोकि भी जो कि शुद्ध आत्माको उपादेय समझ रहे है वे व्रत तपश्चरण आदिक भी करते है और निदानरूप परिणाम भी उनके नही है, वे शुद्ध है, निर्दोष है, इनके यह भी वान्छा नही उत्पन्न हुई थी कि मै देवगतिमे जाऊँ, इन्द्र बनू, वहाँका वैभव पाऊँ, यह निदान भी नही था, वे विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध भावोसे ही तपश्चरण कर रहे थे, किन्तु सहनन आदिकी शक्ति न होनेसे वे शुद्ध आत्मस्वरूपमे ठहर तो नही सके ना। तो ऐसी स्थितिमे प्रथम भवमे उनके पुण्यबध हो रहा है। साक्षात् मोक्षका काम नही बनता है, क्योकि जो शुद्ध आत्मस्वरूपमे

स्थिर नही हो पा रहे वे कही राग करेगे ही। चूंकि यह ज्ञानी पुरुष है, अतएव अरहन आदिक शुद्ध तत्त्वोमे राग कर रहा है। उस पुण्यबधके प्रतापसे यह स्वर्गलोकमे जाकर देव होता है।

देशनाभक्ति—शुद्ध तत्त्वकी भक्तिके प्रकरणमे अरहतदेवकी भक्तिका प्रथम नाम यो लिया करते है कि ये अरहतदेव हमारी सारी उलझनोके दूर करनेमे मूलमे निमित्तरूप है। अरहतदेवकी दिव्यध्वनिसे शुद्ध आगमका विस्तार होता है, और इस आगमसे ही जाना जाता है कि सिद्धप्रभु यो होते है, तीन लोक तीन कालकी रचना यो है, सभी बातें जो हमारे ज्ञान और वैराग्यकी निर्मलतामे साधक है वे सब हमे आगमनेत्रसे ज्ञात हुई है।

चैत्यभक्ति—चैत्य चैत्यालय और प्रवचन इनका तो सम्बन्ध अरहतभक्तिसे है ही। चैत्यकी भक्ति करना अर्हद्भक्ति ही है, क्योकि चैत्यमे प्रतिबिम्ब अरहतदेवका ही तो है। ऊर्द्ध-लोकमे, मध्यलोकमे और जहाँ तक देवोका निवास है वहाँ तक अधोलोकमे जो अकृत्रिम चैत्यालय है उनमे तीर्थङ्करकी मूर्ति नही है, किन्तु अरहतदेवकी मूर्ति है। अरहतदेवकी मूर्तिमे चिह्न नही हुआ करते। जैसे बैल, घोडा आदिक २४ तीर्थङ्करोके चिह्न हैं, अरहत भगवानकी मूर्तिके निकट अष्ट प्रतिहार्योंका दर्शन होता है, क्योकि अष्ट प्रतिहार्योंका सम्बध अरहत परमेष्ठी से है। ऐसे अरहतदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाएँ अनुपम विलक्षण रचनाएँ है। उस प्रतिबिम्बमे अनेक परमाणु आते है और अनेक परमाणु जाते है, यो जहाँपर परमाणुवोका यातायात होने पर भी वे अकृत्रिम प्रतिबिम्ब यथातथा ही रहा करते है।

प्रवचनभक्ति—प्रवचनकी भक्ति, शास्त्रकी भक्ति, अर्हद्भक्ति रूप है। हम इन शास्त्रो से उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ही तो स्मरण किया करते है। जिन्होने इस ज्ञायकस्वरूप स्वका अध्ययन नही किया उनके शास्त्र पढनेका नाम स्वाध्याय कैसे कहा जाय ? वह तो बाचना है। उपन्यासकी किताब कोई पढे तो उसे कोई स्वाध्याय करना नही कहता। कहानीकी किताब पढने वालेको कोई यह नही कहता है कि यह स्वाध्याय कर रहा है। यदि कहानीकी किताब की ही तरह इन ग्रन्थोका भी कोई वाचन कर ले तो उसका नाम स्वाध्याय नही हो सकता। जिस कथन प्रसगमे स्वका अध्ययन चल रहा हो वह है स्वाध्याय।

विशुद्ध आशयमे शिक्षाग्रहणकी योग्यता—जैसे कोई कोई पुरुष थोडी पूजी वाला हो तो वह चाहता है कि इस पूंजीका मै पूरा-पूरा लाभ उठाऊँ। कुछ भी रकम बेकार न पडी रहे। हर तरहसे इससे लाभ उठा लू। ऐसे ही आजके पचमकालमे हम आप लोगोको यह ज्ञानकी छोटी पूंजी मिली है तो विवेक तो यही है हमारा कि हम इस छोटी ज्ञानपूजीके द्वारा पूरा-पूरा लाभ उठा लें, मेरा आशय निरन्तर विशुद्ध रहे। विषयसाधनोसे अन्त प्रीति न रहे, आत्महितका भाव जगे तभी यह आत्महितैषी पुरुष प्रवचनके प्रत्येक वाक्यसे, आगमके प्रत्येक वचनोसे वह आत्महितके लिए शिक्षा ग्रहण कर सकता है। दृष्टि चाहिए आत्महित

की जिसकी दृष्टि आत्महितकी नही हुआ करती, केवल बाह्यदृष्टि रहती है, हम समाजमे रहते है इसलिए हमे यह थोडा कुछ पढ लेनेका भी काम कर लेना चाहिए, अथवा कुछ दिल बहलाना है, कही दिल नही लगता है तो यह करलें अथवा देखें तो सही और लोगोके मामले, कौन किस तरहका कहते हैं अथवा लोगोमे हमारा भी तो कुछ नाम आये, हम भी तो कुछ धर्मसाधना करने वाले है, धर्मात्मा है इस भावसे अथवा हमारे कुलमे इस तरहकी बातें चली आयी हैं वे तो निभाना ही चाहिए, ऐसे ही अन्य कारणो और आशयो पूर्वक प्रवचनका पढना यह स्वका अध्ययन नही करने देता किन्तु एक ही आशय बना हो, मुझे स्वहित करना है—इस हितभावनासे प्रेरित हो तो वह प्रत्येक वाक्योसे हितकी शिक्षा ग्रहण कर सकता है ।

शुद्धोपयोगके लक्ष्यका प्रभाव—ये तपस्वीजन अरहत आदिकमे धर्मानुरागके कारण साक्षात् मोक्ष तो नही पाते, पर स्वर्गलोकको प्राप्त करते है—इसमे यह बात कही गई है कि श्रद्धा पूर्ण निर्मल रखना कि यह धर्मानुराग भी साक्षात् मोक्षका अन्तराय है । फिर दूसरी बात यह समझना कि यह परम्परा मोक्षका कारण है । ऐसी दृष्टि रखकर शुद्धोपयोगके लक्ष्य से चले तो इससे हमे कल्याणका मार्ग मिलेगा ।

तम्हा णिव्वुदिकामो राग सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियोभवसायर तरदि ॥१७२॥

वीतरागतासे भवसागरका तरण—पूर्व गाथावोमे वीतरागता ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है । रागभावसे क्या-क्या अनर्थ होते हैं और रागके अभावसे क्या कल्याण होता है ? इस सम्बन्धमे बहुत कुछ वर्णन करनेके पश्चात् अब आचार्यदेव उस वर्णनसे शिक्षा लेनेकी बात और उस शिक्षापर अमल करनेका फल इस गाथामे दिखा रहे है । इस ग्रन्थमे मोक्षमार्ग के विषयमे वीतरागताका उपदेश दिया है । वीतरागता ही मोक्षमार्ग है, इस कारणसे जिसको मुक्तिकी कामना है वह पुरुष समस्त पदार्थोंमे किञ्चिन्मात्र भी रागको न करे । जो किसी भी पदार्थमे राग नही करता, वह पुरुष वीतराग होता हुआ ससारसमुद्रको तिरता है ।

वीतरागतामें रत्नत्रयसमृद्धि—साक्षात् मोक्षमार्गका कारण तो वीतराग भाव है, बन्धनका कारण रागभाव है । बन्धनके कारणका अभाव होनेसे मोक्ष होता है । बन्धके हेतुवों के अभावसे और बन्धहेतुवोके अभाव होनेसे, स्पष्टरूपसे होने वाली विशद निर्जरासे कभी कर्मों का अत्यन्त वियोग हो जाता है इस ही का नाम मोक्ष है । वीतरागता ही मोक्षमार्ग है । वह वीतरागता यथार्थ ज्ञान और यथार्थ श्रद्धान बिना नही बनती । अतएव वीतरागता कहनेमें रत्नत्रय पूर्ण आ जाता है ।

वीतरागताका महत्त्व—भगवान प्रभुके वीतरागता और सर्वज्ञता दोनो बातें प्रकट है अर्थात् प्रभु पूर्ण ज्ञानसम्पन्न है और समस्त दोषोंसे रहित है, फिर भी कुछ दृष्टियोसे

परखा जाय तो इस वीतरागताका बहुत महत्त्व है। सर्वज्ञता भी वीतरागताके कारण प्रकट हुई है। सर्वज्ञताका कारण वीतराग भाव है। समस्त रागादिक दोषोका अभाव होनेपर ही सर्वज्ञता प्रकट होती है। दूसरी बात यह है कि कदाचित् मान लो सर्वज्ञता तो न हो और वीतरागता रहे तो इसमे आत्माका क्या टोटा पडा ? क्योकि समस्त क्लेशोका कारण राग है। रागका सर्वथा अभाव हो गया तो वहाँ आनन्द तो प्रकट हो ही गया, और आनन्द ही इस जीवका सर्वोपरि लक्ष्य है। यो भी वीतरागताका बडा महत्त्व है।

वीतरागतासे ज्ञानका भी महत्त्व—वीतरागता होनेपर सर्वज्ञता होती है, इसलिए कोई जीव वीतराग ही बना रहे, सर्वज्ञ न हो, ऐसा नही होता है, किन्तु एक हित अहितकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो यो सोच लीजिए कि वीतरागता है तो आनन्द है। कदाचित् मान लो कोई पुरुष सर्वज्ञ तो हो और वीतराग न हो, यद्यपि वीतराग हुए बिना सर्वज्ञता नही होती, पर एक स्वरूपकी विशेषता समझनेके लिए कल्पनामे यह लाइए, जैसे कि कोई मनुष्य बहुज्ञानी होता है, समस्त श्रुतका ज्ञानी है, अवधिज्ञान भी बहुत है, मन पर्ययज्ञानमे भी सूक्ष्म मनोविकल्प जान लिए जाते है, थोडा और बढाकर कल्पनाएँ कर लो कि सबको भी जान लिया जाय, वीतराग न हो तो कुछ यहाँ थोडा जानते है, उस थोडे जाननेमे इतना दुःखी है, क्योकि राग मोह साथ लगा है ना। तो जिसके साथ राग लगा हो और सब कुछ वह जान जाय तो वहाँ दुःखका क्या ठिकाना रहेगा ? एक यह कल्पना करके भी वीतरागताका प्रभाव समझ लीजिए। वीतरागताका कितना बडा महत्त्व है ?

वीतरागताकी शिवसाधनता—वीतरागता बिना चूंकि मुक्ति नही हो सकती, ससारके सकट समाप्त नही हो सकते, इस कारण जिन्हे मुक्तिकी कामना है उन पुरुषोका कर्तव्य है कि सर्वविषयोमे सर्वपदार्थोमे किञ्चिनमात्र भी राग न करे। इसमे बहुत-बहुत विस्तारपूर्वक यह बात दिखाई गयी थी कि विषयकषायोका लगाव, खोटे परिणाम, मन, वचन, कायका खोटी जगह प्रयोग करना ये सब पापोका आस्रव कराते है। यह राग तो त्याज्य होना ही चाहिए सभी मुमुक्षुओको, किन्तु अरहन्त सिद्ध चैत्य प्रवचन साधु आदि शुद्ध पदार्थोके सम्बन्धमे भी जो अनुराग होता है वह अनुराग यद्यपि कषायोमे हटाने वाला रहनेके कारण परम्परया मोक्षका कारण है, किन्तु साक्षात् तो वह राग भी मोक्षमे अन्तराय बन रहा है। इस कारण यहाँ कह रहे है कि अरहन्त आदिके विषयमे भी पहुचा हुआ राग स्वर्गलोक आदिके क्लेशोकी प्राप्तिके क्लेशोकी प्राप्तिके द्वारा मनमे अन्तर्दाहके लिए कारण बनता है अर्थात् पुण्य कार्योके करनेसे पुण्यबध हुआ, स्वर्गलोकमे उत्पन्न हुए, वहाँ विषयोका अनुराग होनेके कारण अन्तरमे दाह बन रहा है। तब यह राग भी एक दाहका कारण बन गया, मुक्तिका कारण नही बन सका।

दृष्टान्तपूर्वक शुभोपयोगकी विरुद्धकार्यकारिताका समर्थन—जैसे चन्दनका वृक्ष शीतल

होता है, ठडक पैदा करता है, किन्तु जिस चन्दनके वृक्षमे आग लग रही है ऐसा आग लगा चदन भी क्या ठडक पैदा कर देगा ? वह तो दाह ही करेगा। इसी प्रकार यह शुद्धोपयोगरूप धर्म और शुद्धोपयोग जिसके प्रकट हुआ है वह आत्मा विशुद्ध है, निर्दोष है, और उस शुद्धोपयोगका फल शान्ति और निराकुलता है, किन्तु उस शुद्धोपयोगरूप धर्मके साथ-साथ कर्मविपाकवश अरहत आदिक सम्बन्धी राग लगा है तो राग लगा हुआ धर्म अर्थात् सराग चरित्र सरागधर्म यह भी अन्तर्दाहके लिए कारण बनता है। ऐसा मान करके हे साक्षात् मोक्षकी इच्छा करने वाले भव्यजनो! समस्त कषाय सम्बधी रागको छोडकर अत्यन्त वीतराग होओ।

धर्मपालनका मौलिक उद्यम—सभीका यह कर्तव्य है कि आत्मकल्याणके प्रसगमे श्रद्धान पूर्ण निर्मल और निर्णायिक बनाएँ। हम कितना चल सकते है यह बात हमारी शक्ति विकासपर निर्भर है, लेकिन श्रद्धान तो हमारा उतना ही निर्मल होना चाहिए जितना निर्मल साक्षात् मोक्षमार्गपर चलने वाले साधु सतोका हुआ करता है। फिर उस श्रद्धानके अनुसार हम अपनेको निर्मल बनानेका यत्न रखे, वह यत्न केवलज्ञानरूप है। उस विशुद्ध ज्ञानके जगने पर ये कामकी क्रियायें सब रुक जाती है, अथवा अशुभ राग नही प्रवर्तातो है, यह तो एक फलीभूत बात है, किन्तु किया क्या आत्माने जिसके प्रसादसे ये सारे सकट दूर होते है ? वह किया केवल विशुद्ध जाननहार बनना। केवल विशुद्ध जाननहार रहनेमे सभी गुण उदारता, त्याग, क्षमा, निराकुलता सबके सब उसमे आ जाते हैं। धर्मपालन तो यही है कि केवल जो जैसा पदार्थ है उसका वैसा मात्र जाननहार बना रहे, यही है साक्षात् धर्मपालन, और इस ही धर्मपालनके लिए अन्य सर्व कार्य जो व्यवहारधर्ममे किए जाते है, इसीलिए किए जाते है।

ससारसमुद्र—हे भव्य जनो! यदि मुक्ति चाहते हो तो समस्त पदार्थोंमे रागको छोड कर इस ससारसे तिरकर ससारसे पार चले जावो। यह ससार एक भयकर समुद्रकी तरह है। जैसे समुद्रमे बडी भयकर कल्लोले उठा करती है, एक एक लहर एक एक भीत बराबर भी उठ खडी हो जाती है। बडी भयकर लहरें होती है। समुद्रके किनारे बहुत दूर भी खड़ा हुआ पुरुष भयभीत हो जाता है, और कितने ही लोग समुद्रके किनारे अथवा दूर चलते हुए भी समुद्रकी ऐसी लहरोके लपेटमे आकर अपने प्राणविसर्जन कर देते है। बडी भयकर लहरें होती है। इस ससारकी दुःख और सुखकी भयकर लहरे, इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रियजन्य दु.ख, मानसिक सुख और मानसिक दु ख—ये ६ प्रकारके सुख और ६ प्रकारकेदु.खकी एक दर्जन कल्लोल लहरें इस आत्मामे हो रही है। ये तो एक मोटी कल्लोलें है। इनके भीतर भी कितनी ही और कल्लोलें पडी हुई है। ऐसी सुख दुःखकी लहरोका भयकर यह ससार-समुद्र है। दुःखको तो सभी लोग भयकर समझ लेते है, सहा नही जाता, किन्तु सुखकी भी लहरे कितनी भयकर और क्षोभ उत्पन्न करने वाली है, इसे सर्वसाधारण नही जान सकते।

किन्तु विवेकी पुरुष ही इसकी माप समझ सकते है।

इन्द्रियसुखमे क्षोभकी व्यापकता—ये ससारके सुख, इन्द्रियजन्य सुख काहेके सुख है जिन सुखोंके सकल्प करनेमे भी क्लेश होता है, जिन सुखोका प्रोग्राम बनानेमे भी क्लेश होता है, जिन सुखोके साधनोका सचय करनेमे भी बडा क्लेश होता है और सुखोंके साधन मिल गए तो उन सुखोके भोगते समय भी इस जीवमे बडे क्षोभ मचा करते है। इन्द्रियसुख शाति-पूर्वक भोगनेमे नही आते, किन्तु कोई क्षोभ है, वेदना है तब वे भोगनेमे आते है। चाहे उन सुखोके भोगनेके फलमे बीमार हो जाये अथवा अन्य-अन्य प्रकारकी मानसिक बाधाएँ आ जायें, अपना धर्म और कर्म सब कुछ भी त्यागना पडे, पर इन विषयभोगोको मोही जन छोड नही सकते। क्योकि क्षोभपूर्वक ही ये भोग भोगे गए है। भोगनेके बाद भी अत्यन्त क्लेश रहता है, और सारी बात तो यह है कि इस सुखके प्रसगमे आदिसे लेकर अन्त तक सब अज्ञानरूप ही परिणाम रहा। अज्ञान अधकार एक बहुत बुरी परिस्थिति है।

संसारसागरमे अवगाहकी विपदा—दु.ख और सुख दोनो प्रकारकी अनेक लहरोसे व्याप्त यह ससारसमुद्र है, और फिर कोई शीतल जल भी नही है यहाँ। कर्मरूपी अग्निसे तप्तायमान और कलकल करता हुआ जल भार करके भरा हुआ यह ससारसागर है। एक तो भयकर लहरे है और फिर तपा हुआ जल है तो उस समुद्रसे कितना अहित है, उस समुद्रमे अवगाह करनेका कितना कुफल है, ऐसे ही यह ससार एक तो सुख दु.खकी लहरोसे भरा हुआ है और फिर कर्म अग्निसे यह सतप्त है। हे भव्य जीवो! ऐसे ससारसागरको तिर करके इस ससारसे पार होओ।

संसारकी अरम्यता—इस ससारमे मत रमो। इस भवसे पार होनेका उपाय एक वीतरागता है। हे आत्मन्! तू अपने आपपर कुछ दया करना चाहता है या नही? अपने आपकी जिम्मेदारी महसूस कर। इस ससारमे तू अकेला ही है। अनादिकालसे अकेला ही रहा आया है, अनन्त काल तक अकेला ही रहेगा। सुखमे, दु खमे, जीवनमे, मरणमे सर्वप्रसगो मे तू अकेला ही है। जो पदार्थ समागममे मिले है ये पदार्थ तुझे भूल-भुलैयामे पटकनेके कारण बन रहे है। कितने दिनोका समागम है? यह तो थोडे दिनोका समागम है, लेकिन ये समागम जगह-जगह फिर नवीन-नवीन मिलेंगे और तू वहाँ मोह करेगा तो वर्तमान स्थितिमे तो ऐसा लगा है कि ये समागम बडे सुखदाई मिले है, सो इनकी व्यवस्था और इनका मोह करके, राग करके सुख लूट लो, लेकिन ऐसे समागम बार-बार मिलते है, बिछुडते है और भिन्न-भिन्न प्रकारकी स्थितियोको उत्पन्न करते है। इनमे कुछ सार नही है। मोह मत करो।

निर्मोहभावकी साध्यता—भैया! यथार्थ ही सब निर्णय करो। यह सोचना भी एक भ्रमकी बात होगी कि हम लोग गृहस्थ है, गृहस्थीसे मोह कैसे छूट सकता है? मोह छुटाना

तो उनका ही काम है जो घर त्यागकर साधु हुए है, अकेले रह गए है, उन्हे मोह छोडना चाहिए। भैया! ऐसा भ्रम न करो जैनशासनकी प्राप्ति अति दुर्लभ है, जैन शासनको पाया है तो उससे अपनी बुद्धि व्यवस्थित बनायें। कोई गृहस्थ भी हो तो भी वह मोहको पूर्णरूपसे दूर कर सकता है। गृहस्थ राग और द्वेषकी बात कर रहे है। राग और द्वेष गृहस्थीमे रह कर दूर नही किए जा सकते, यह बात तो ठीक है। अथवा यो कह लीजिए कि जब तक रागद्वेष दूर नही किए जा सकते तब तक उसकी गृहस्थ जैसी स्थिति रहती है। करना पडता है, चारा क्या है, लेकिन मोहका हटा लेना तो सुगम है और सर्वसाध्य है। मोह नाम किसका है? मोहके पर्यायवाची शब्द है अज्ञान, मिथ्यात्व। जो वस्तु अपनेसे अत्यन्त भिन्न है उसे अपनी मानना यही तो मिथ्यात्व हुआ। यह मेरा है, इससे मुझे सुख मिलता है, ऐसी कल्पनाएँ बनाना यही तो मोह है। यह ज्ञान क्या किया नही जा सकता है गृहस्थीमे भी रहकर कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अस्तित्व लिए हुए है, तब मेरा किसी अन्य द्रव्यसे क्या सम्बध है? आज जो निकट है, वह कल न रहेगा, और जो एक क्षेत्रावगाह भी हो रहा है, ऐसा यह शरीर भी न रहेगा। ये द्रव्यकर्म भी न रहेगे, औरकी बात तो क्या कहे, एक क्षेत्रमे और उसके ही परिणमनरूप उत्पन्न हुए ये रागादिक भी मेरे साथ नही रह सकते है, ये भी होकर नष्ट हो जाते है। क्या हम आप यह ज्ञान नही कर सकते।

ज्ञानकी अप्रतिघातता—आपके घरके भीतरी कमरेमे तिजोरीमे सन्दूक रखी हो, उसमे भी पोटरीमे कोई गहना रखा हो तो आप यहाँ बैठे ही बैठे उसका ज्ञान कर लेते है कि नही? क्या घरके फाटक या सन्दूक आपके ज्ञान करनेमे कोई बाधा डालते है? आप यहाँ बैठे है और ख्याल आ जाय उस गहनेका तो आप तुरन्त उसका ज्ञान कर लेते है। ज्ञानको कही अटम होती है क्या? हाँ ज्ञानको अटका देने वाली कोई वस्तु है तो वह रागद्वेषकी परिणति है। हम इस पिण्डमे भवमे ठहरे हुए भी यदि सही-सही ज्ञान करना चाहे, प्रत्येक पदार्थका जुदा-जुदा अस्तित्व निरखना चाहे तो झट निरख लेते है। कोई अटकाव करने वाली चीज है क्या? हम जो कुछ भी ज्ञान करना चाहे करते है, उसमे हम स्वतत्र है। घरका कोई भी पुरुष कितनी भी मिन्नत करे, कितनी भी बाधा डाले और कुछ भी बात कहे तो वह एक विशुद्ध ज्ञान करनेके कार्यमे कुछ भी अटक नही डाल सकता है।

मात्र ज्ञानभावसे मोहका प्रक्षय—प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त जुदे-जुदे है, अपने-अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अस्तित्व रखते है, किसी भी पदार्थसे रच भी सम्बन्ध नही है। एक सघातरूपमे वस्तु स्कधरूप, चौकी, तख्त, भीत, खम्भा आदिक किसी भी पदार्थमे अनन्त परमाणुवोका समूह है ना, वहाँ भी प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको लिए हुए

है। कही दो परमाणु मिलकर एक सत् नही बन जाते है। इतनी तो वस्तुवोमे परस्पर भिन्नता है, ऐसी भिन्नता गृहस्थ समझना चाहे तो क्या समझ नही सकते है? बस इसीके मायने है मोहका क्षय होना। निर्मोह गृहस्थ अभी चूँकि गृहस्थ जैसी परिस्थितिमे वह है, रागद्वेषका त्याग नही कर सकता लेकिन मोह तो पूर्णरूपसे छोड सकता है। क्या सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हुआ नही करते? होते है।

अचलित स्वरूपश्रद्धानका कर्तव्य—अपना निर्णय तो निर्मोह परिणाम रखनेका होना ही चाहिए। मुझे तो सही ज्ञान बनाये रहना है, ऐसे निर्णयसे रंच भी विचलित न हो। कभी ऐसे भी वज्रपात हो कि जिनके भयसे ये तीन लोकके जीव भी अपना मार्ग छोड दे, पर इस निर्णयको रखनेमे हम कोई कमी न रखें। मैं सबसे न्यारा एक अमूर्त ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व हू, इसका कोई क्या बिगाड करेगा? डर लग रहा है जो कुछ यह स्वरूपकी सभाल न होनेसे और परवस्तुवोमे राग अथवा मोह होनेसे यह सब डर लग रहा है। जहाँ परपदार्थोंमे मोह नही रहा, राग नही रहा वहाँ डर किस बातका? लो बाबा यह मैं इतना ही ज्ञानानन्दमात्र हू, लो तुमको हम नही सुहाते, चले यहाँसे। जहाँ जायेंगे वहाँ ही हम ज्ञानानन्दस्वरूप रहेगे, अर्थात् मरण प्रसग भी हो तो लो क्या हर्ज हुआ? लो चले यहाँसे। हम हम ही हैं, मैं मुझमे ही हू। मै अपना ही अपने लिए सर्वस्व हू। ऐसे अपने एकत्वकी ओर जिसका दृढ झुकाव है ऐसे पुरुषको कहाँ भय है?

अमृतस्नान—जो पुरुष निर्मोह होकर, वीतराग होकर ससारसागरको पार करता है वह स्वरूप रूप जो परम अमृतसमुद्र है उसमे अवगाह करके शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होता है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है ही। इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मापर जो और लेप चढ गया है, जो इसमे विकार आया है उस विकार धूलसे उस लेपसे विमुक्त होनेमे जैसा यह स्वच्छ ज्ञानानन्द मात्र है बस वही प्रकट रह गया, इस ही अवस्थाका नाम है मोक्ष। तो हे भव्य जीव! यदि निर्वाण चाहते हो तो एक ही निर्णय रखो, निर्मोह बनो और सर्वपदार्थोंमे राग मत करो याने किसीमे भी राग मत करो। वीतराग बनकर ससारसागरसे तिरकर एक मोक्षरूपी अमृत समुद्रमे अवगाहकर परमशान्ति प्राप्त करो। ऐसा इस गाथामे वीतरागताका उत्साह देनेके लिए अन्तिम उपदेश है।

स्नेहका बन्धन—ससारमे अनुभवमे आने योग्य जितने भी बन्धन है वे सब बन्धन मोह और स्नेह भावसे है, यह बात कुछ विवेक करनेपर अनुभवमे आ जाती है। बन्धन तो मोह और स्नेहके पीछे लगा हुआ है। किसी विषयसाधनमे स्नेह है और उसमे कोई बाधक बन रहा है तो उससे द्वेष होता है। द्वेष होनेके मूलमे भी कोई न कोई राग कारण है। यो एक स्नेहको ही कह लो कि यही बन्धन है। जिसे बन्धनसे छूटना हो, मुक्तिका आनन्द लूटना

हो उसका कर्तव्य है कि जिस किसी भी प्रकार यह स्नेहभाव दूर हो सके, ऐसा यत्न करे। जो निकटभव्य जीव है वह स्नेहभावको दूर करनेके लिए बड़ी विभूतियोका भी क्षणमात्रमें परित्याग कर देता है। सर्वोपरि करुणा आत्मकल्याण है। अन्य स्नेहोकी तो चर्चा दूर ही रहो। परमात्मप्रभुमे भी पहुचा हुआ अनुराग, यद्यपि वह धर्मानुराग है, पर उस अनुरागमे भी पद्धति तो राग वाली ही है। अतएव इतना भी रागका लेश स्वर्गलोकके बधन और क्लेश का कारण होना है। तब जिन्हे साक्षात् मोक्षकी इच्छा है वे किसी भी पदार्थमे राग न करके वीतराग होकर ससारसमुद्रसे तिरकर केवल शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप निज अमूर्त मुधा समुद्रमे अवगाह करके शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेते है। इस सम्वधमे वहुत विस्तार करनेसे क्या लाभ है ? अव जरा सारभूत तत्त्वपर एक बार फिर आइये।

शास्त्रतात्पर्य—इस शास्त्रका तात्पर्य है वीतरागता। इस वीतरागताके लिए स्वस्ति हो, नमस्कार हो और यही उपादेय है, इस प्रकारकी वुद्धिपूर्वक इसकी ओर आवर्षण हो। स्वस्ति शब्दमे दो शव्द मिले हुए है—सु और अस्ति। सु का अर्थ है भली प्रकार अस्ति मायने होना, भला होना। स्वस्तिमे नमस्कार और आशीर्वाद एव जयवाद तीनोमे समन्वय होकर जो कुछ एक भाव वनता है उस भावसे प्रयोजन है स्वस्तिका। मोक्षमार्गका सारभूत यह वीतराग भाव ही है। वीतरागता ही मोक्षका मार्ग है। इस समस्त शास्त्रका तात्पर्य भी वीतरागता है, वह वीतरागता जयवत हो। कुछ भी व्यक्त किया जाय उसमे दो तात्पर्य होते है—एक तो शव्दतात्पर्य और एक आशयतात्पर्य, जिन्हे प्रसगमे यो कह लीजिए—एक सूत्र-तात्पर्य और एक शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक सूत्रमे वता ही दिया गया है। प्रत्येक गाथामे गाथाके समय गाथाका क्या अर्थ है, क्या भाव है, यह वता दिया गया। अव एक वार उन समस्त सूत्रोमे जैसे समुच्चय रूपसे तात्पर्य जानना है उसका नाम है शास्त्रतात्पर्य। एक वाक्यका भाव और एक समग्र वक्तव्यका भाव। वाक्यके भाव तो प्रति वाक्यकी सीमा तक रहते है, उसका आगेके वक्तव्यसे और पीछेके वक्तव्यसे सम्वन्ध नही है, परन्तु समस्त वक्तव्य का भाव, उसमे समग्र वाक्य भी सम्मिलित है और जो कुछ न कहा गया हो, अव कहा हो वे सव चूलिकाके विपय भी सम्मिलित हैं। इस शास्त्रका तात्पर्य परमार्थसे वीतरागभाव ही है।

शास्त्रकी परमेश्वरता—यह शास्त्र परमेश्वर है, परमेश्वरसे आया हुआ है। प्राय: सभी धर्म वाले अपने-अपने शास्त्रोको ईश्वरके वनाये अथवा ईश्वरके भेजे आदिक रूपसे मानते है। ये जैनशासनके आगम ये परमेश्वरके वनाये नही है, परमेश्वरके भेजे नही है, फिर भी इन समस्त आगमोका परमेश्वरसे मौलिक सम्बन्ध है। परमेश्वर अरहंत भगवान जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी है उनकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे यह समस्त आगम आया हुआ है। भगवानके सम-

वशरणमे बहुत बडी विशाल रचना होती है, वहाँ दर्शनीय १२ सभायें होती है, उन सभावोमे किसीमे मुनिराज बैठे है, किसीमे श्रावक अर्जिकाएँ है, किसीमे श्रावक है, किसीमे भवनवासी आदिक देव है, किसीमे उनकी देवागनाएँ है, किसीमे तिर्यञ्च बैठे है, इस प्रकार उन १२ सभावोमे सभी प्रकारके श्रोतागण होते है। समस्त श्रोताओमे मुख्य और धर्मसञ्चालक गणधर देव होते है।

आगमकी निर्दोष परम्परा—मुनिराजोमे जो मुख्य है, गणोको धारण करने वाले हैं वे गणधर और उन गणधरोमे भी प्रमुख गणधर जिनको गणेश भी कह सकते हैं वे नरलोक के समूहमे सरस्वतीके प्रधान अधिपति है, विद्यावोके प्रधान अधिपति हैं और इसी कारण विद्यारम्भके समयमे गणेशका स्मरण किया जाता है। गणेश अर्थात् दिग्गज आचार्य, मुनिजन आचार्य, उपाध्यायजन समस्त गणोके स्वामी प्रधान है। जैसे महावीर स्वामीके समयमे गौतम गणेश हुए है, इसी तरह चौबीसो तीर्थंकरके समयमे प्रमुख एक गणेश हुए है। दिव्यध्वनिको सुनकर इन गणधर देवोने द्वादशागकी रचना की और गणधरोसे अन्य आचार्योंने अध्ययन किया। आचार्योंसे बडे मुनियोने अध्ययन किया, और यह परम्परा निर्दोष अब तक चली आ रही है कि इस परम्परामे श्रद्धासे सहित होकर जो कोई भी साधारण भी गृहस्थ कवि लेखक अपनी लेखनी चलाता है तो उस ही आगमके अनुसार अर्थविस्तार करके लेखनी चलाता है। यो यह आगम परमेश्वरसे प्रणीत है, परमेश्वरसे लाया हुआ है, परमेश्वरके द्वारा प्रज्ञप्त है अर्थात् जताया हुआ है, ऐसा यह परमेश्वर शास्त्र है।

शास्त्रका तात्पर्य वीतरागभाव—इस परमेश्वर शास्त्रका तात्पर्य एक वीतराग भाव है। शास्त्रोका हितकर और सारभूत एक ही उपदेश है जो राग करता है वह कर्मोंसे बँधता है, जो राग नही करता वह कर्मोंसे छूटता है, इस कारण मुक्तिका आनन्द चाहने वाले सत जनो को समग्र पदार्थोंसे रागभावका परित्याग करना चाहिए। यहाँ इस शास्त्रका तात्पर्य बता रहे है। पहिले तो शास्त्रकी विशेपता ही समझ लीजिए। कितना विशिष्ट यह ग्रन्थ है ?

शास्त्रमे मोक्षतत्त्वकी प्रतिपत्तिके कारणकी विशेषता—इस ग्रन्थमे समस्त पुरुपार्थोंमे सार अथवा समस्त पुरुषार्थोंका सारभूत जो मोक्षतत्त्व है उस मोक्षतत्त्वकी प्रतिपत्तिका कारण है। इसमे मोक्षतत्त्वके स्वरूपका प्रकाण मिला है। इस ग्रथमे समग्र वस्तुवोका स्वभाव दिखाया गया है। वस्तुवोका स्वभाव एकदम सीधा कैसे दिखाया जाय जब तक उस वस्तुका व्यवहार कथनसे उसकी विशेषताएँ न बतायी जायें ? अत पदार्थकी विशेषताओका प्रतिपादन भेद प्रभेद करके किया है।

विशेषताके प्रकार—विशेषताएँ दो प्रकारकी होती है—एक तिर्यक् विशेष, एक ऊर्द्ध-विशेष। जैसे किसी चौकीकी विशेषता जाननी है तो चौकीकी विशेषता जाननेकी दो पद्धतिया

है, एक तो विस्तार रूपमे समझें यह इतनी लम्बी-चौडी है, इसमे ऐसी-ऐसी रचनाएँ है—एक तो यो फैलावमे दिख सकने वाली विशेषतावोका जानना और एक कल क्या था, आज क्या है, इस प्रकार कालभावसे इसकी अवस्थाओका परिज्ञान करना। इस ही प्रकार समग्र वस्तुवोंके जाननेके दो ही तरीके है—एक किसी भी एक वस्तुमे एक साथ फैलावरूप क्या-क्या विशेपताएँ है इसे समझना, इन विशेपताओका नाम है गुण। प्रत्येक पदार्थमे एक साथ रहने वाला विस्तार क्या है ? जैसे आत्मामे ज्ञान, दर्शन, आनंद, शक्ति, सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व कहा जाय ये एक साथ ही अनेक है, इसलिए समझमे इसका तिर्यक् फैलाव बन जाता है। दूसरी विशेषता है ऊर्द्धविशेपता। इस आत्माका पूर्वकाल किस परिणतिमे व्यतीत हो, इस समय किस प्रकार व्यतीत हो रहा, इन विशेपताओका नाम है पर्याय। तो इन गुण और पर्याय तिर्यक् विशेप और ऊर्द्ध विशेपको समझानेके ढगमे वताये गए ५ अस्तिकाय और ६ द्रव्योका जो स्वरूप है उस स्वरूपसे फिर वस्तुके स्वभावका दर्शन कराया गया है।

अस्तिकाय व द्रव्य शव्दसे तिर्यग्विशेष व ऊर्द्धवताविशेपका संकेत—अस्तिकाय व द्रव्य—इन दो शव्दोमे ही देख लीजिए कि उन वस्तुवोका प्रतिनिधित्व आ गया है। अस्तिकाय शव्द तिर्यक् विशेपकी ओर सकेत करता है प्रमुखतासे और द्रव्य शव्द पर्यायोकी ओर सकेत करता है प्रमुखतासे, अस्तिकाय कहनेसे किसी परवस्तुका जितना फैलाव है, जितना प्रदेशोंमें विस्तार रहता है उतने प्रदेशोमे दृष्टि गयी है तव यह तिर्यक् परिज्ञान हुआ। उस तिर्यक् परिज्ञानमे गुणोका परिज्ञान है। द्रव्य किसे कहते है ? द्रव्यका भी अर्थ यही है कि जिसने पर्यायोको प्राप्त किया था, जो पर्यायोको प्राप्त कर रहा है, जो पर्यायोको प्राप्त करता रहेगा उसे द्रव्य कहते है। इस द्रव्य शब्दकी विशेषताने पर्यायकी ओर दृष्टि दिलायी। यो गुण-पर्यायोके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए इस ग्रन्थमे वस्तुस्वभावको दिखाया गया है।

ज्ञानमे भेदसे अभेदकी ओर व अभेदसे भेदकी ओर ले जानेकी पद्धति—कल्याणार्थी पुरुप पहिले भेदसे अभेदकी ओर आता है और फिर यह भी हो सकता है कि यह अभेदसे भेदकी ओर जाय। पर अन्तमें पुरुपके लक्ष्यकी पूर्ति इस मोक्षमार्गके प्रसंगमे जो उद्देश्य बनता है उसकी पूर्ति भेदसे अभेदकी ओर आनेमे होती है। संसारके जीव शुभ भावोंमे ही परिचित है। अभेदस्वरूप, एकत्वस्वरूप अद्वैतभाव इनसे परिचित नही हैं। तव इस भेददृष्टि वालेका क्या कर्तव्य है कि वह इस प्रकारका यथार्थ परिज्ञान करे कि भेदसे उठकर ऊपर चल कर यह अभेदस्वरूपमे जाय। अभेदस्वरूपमे जानेके वाद पूर्व संस्कारके कारण किसी भी जीव मे यह सामर्थ्य नही हुई कि यह प्रथम ही भेदसे अभेदमे पहुंच गया तो उस अभेदमे ही रम जाय, अतएव उसे हजारो वार अभेदसे भेदमें आना होता है, भेदसे अभेदमे जाना होता है सो हजारो वार परिवर्तन करनेके पश्चात् जीवका कल्याण तव ही होता है जव भेदसे अभेदके

पहुच कर स्थिर हो जाय तो पहिले गुणपर्यायोके कथनसे भेदका निर्णय किया।

भेदके यथार्थ निर्णयका विवेक—ये ससारी जीव भेदका भी तो सही निर्णय किए हुए नही है। भेदका सही निर्णय ही तो व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। भेदसे निर्णय यो हुआ कि यह वस्तु है, इतना प्रदेशवान है, इसमे अमुक-अमुक गुण है, इसकी इस ही प्रकारकी पर्यायें है। भेदज्ञान करनेके बाद फिर समेट होता है। इन सब गुणपर्यायोका जो समूहरूप एकत्व है वह है पदार्थ। अच्छा, तब इसका स्वभाव क्या है ? तो स्वभाव छिन्न-भिन्न नाना नही है, किन्तु वह एक रूप है। इस तरह भेदके द्वारसे यह अभेद धाममे पहुचा। वहाँ पहुचने के बाद फिर अभेदसे भेदकी ओर भी चल देता है। यो फिर भेदसे अभेदकी ओर आता है। इस प्रकारके तत्त्व कौतूहली बनकर भव्य जीवोने वस्तुके स्वभावका दर्शन किया है, यह सब इन ही शास्त्रोंसे जाना गया है।

समस्त वर्णनोका तात्पर्य वीतरागभावकी उपादेयता—यह शास्त्र निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्गका भली प्रकार वर्णन करता है। इस मोक्षमार्गकी चूलिकामे व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्गका विश्लेपण करते हुए व्याख्यान किया है। इस ग्रन्थमे बन्ध और मोक्षके भेदपर भी प्रकाश डाला है। जो बध और मोक्षके आयतन है अर्थात् उस बध विधिके भावसे चले तो बन्धन होता है और उस मोक्ष-विधिके भावसे चले तो मोक्षमार्ग मिलता है। यह सब भी, नौ पदार्थोंका वर्णन करने वाले अधिकारमे बध और मोक्षका भी स्पष्ट वर्णन किया है। सब कुछ वर्णन करनेके अनन्तर बात यही मिलेगी कि इन शास्त्रोंके हृदयमे वीतरागताका ही स्थान है। साक्षात् मोक्षका कारणभूत यह वीतराग भाव है।

वीतरागभावसे समस्त सुलझेरा—उस वीतराग भावमे शास्त्रका समस्त हृदय विश्रात हो गया है। शास्त्रमे भी जितना कथन है उस समस्त कथनका हृदय भी वीतरागभाव है जिस भावमे सब कथन विश्रान्त है। बहुत-बहुत वर्णन करनेके बाद अन्तमे जब पूछा जाता है कि इसका सार तो बतावो, इसका ताप्पर्य तो बतावो ? तो उसका यही उत्तर है कि वीतरागता ही इस शास्त्रका तात्पर्य है। शास्त्रके अध्ययनका फल लेना हो तो अपने जीवनमे योग्य ज्ञान बनाकर यही उद्यम करना चाहिए कि हममे वीतरागताका आधिक्य प्रकट हो। यद्यपि बहुत-बहुत प्रकारके साधन ऐसे लगे हुए रहते है कि जो विभिन्न हैं और जिनका मुकाबला और निपटाराका सुलझेरा करना भी कठिन होता है, फिर भी सम्यक्त्वके माहात्म्य से यथासमय सुलझेरा हो ही जाता है।

रागका विषय परपदार्थ—भैया! सच बात तो यही है कि इस जीवको जितने भी राग लगते है वे सब परपदार्थोंमे ही तो लगते है। निज पदार्थमे कहाँ राग है ? कदाचित् कोई जीव निजपदार्थमे भी राग करे तो जब तक वह निज पदार्थकी पर-जैसो शकल बनाये

रहता है तब तक राग रहता है। जैसे मै अपनी करुणा करूँ, अपना काम साधू, अपने आपमे ही रूप बनाता है तो जिस समय यह रूप बनाता है उस समय इस जीवको जो सहज ज्ञायकस्वरूप है, अपने वह लक्ष्यमे नही है और इस निजको अन्य-अन्यरूपमे लक्ष्यमे लिए है तब इसकी ओर राग है। शुद्ध परमार्थ निजस्वरूप ज्ञात हो तो वहाँ राग नही रहता, किन्तु रागरहित अवस्था होती है। समता और स्वास्थ्यभाव वहाँ प्रकट होता है।

खुदकी बेसुधीमें बाह्यविडम्बना—बाह्यपदार्थोका समागम, ये कही मुझमे राग अथवा उपद्रव उत्पन्न नही कर रहे है, यह मै ही खुद अपने स्वरूपकी सभालमे न रहकर रागवश अन्य पदार्थोंको अपने सुखका साधन समझकर हम उनमे राग किया करते हैं। सच पूछो तो जिस शरीरसे हम आप राग रख रहे है यह शरीर क्या है ? इन्द्रियोका समूह ही तो है। यह सारा शरीर जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ भी छूनेमे आता है यह सब स्पर्शनइन्द्रिय ही तो है। यह ऊपरकी त्वचा स्पर्शनइन्द्रिय है और यदि यह त्वचा अलग हो जाय और यह मासका खण्ड ही ऊपर रहे तो क्या यह मांसखण्ड स्पर्शनज्ञानका काम नही करता ? वह भी स्पर्शन इन्द्रिय है। इस मासको भी थोडा काटकर निकाल ले तो अन्दर जो कुछ है, क्या वहाँ स्पर्शनका बोध नही होता ? क्या है यह शरीर ? स्पर्शनइन्द्रियका कितना बडा विस्तार है इस देहमे ? शेष चारइन्द्रियोका तो बहुत-सी छोटी जगहमे स्थान है और इस स्थानमे भी स्पर्शनइन्द्रिय तो बनी हुई ही है, उसके भीतर किस प्रकारकी ये गुप्त अन्य इन्द्रियाँ पडी हुई है ?

इन्द्रियोमे ज्ञानानन्दस्वरूपकी बाधकता—ये इन्द्रिया हमारे सुखकी और ज्ञानकी साधन बन रही है, पर वस्तुत ये हमारे सुख और ज्ञानकी बाधक है, हमारी सहजनिधिका विघ्न करने वाली है, किन्तु ऐसे बन्धनकी स्थितिमे जो कुछ ज्ञान और सुख पानेके लिए निमित्तरूप सुविधा मिली है यह मोही जीव इसी कारण इन इन्द्रियोमे आसक्त हो जाता है। इन इन्द्रियोको आचार्यदेवने हतक शब्दसे प्रयोग किया है। हतक एक अपशब्द है। हतक मायने है हत्यारा अथवा नाशका मिटा। ये हत्यारी इन्द्रिया नाशकी मिटी, इन इन्द्रियोमे इस मोही जीवका अनुराग पहुच रहा है और इस कारण हमारे साधनभूत बाह्य अर्थोमे भी अनुराग पहुचता है। तब हमारा कर्तव्य यह है कि इन इन्द्रियोसे भिन्न ज्ञायकस्वरूप निज अतस्तत्त्वका अनुभव करें। यो भेदविज्ञान करके निज अभेद ज्ञान द्वारा इन समस्त सकटोको दूर करें और वीतरागताका आदर करे। इन समस्त शास्त्रोका तात्पर्य वीतराग भाव ही है। ऐसा जानकर वैराग्यकी ओर अपना उद्यम होना चाहिए।

वीतरागभावकी अनुगम्यमानता—मोक्षमार्गका प्रधान साधनरूप यह वीतरागभाव व्यवहार और निश्चयके अविरोधपूर्वक ही जो अनुगम्यमान होता है, विज्ञात होता है, बर्तनामे

आता है वह वीतरागभाव इष्टसिद्धिके लिए होता है । इस मोक्षमार्गी जीवका इष्ट है मोक्षकी प्राप्ति । मोक्षकी प्राप्तिका कारण है वीतरागभाव । वीतरागभाव उनके ही प्रकट होता है जो निश्चय अथवा व्यवहारनयमे किसीका एकान्त पक्ष नही रखते, और दोनो नयोका विरोध न करके जो परखमे आता है, जो परिणतिमे आना है ऐसा वीतरागभाव मोक्षमार्गका कारण है । अब इस व्यवहारनयका और निश्चयनयका अविरोध कह रहे है और किस ढगसे इस मार्गमे चलना चाहिए, इसका वर्णन कर रहे है ।

भिन्न साध्यसाधनभावके प्रदर्शनकी आवश्यकता—सबसे प्रथम जो प्राथमिक जन है, जो इस कल्याणमार्गमे प्रवेश करने वाले है वे पुरुष व्यवहारनयके बलसे भिन्न साध्यसाधनका आलम्बन लेकर सुखपूर्वक इस तीर्थमे प्रवेश कर सकते है । जिन जीवोको अनादिकालसे अब तक भेदकी ही बुद्धि लग रही है, भेदमे ही वासना बनी रही है और अनुकूल भेदमे भी नही, किन्तु अनाप-सनाप जैसा चाहे भेदमे जिनकी बुद्धि लग रही है ऐसे जनोको यदि प्रथम ही अद्वैत अखण्ड चैतन्यस्वभावका उपदेश दे और उसके ही आलम्बनके लिए अनुरोध करें तो उनसे क्या बनेगा ? जो अब तक पचेन्द्रियके विषयोकी ओर रत रहे आये, इतना विपरीत भेद मे बढ गये, अपनेसे अत्यन्त भिन्न देह विभाव आदिको अपनाते रहे, उतना अत्यत अभेद वाले पदार्थोमे जो जुडते रहे, ऐसे लोगोको प्रथम तो भिन्न साध्य और भिन्न साधनका उपदेश दिया जाता है ।

भिन्न साध्यसाधनभावका समवलोकन—देखिये मुक्ति चाहिए हो तो जो मुक्त हुए है ऐसे देवोकी श्रद्धा रक्खो । उस मुक्तिका उपाय जिन ग्रन्थोमे बताया है उन ग्रन्थोमे कोई शका न करो । विनयपूर्वक उन ग्रन्थोका अध्ययन करो, और जो मुक्तिके मार्गमे लग रहे है ऐसे साधु सतोकी सेवा करो । यो भिन्न साधनोका अवलम्बन कराया जाता है और हुआ भी सभीको ऐसा । जो पुरुष आज निश्चयनयकी कथनीमे अनुरञ्जित है अथवा निश्चयनयकी ओर झुकाव जिनका आ गया है उन पुरुषोने क्या जन्म लेनेके बाद ही यही रुख एकदम पा लिया था ? कैसी प्रवृत्ति, कैसा व्यवहार रहा, उससे यह स्पष्ट है कि इन प्राथमिक पुरुषोको सर्व-प्रथम इस भिन्न साध्यसाधनका आलम्बन लेना पडता है तब वे सुगमतासे सुखपूर्वक तीर्थमे अवगाह लेते है अर्थात् इस धर्मको धारण करनेके पात्र बनते है ।

व्यवहारावलम्बन—अब धर्मविधिकी इस बातको स्पष्ट करते है । यह तत्त्वश्रद्धा करने योग्य है और यह तत्त्वश्रद्धाके योग्य नही है । यह श्रद्धान करने वाला है और यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान है, यह ज्ञेयपदार्थ है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह आचरणके योग्य नही है, यह आचरण किया गया है, यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह करने वाला है, यह किया जा रहा है आदिक विभावोका जब अवलोकन होता है तो उससे इसमे एक

उत्साह जगता है। प्राथमिक पुरुष कबसे मोक्षमार्गका उत्साह प्राप्त करता है ? जबसे वह इस ज्ञानमार्गमे चला और भिन्न-भिन्न रूपसे तत्त्वका निर्णय करने लगा तबसे इसे मोक्षमार्गमें उत्साह बढता है, यही हुआ ना भिन्न साध्यसाधनभाव, व्यवहारनयका आलम्बन। यह तो प्राथमिक पुरुषकी प्रारम्भकी कहानी है, लेकिन क्या इतने तक ही वह फसा रहे ? यदि यह साथ ही रहता है तो उसे सफलता न मिलेगी तब धीरे-धीरे वह मोहमल्लका उन्मूलन करता है।

आत्मानुभूति और मोहमल्लमर्दन—भैया ! अपने ही अनुभवसे ऐसा निर्णय करो कि जिस देहमे यह मैं प्रतीति कर रहा हू, यही मै हू, ऐसा मिथ्या श्रद्धान करने वाले पुरुषको जब कभी भी सम्यक्त्व प्राप्त करनेका आरम्भ होगा, यह मैं नही हू—इस देहसे यो हटेगा तो सर्व प्रथम तो यह जानकारी आयगी ही कि इस शरीरका ध्यान ही न करके जो शुद्ध सहज आत्मतत्त्व है उस आत्मामे रति बन जाय, अनुभूति हो जाय। आत्मोन्नतिका, मोहमर्दनका यह काम धीरे-धीरे होनेका है। जैसे किसी मल्लोकी लडाईमे जहाँ मल्लयुद्ध हो रहा हो तो कोई भी मल्ल दूसरेको गिराकर उसे धीरे-धीरे उन्मूलन करता है। जैसे कुश्ती वाले लोग जानते ही है, इसी तरह इस ज्ञानका और इस मोहका आज यह कलह हुआ है अर्थात् मोह ज्ञानपर हामी जो बना हुआ था आज ज्ञानको सुध जगने लगी है, और यह ज्ञान मोहमल्लको हटाना चाहता है तो वह ऐसी ही भेदभावनासे हटाकर इस मोहमल्लका उन्मूलन करता है। किसी कारणसे और प्रमादके आधीन होकर अपने आत्माको शिथलित भी कर देता है। जैसे गृहस्थोमे यह अवस्था गुजरती है, कभी धर्मकी सुध हुई, कभी फिर ममतामे रम जाता है, कभी खेद करते, धर्मके लिए उत्साह जगता, फिर अधिक देर तक धर्म नही टिक पाता है। उसी ममतामे फिर पग जाते है। ऐसे ही प्राथमिक जनोमे भी हो क्या रहा है कि मद और प्रमादके आधीन हो जाते है। मद मायने अहकार।

गतियोमे कषायोकी मुख्यताका विश्लेषण—चारो गतियोंके कषायोकी पृथक्-पृथक् मुख्यता है। नरकगतिमे क्रोध कषाय प्रधान है, तिर्यञ्चगतिमे मान कषाय प्रधान है। तभी देखा होगा कि बिल्ली कैसा मायाचारसे चूहेपर झपटती है और अन्य-अन्य भी पशु अपना अपना योग्य मायाचार रखते है ? हम आप नही समझ पाते उनकी बात। लेकिन प्रकृति ऐसी है तिर्यञ्चगतिके जीवोकी कि उनमे मायाचारकी प्रधानता है। देवगतिमे लोभ कषाय की प्रधानता है और मनुष्यगतिमे मान कषायकी प्रधानता है। देखलो इस मान कषायके पीछे अपना तन, मन, धन सर्वस्व होम सकते है। मनुष्योमे मान कषायकी प्रधानता है, यह बात आँखो दिख भी रही है लोकव्यवहारमे। तो यह मनुष्य कभी मदके आधीन हो जाता है और कभी प्रमादके आधीन हो जाता है, तब आत्माका अधिकार इनके शिथिल होने लगता है।

ज्ञानीकी प्रचण्ड दण्डनीति—आत्माधिकार जिसका शिथिल होने लगता है ऐसे आत्माको न्यायपथमे लगानेके लिए प्रचड दडनीतिका प्रयोग भी बताया गया है उसे वह करता है। खाना छोड दिया। आज भाव आया कि अमुक चीज खानी है तो क्यो आया ऐसा भाव ? लो आज यह चीज ही छोड दिया। यह क्या है ? आत्माधिकार जिमका शिथिल होने लगता है उसके लिए यह दड है और जितने भी व्रत है, नियम है ये सब क्या है ? ये सब दण्डस्वरूप हैं, इतना ही तो फर्क है। अज्ञानी जन तो ऐसा समझकर कि मैं व्रती हू, मेरा यह करनेका काम है ऐसा उत्साह रखकर किया करते है, किन्तु ज्ञानी जन ऐसा सोचते है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हू, उसे नही पा रहा हू अतएव उसमे विरोध डालने वाले विषयकषायोको हटानेके लिए मैं यह प्रयत्न कर रहा हू और इसे मै एक दण्ड समझता हू। तो जब आत्माधिकार शिथिल होता है तब दड नीतिका यह जीव प्रयोग करता है। फिर बार-बार दोषोके अनुसार प्रायश्चित लेता है।

स्वरूपच्युतिके अपराधका प्रायश्चित्त—देखो भैया ! अपने आपको जिसने प्रायश्चित्त दिया है ऐसा इस ज्ञानी पुरुषमे व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनोका कैसा अविरोध चल रहा है ? दोष तो इस जीवके लगते रहते है और ज्ञानी पुरुष उन दोषोका दड भी लेता रहता है। सयममार्गणामे प्रथम दो सयम कहे गए हैं—सामायिक और छेदोपस्थापना। छठे गुणस्थानमे तो ये दोनो खूब समझमे आते है कि वहाँ समतापरिणाम भी करता है और बराबर विचलित भी होता जाता है। लोगोको देखकर उनको शिक्षा दीक्षा देकर किसी भी प्रकार जब फलित हो जाता है अपने उत्कृष्ट मनसे तो छेदोपस्थापना कर लेता है। उनमे कोई दोष ही बन गया, अपने नियमके विरुद्ध कार्य भी बन गया तो उसकी सभाल करता है।

छेदोपस्थापनाका अन्तर्मर्म—देखो भैया ! छठे गुणस्थानमे तो सर्वविदित है कि छेदोपस्थापना हो गई, किन्तु ७वें, ८वे और ९वें गुणस्थान तक जहाँ अनिवृत्तिकरण परिणाम हो गया, एकसा ही जहाँ सबका परिणाम रहता है वहाँ भी छेदोपस्थापना बताया है। इसका मतलब क्या है ? इसका तात्पर्य यह है कि यह साधु रागद्वेषको त्यागकर समतापरिणाममे लगा है, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहे इस प्रयत्नमे लगा है। इस प्रयत्नमे लगनेके मायने ही यह हैं कि लगते हुएके बीच-बीच कुछ कुछ शिथिलता आती है और फिर उसको ज्योका त्यो उपस्थित करता है। कोशिशमे लगना इसका अर्थ क्या है ? उसके साथ-साथ शिथिलता भी चलती रहती है और उस शिथिलताका परिहार भी चल रहा है उसे कहते है कि कोशिशमे लगा है। शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना यह बहुत उच्च कार्य है।

समतामे लगनेका पुरुषार्थ—पदार्थोंके केवल जाननहार रहे, वहाँ इष्ट अनिष्टकी कल्पनाएँ न जगें, किसी भी प्रकारका सूक्ष्मरूपसे भी सुहावना और असुहावनाका भाव न बने, लो

अभी कुछ अगला हो रहा था अब विधागमसा मालूम पड़ने लगा। इतना भी भेद जहाँ न जगे ऐसी केवल जाननहारकी स्थिति कितने उत्कृष्ट पुरुषार्थकी परिस्थिति है ? इस कामको करते हुए अबुद्धिपूर्वक जो समझमें नहीं आता ऐसी उस समताकी गलीमें कुछ-कुछ शिथिलताएँ होती हैं, त्रुटियां होती हैं तो पुनः फिर उस ही साम्यभावमें लगनेका जो प्रवर्तन है वह है छेदोपस्थापना। यों कह लीजिए कि बराबर वह समतामें लग रहा है तो समतामें लगनेका जो प्रतिपक्ष यत्न है वह छेदोपस्थापना है, और जो समतामें लगा रहे वह सामायिक है।

आत्मसंस्कारका अधिरोपण—शिवमार्गमें चलते हुए साधुके शेष रागके कारण दोष लगते रहते हैं, उन दोषोंका वह प्रायश्चित लेता है और सदैव उस समतापरिणाममें ठहरनेके लिए उद्यमी होता है। ऐसे इस आत्माके हुआ क्या कि भिन्नविषयक श्रद्धान ज्ञान और आचरणके द्वारा इसने एक संस्कार प्राप्त किया। जैसे एक मोटे रूपमें ही देखिये—हम आप लोग बचपनसे ही किस-किस प्रकारसे अपने संस्कारोंको बनाते चले आये हैं। आज इतनी धर्मरुचि हुई है, भक्ति है, तन, मन, धन, वचन सब कुछ धर्मके लिए न्यौछावर कर सकते हैं, इस तरहकी जो आज तैयारी है उस तैयारीसे पहिले जो-जो संस्कार बने हैं, कबसे बने हैं, किस प्रकार बने हैं उनपर दृष्टि डालें तो वे विभिन्न प्रकारकी स्थितियोंमें बने हैं। ८-१० वर्षकी उमरमें किस प्रकारसे संस्कार जमते थे, अब बड़ा होनेपर किस प्रकारके संस्कार जमने लगे ? कुछ ज्ञान विशेष जगनेपर इस आगमके बलसे किस प्रकार संस्कार अधिरोपित करने लगे। इन सब भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंमें इसने संस्कारोंको ही दृढ़ किया है तो यह मोक्षमार्गी जीव भिन्नविषयक श्रद्धा यानि भेदरूप सम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्रसे अपने संस्कार दृढ़ करता है।

भिन्न साध्यसाधनभावका उपयोग—अब जैसे धोबी मलिन वस्त्रको सोडा, क्षार, साबुन इत्यादि भिन्न साधनोंके द्वारा स्वच्छ करता है ऐसे ही यह प्राथमिक मोक्षमार्गी जीव भिन्न साध्य साधनोंका व्यवहारनयका आलम्बन करता है और उस भिन्न साध्यसाधनभावके द्वारा गुणस्थानोंपर चढ़नेकी परिपाटी बनाता है, विशुद्ध होनेका यत्न करता है। फिर उन ही मोक्षमार्गके साधक जीवोंके निश्चयनयकी मुख्यतासे फिर भेदस्वरूप परावलम्बन व्यवहारनय भिन्न साध्यसाधनका अभाव हो जाता है। जैसे धोबी सर्वप्रथम तो साबुन, सिला, पानी ऐसी भिन्न-भिन्न चीजोंका आलम्बन लेकर वस्त्रको धीरे-धीरे उज्ज्वल करनेका उद्यम करता है और इन भिन्न साध्यसाधन द्वारा इस वस्त्रमें कुछ स्वच्छता आयी तो उसके प्रकट होनेके बाद फिर उसकी ही स्वच्छता बढ़ाता है ऐसे ही उपयोगमें। ऐसे ही व्यवहारनयका आलम्बन लेकर देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति आदिक साधनोंके अवलम्बन इन भिन्न साधनोंके द्वारा आत्माके इस विशुद्धि और स्वच्छताको प्रकट करता है और इस [illegible]

आत्मामे ही अपने आपको साधन बनाकर अपने आपके ही उपयोग द्वारा अपने आपमे ही उस साध्यका विकास करनेका यत्न करता है ।

व्यवहारके अविरोधपूर्वक निश्चयमे प्रगति—भैया ! आत्मशुद्धिमे अन्तिम प्रयोग तो उपान्तिम प्रयोग तो यह निश्चयनयका किया इसने, किन्तु प्रथम अवस्थामे व्यवहारनयका आलम्बन लेकर यह जीव बढा था तब यह उसी रजककी नाई धीरे-धीरे विशुद्धिको प्राप्त करके निश्चयनयका यह मोक्षमार्गी आलम्बन लेता है । जैसे उस रजकको वस्त्रमे सफेदी लाने के लिए बाह्य साधनोका आलम्बन लेना पडता है ऐसे ही यह मोक्षमार्गी निश्चयनयका आलम्बन लेता है । इन भिन्न साध्यसाधनोके उपायसे जाना किसको था ? इस तत्त्वस्वरूप आत्माको । अब उन समस्त क्रियाकाण्डोसे छूटा भी है तो वहाँ विश्रान्ति लेता है और उस स्थितिमे निस्तरग परमचैतन्यस्वभावी इस भगवान आत्मामे विश्राम लेता है ।

दृष्टान्तपूर्वक निश्चयकी व्यवहारपूर्वताका प्रतिपादन—जैसे आप लोग सभी जन जो मदिरमे ऊपर आते है, सीढियोसे चढकर आते है, सीढियोपर चढनेका काम कितना पडा हुआ है यह क्षणभरमे वह जान लेता है और उन सीढियोपर चढनेका उद्यम करता है, पर उस सीढीसे आनेपर उसे अन्तरगमे कुछ विश्राम मिलता है या नही ? सबपर यह बात गुजरती है । पहिली सीढ़ीपर पैर रखते समय जो मन स्थिति है और अन्तिम सीढीपर आनेपर जो मनःस्थिति है उसमे विश्रामका कितना अन्तर है ? ऐसे ही व्यवहारनयके बलसे भिन्न साध्यसाधन भाव द्वारा जो उद्यम किया उस परिस्थितिमे और उस उद्यमके फलमे जो एक अद्वैत अखण्ड है, शाश्वत चैतन्यस्वभावकी दृष्टिकी पदवीमे आया, आखिरी मजिल की सीढीके पास आया उस समय इसको एक परमविश्राम उत्पन्न होता है ।

यथार्थ ज्ञानके बिना धर्मका अनाश्रय—यहाँ यह चर्चा चल रही है कि यह बहिरङ्ग भाव निश्चय और व्यवहारनयके अविरोधपूर्वक जो प्राप्त किया गया है, अनुगम्यमान है वह वीतराग भाव मोक्षका मार्ग है । वीतराग भाव यथार्थज्ञानके बिना हो नही सकता । वीतरागता का और तात्पर्य ही क्या है ? ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाय, उसके साथ रागादि विकल्पोका कलक नही हो, यही तो वीतरागभाव है । जिस पुरुषके यथार्थ ज्ञान नही हुआ अर्थात् वस्तुके स्वतत्र स्वरूपका परिचय नही हुआ, अपने सहजज्ञानानन्दस्वरूपका भान नही हुआ वह अपने उपयोग को शुद्ध तत्त्वपर कैसे टिका सकता है ? जब शुद्ध तत्त्वपर उपयोग नही टिक सकता तो यह उपयोग कभी धर्मके नामपर घर परिवारको भी बाहरसे छोड दे तो भी अन्तरङ्गमे उस स्थितिमे हो रहे विकल्पकी अपनायत न छोड सकनेके कारण धर्मका पालन नही कर रहा है, वह तो अब भी अज्ञानी है । आजकल जो जहाँ कही भी त्यागवेशियोकी विडम्बना हो रही है उसका कारण यही है कि ज्ञानस्वरूपका आत्मतत्त्वका परिचय तो हुआ नही और किसी विव-

शताके कारण या अपने धर्मात्मापनके विकल्पकी अपनायतके कारण घर परिजन आदि छोड तो दिये है, किन्तु समताके साधनभूत अन्तस्तत्त्वकी ओर झुकाव हो नही पाता, तब विविध बाह्यदृष्टियोमे फसकर पूर्ववत् बेचैन ही रहता है, भले ही बेचैनीकी पद्धति भिन्न हो गई हो, ऐसी बेचैनीमे विडम्बना बनती ही है।

यथार्थज्ञानके बिना कषायोंकी अभिवृद्धि—यथार्थ ज्ञानके बिना वीतरागता आ ही नही सकती। यथार्थज्ञानसे शून्य पुरुषोका व्यवहारधर्मपालन कषायोका कारण बन जाता है। धर्मपालन तो कषायोके अभावके लिये होता है। कोई पुरुष धर्मक्रियायें करके अपनेको सबसे महान् समझ ले और ऐसी महत्ताका आदर परसे न मिले तो क्रोधमे जल भुन जायगा। तो लो यथार्थज्ञान बिना यह होती है हालत, देख लो। यथार्थ ज्ञानशून्य विद्यावोके अधिकारियो का भी यही हाल है। धर्मपालन, विद्यार्जन भी मदके लिये बन जाय, अन्य पुरुषोको तुच्छ दृष्टिसे देखनेका हेतु बन जाय तो वह धर्म कहाँ रहा ? यथार्थज्ञानशून्य पुरुष धर्मपालनमे मायाचार भी करेंगे। अकेले बैठे जाप दे रहे तो शिथिलमुद्रामे, और कोई दो-एक आदमी वहांसे गुजरे तो अकडकर बैठ जाये। अकेले स्तवन पूजन कर रहे है जल्दी-जल्दीकी भाषामे, और कोई दो-एक आदमी वहाँ दर्शनार्थी आ जाये तो मधुर स्वरसे गाने लगे। यह सब मायाचार है तो धर्मपालन कहाँ रहा ? धनलाभ, विजयलाभ, सतानलाभ आदिके ख्यालसे पूजा भक्ति यात्रा आदि किये जा रहे हो तो बतलाइये हृदय देखकर कि धर्मपालन कहाँ हुआ ? वास्तविकता तो यह है निरपेक्ष निजस्वभावका परिचय न हुआ हो तो उपयोग अन्तस्तत्त्वमे कैसे टिके ? यथार्थज्ञान बिना वीतराग भाव नही हो सकता।

यथार्थ ज्ञान—ज्ञानोमे ज्ञान वही यथार्थ है जो ज्ञान ज्ञानस्वरूपका जानन रखे। जाननस्वरूपका जानन वही ज्ञान रख सकता है जो ज्ञान समग्र वस्तुओके स्वतन्त्र स्वरूपका जानकार हो चुका हो। ये दिखनेमे आने वाले सब पदार्थ व समझमे आने वाले ये सब चेतन, पुरुष व सभी पदार्थ अपने-अपने प्रदेशोमे ही परिणमते है। किसी भी पदार्थका गुण, परिणमन, क्रिया, प्रभाव कुछ भी तो अन्य पदार्थमे नही जाता है। किसी अन्यसे मेरेमे क्या आ सकता है ? न किसी अन्य पदार्थसे मेरा सुधार है, न किसी अन्य पदार्थसे मेरा बिगाड है। प्रत्येक पदार्थ अपनेमे अपनी परिणतिसे परिणमता रहता है, जिसका फल अस्तित्वका बना रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ किसी पदाथसे आशा रखना अज्ञानका प्रभाव है। यह तो स्थूल बात कही गई है। दिखने वाले पिण्डोमे भी जो एक-एक परमाणु है वे भी प्रत्येक स्वतन्त्र पदार्थ है। वस्तुवोको देखते ही वहाँ स्वतन्त्रताका दर्शन हो जाय, ऐसी उपयोगकी शुद्ध वृत्ति बने यह ज्ञान ही परमार्थतः ज्ञान है।

क्लेश और क्लेशसे छूटनेका उपाय—इस ससारमे समस्त स्थानोमे, समस्त दशाओमे,

सर्वकालोमे, ससारके सब जीवोमे क्लेश ही क्लेश नजर आता है। उस क्लेशसे छुटकारा होने का नाम निर्वाण है। जीवकी दो ही प्रकारकी स्थितिया है। कोई जीव ससारी हैं, कोई जीव मुक्त है। ससारी सभी खेदमय है और मुक्त जीव सभी आनन्दमय है। जिनको निवृत्तिका आनन्द पानेकी अभिलाषा है उनको केवल यही करना है—समस्त परपदार्थोंके सम्बन्धमे मोह राग और द्वेष इनका त्याग करना, आनन्द पानेका और अन्य कुछ उपाय ही नही है सिवाय इसके। प्रथम मोह छोडे पश्चात् रागद्वेपका त्याग करें तो निर्वाण मिलेगा। वह मोह रागद्वेप कैसे मिटे, इसका जो उपाय है उस ही का नाम धर्म है। धर्मका पालन करनेसे मोह रागद्वेप दूर होते है और आत्माकी सहज सत्य अवस्था प्रकट होती है।

धर्मपालनकी पद्धति—इस ही धर्मके प्रयत्नको कुछ लोग तो आत्माके परिचयसे शुरू और कुछ लोग बाहरी क्रियाकाडोसे शुरू करते है। दो पद्धतियोसे प्रयत्न करने वाले लोग धर्मका पालन करने वाले है। आचार्यदेव यह कह रहे है कि न तो केवल व्यावहारिक क्रियाकाडोसे शान्तिका पथ मिलेगा और न केवल ऊपरी ढगसे आत्मामे निश्चयकी बात कर-करके शान्तिका पथ मिलेगा। रही यह बात कि कोई श्रद्धापूर्वक, अपने आपके झुकाव सहित यदि आत्माका परिचय पाये तो क्या उसे भी शान्तिपथ न मिलेगा? मिलेगा। किन्तु उसकी परिणति किस प्रकार बन जायगी अथवा बनना ही पडती है, इसपर भी तो दृष्टिपात करें। जो अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वका प्रेमी है, जैसे वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व प्रकट हो उस प्रकारसे उसके मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होगी। ससारी जीवोमे मन, वचन और काय तो लगा ही है। अज्ञानी मनुष्य हो उनके भी मन, वचन, काय है और ज्ञानी हो उनके भी मन, वचन, काय है। अब जैसी भीतरी भूमिका है, जैसा प्रकाश है, जैसी योग्यता है उसके माफिक ही तो मन, वचन, काय चलेगा। तो ऐसे ज्ञानी सत पुरुषके मन, वचन, काय असयमका प्रश्रय न देने वाले ढग से चलता है तब निश्चय और व्यवहार दोनोकी सगति वहाँ हो जाती है?

व्यवहारावलम्बियोकी परिस्थिति—जो केवल व्यवहारनयका ही आलम्बन करके धर्मपालनकी दिशामे बढते है उनकी दृष्टि किस तरह होती है? वे भिन्न साध्यसाधन भावको देखते है और उस ही प्रकारसे आचरण करते है। बस केवल व्यवहारनयके आलम्बन करने वालेका यह दोष है। भले ही उनके चित्तमे यह बात रहती है कि मुझे निर्वाण पाना है और उस निर्वाण पानेके लिए हम तपश्चरण कर रहे है, भक्ति कर रहे है अथवा ज्ञान बढा रहे हैं, लेकिन इस बोधमे भी उनके चित्तमे साध्य भिन्न है और साधन भिन्न है। उन्हे यह पता नही कि हमे निर्वाण पाना है तो निर्वाण हमारा ही स्वरूप है, ऐसा पता नही है, किन्तु जैसे व्यवहारी जन कहते है कि हमे शिखरजी जाना है, दिल्ली जाना है ऐसा कुछ भिन्न स्थान है जिस स्थानके प्राप्त होनेपर सुख मिलता है। केवलव्यवहारीजनोको अपने हृदयमे यह स्पष्ट नही है

कि वह निर्वाण मेरा ही स्वरूप है, और निर्वाण क्या पाना अथवा आगे पानेको क्या करना, यह स्वय निर्वाणस्वरूप है। निर्वाण अवस्थामे जो प्रकट होता है वह कुछ नई बात नही होती है। जो स्वरूप है, जो स्वभाव है बस वही प्रकट हो गया, कोई नई बात नही बनायी जाती। इस प्रकारका अभिन्न साध्यका भी निर्णय नही है व्यवहारावलम्बियोके और अभिन्न साधनका भी निर्णय नही है। अगर निर्वाण पाना है तो उस देहको तपस्यामे लगाओ। अधिक उपवास हो जाय, अधिक कायक्लेश हो जाय इसी विधिसे तो निर्वाण पा लिया जायगा। भगवानका यही तो आदेश है कि तपश्चरण करो और मुक्ति पावो।

विद्वत्ता होनेपर भी अन्तर्ज्ञानके अभावकी संभावना—कोई पुरुष ज्ञानमे विशेष बडा हो, किन्तु व्यवहारावलम्बी हो तो वह चर्चामे अभिन्न साध्यसाधनका वर्णन भी करेगा। जो लिखा है उसे पढ़ेगा नही क्या ? उसे जब विवरणसहित समझानेको उद्यत होगा तो क्या उसको समझायेगा नही ? फिर भी भिन्न साध्यसाधन भावका उसे परिचय नही हो पाता है। जैसे जिसने जिस स्थानको नही देखा है, मान लो अमरीका या अन्य देश। यद्यपि नक्शाके आलम्बनसे उसे ज्ञान है, वह दिशा बताता है, अनेक स्थल बताता है, लेकिन उतना स्पष्ट अवगम वह नही कर सकता है जितना कि वह कर सकता है जो देख आया है। यो ही समझिये कि जो व्यवहारका ही मात्र आलम्बन करता है वह भिन्न साध्य और भिन्न साधनको निरखनेका ही एक खेद मचाये रहता है। इस ससारी जीवको, जो ज्ञानी भी है, किन्तु मिथ्यादृष्टि है उसको निरन्तर खेद बना रहता है। इन्द्रिय विषयोका सुख भोग रहा हो वहाँपर भी लगातार निरन्तर खेद है और इन्द्रियको न सुहाये ऐसे दु खको भोगता हुआ भी वह निरन्तर खेद किए रहता है। अज्ञान अवस्थामे निरतर खेद रहता है। कोई साताका खेद है, कोई असाताका खेद है, कोई ऐसा खेद है कि खुद समझमे ही नही आ रहा और कल्पनामे मौज मान रहा। कोई ऐसा खेद है कि वह खेद भी समझमे आ जाता है।

बहिर्दृष्टिमे खेदकी प्राकृतिकता—जिसने अपने आत्माके अन्तःस्वरूपका स्पर्श नही किया उसकी दृष्टि बाह्यपदार्थोकी ओर रहती है और चूकि जानने वाला है यह और इसके उपयोगमे जाननेमे आ रहे है परपदार्थ, तो भला बतलावो जिसकी एक टाग तो घरमे हो और एक टाग कोई बाहर खीच रहा हो तो उसकी क्या हालत होती है ? उपयोग चूंकि स्वयका स्वरूप है, इसलिए इसका एक पद तो यहाँ बना ही हुआ है, किन्तु उपयोगकी क्रियाके समय मे जो इसका उपयोग बडा खिचा जा रहा है तो ऐसा बाह्यकी ओर खिचे जा रहे उपयोग वालेको चैन कहाँ है, निरन्तर खेद रहता है। तो जो अपने आनन्दप्राप्तिके लिए भिन्न साध्य और भिन्न साधनको देखा करते है वे पुरुष निरन्तर खेद पाते रहते है।

व्यवहारावलम्बीकी सम्यग्दर्शनके लिये प्रवृत्ति—व्यवहारावलम्बियोकी क्या स्थिति

बनती है इसको देखिये— आगममे बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षका मार्ग है तो इस व्यवहारावलम्बीको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके नामपर इसमे प्रीति हुई है तब उसकी भी यह आकाक्षा रहती है कि हमारा रत्नत्रय निर्मल रहे और अपनी बुद्धि माफिक इस रत्नत्रयको निर्दोष करनेके लिए बडा प्रयत्न भी करता है, बार-बार धर्मादिक तत्त्वोके श्रद्धानका अध्यवसाय बनाये रहता है। जैसे किसी बाईका यह नियम हो कि सूत्रजी भक्तामर जी सुनकर ही हम खाना खायें। उसके अर्थपर उसके तत्त्वपर कभी भी दृष्टि न जगे तो वहाँ यह काम पूरा करना है, कोई मिला बाचने वाला उससे सुन लिया, पढना नही जानती, सो चौथे क्लासके लडकेको ही बैठा लिया, उस लडकेने कुछ बाच दिया। गलत-सलत बाँच दिया तो भी सुन लिया, पर इस महिलाको तो पूरा सन्तोष है कि हमने अपना नियम पाल लिया। किसी कार्यव्यासङ्गसे समय कम रह गया तो जाप भी दिया, सूत्रजी भी सुना। किसीको सूत्रजी पढनेको बैठा दिया तो, जाप भी वह महिला देती जा रही और सुनती भी जा रही। किसी भी प्रकार यह चित्तमे आना चाहिए कि हमने अपने सयमको निर्दोष रूपमें पाला। ७ तत्त्वोकी कथनी सुनना, सप्त तत्त्वोके चिन्तनमे अपना परिणाम लगाना और उससे ऐसा अनुभव करते रहना कि हम अपने मोक्षमार्गको भली प्रकार निभाये रहे। जो करने योग्य काम है वह तो कर लिया, जब कि एक तत्त्वज्ञ पुरुषको मूलमे यह श्रद्धा रहती है कि मेरे करने योग्य तो यह भी काम नही है। दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी जो प्रवृत्तिया हैं वे भी मेरे करनेके काम नही हैं। तो फिर क्या है ? कुछ न करे कुछ तरग न उठे, कुछ कल्पनाएँ न चलें, मन, वचन, काय ये तीनो विश्रात हो जायें, ऐसी एक सहज स्थिति बने, वह है आत्मा की वृत्ति। तत्त्वज्ञानीको इस ओर प्रेम है तो व्यवहारावलम्बीको इन बाहरी दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी क्रियावोके पालनेमे प्रेम है। फल यह होता है कि आनन्द तो आनन्दकी पद्धतिसे ही मिलेगा ना, किन्तु इन मुग्ध जीवोकी दृष्टि है बाहर, इस कारण इन बाहरी प्रयत्नोंमे वे निरन्तर खेद-खिन्न रहते हैं। सम्यग्दर्शनके प्रसगमे, तत्त्वकी चर्चा सुननेमे, जाननेमे, चर्चा करनेमे अपना परिणाम लगाये रहते है जिससे हमारा सम्यग्दर्शन पुष्ट हो।

व्यवहारावलम्बीकी सम्यग्ज्ञानके लिये प्रवृत्ति—सम्यग्ज्ञानके प्रसगमे चूंकि यह भाव होता है कि हमारा सम्यग्ज्ञान भी सही बने तो बहुत शास्त्रोका अध्ययन करता है। न्याय-शास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, करणानुयोग, ऊँची-ऊँची कथनियोको लांघ जाता है। हमारा ज्ञान बने। जैसे एक कथानक है कि रावणके युद्धके समय रामकी ओरसे जो वानरसेना थी उसने समुद्रको लाघ दिया। तो समुद्रको लाघने वाले बन्दरोंसे यदि यह पूछा जाता कि बतलावो तो वानरो! इस समुद्रमे कितने रत्न है और कैसे-कैसे रत्न पडे है ? तो उन वानरोको क्या पता ? वे तो लाघ गए। उन्होने भीतर घुसकर खोजा कुछ नही। ऐसे ही श्रुतज्ञानके नामपर, सम्यग्ज्ञानके

नामपर अनेक प्रकारके शास्त्रोका व्याख्यान खूब रटा, खूब सुना, अध्ययन किया और कुछ भी प्रसग आये पन्ने भी याद है, इस पेजपर यह लिखा है। इतना बडा ज्ञान पैदा करके भी नाना प्रकारके विकल्पजालोमे इसकी चैतन्यवृत्ति अब भी कलुषित चलती रहती है।

दृष्टिविकास—तत्त्व तो एक खोजकी चीज है। जैसे किसी कार्डमें जगलके वृक्ष बने है और इस ढगसे बने है कि जहाँ जगह खाली है उस खाली जगहमे गधा, शेर, पक्षी ये दिखने लगते है, लेकिन ऐसी किसीने दृष्टि न बनायी हो और ऐसा न परिचय कर पाया हो तो वह कार्डको देखकर यही कहेगा कि इसमे तीन पेड खडे हुए है, उन्हे शेर पक्षी वगैरह कुछ नही दीखा। किन्तु एक बार बता दिया जाय कि देखो यह है शेर, फिर तो कार्ड हाथमे लेकर देखे तो तुरन्त शेर दिखेगा, ऐसे ही जिसने अपने उस सहज चैतन्यप्रकाशका अनुभव नही किया वह तो समस्त योग प्रवृत्तियोमे बाहरी-बाहरी बाते ही निरखेगा और जिसने अपने अन्तस्तत्त्वका परिचय पाया है वह प्रत्येक प्रसगोमे उस अन्तस्तत्वकी बात सामने रखेगा।

प्रत्ययके भेदसे बहिरंगमे भेद—यह व्यवहारावलम्बी पुरुष सम्यग्ज्ञानके नामपर बहुत-बहुत ज्ञानार्जन भी करता है और सम्यक्चारित्रके नामपर मुनियोको जो चारित्र तपस्या बतायी है उनमे प्रवृत्ति करके, अनेक क्रियाये करके अपनेको मोक्षमार्गी समझता है। हमने निर्वाणका मार्ग पाया है, हम ठीक कर रहे है। अन्तरङ्गमे कैसा खेद चल रहा है वह खेद तो और खतरनाक है कि जिस खेदका पता भी न पडे और खुद सुखरूपमे सन्तोपरूपमे समझ लिया जाय तो उस खेदका तो ससारपरिभ्रमण ही फल है। वह कभी किसीमें रुचि करता है, कभी किसीमे रुचि करता है। कैसे चलना, कैसे बैठना, कैसे खाना, कही कुछ गल्ती न हो जाय, देखिये ये सब बातें ज्ञानी पुरुषके भी चलती हैं और इन्हीको अज्ञानी भी करता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने लक्ष्यसे परिचित है तो उसका यह विशुद्ध शुभोपयोग कहलाता है और इस शुभोपयोगके प्रसादसे वह परम्परया मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ज्ञानीका व्यवहारा-वलम्बन परम्परया मोक्षको देने वाला है और अज्ञानी जीवका व्यवहारावलम्बन ससारमे परिभ्रमण कराने वाला है। भले ही देव बन गया तो वहाँ पर भी क्लेश सहेगा और वहाँसे च्युत होकर मनुष्य पशु आदि बनकर वहाँ पर भी क्लेश सहेगा।

अज्ञानीकी विभिन्न रुचियोका कारण—जिसको अपने आत्मस्वरूपका परिचय नही है वह बाहरमे ही तो रुचि करेगा। बाहरमे है अनेक पदार्थ, अनेक तत्त्व, सो कभी किसी की रुचि कभी किसीकी रुचि, यो उसका रुचिभेद चलता रहेगा। अज्ञानी जीवने अपना प्रोग्राम बनाया है बाहरी क्रिया-कलापोका और ज्ञानी जीवने प्रोग्राम बनाया है मूलमे अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वमे भुकनेका। तब ज्ञानीकी रुचि एक प्रकारकी ही रहेगी और अज्ञानीकी रुचि अन्त-रङ्गसे अनेक प्रकारकी चलेगी। अब सुबह हुआ है, भगवानकी पूजा भक्ति करना है, अब

आहारका समय हुआ है, शुद्ध विधिसे आहार लेना है। अब सामायिकका समय है। सामायिकमे जो बताया है चारो दिशाओका वन्दन स्तोत्र पाठका आचरण उनमे रुचि जगे। अपने दिन रातमे जो-जो भी प्रोग्राम है व्यवहारधर्मकी भिन्न-भिन्न रुचि जगती रहती है। अपने निजस्वरूपमे लीन न होनेका यह फल मिला।

ज्ञानीकी अभिन्न रुचिका कारण—जैसे किसीके घर इष्टका वियोग हो जाय जो बहुत अभीष्ट था तो उसकी दृष्टि केवल उस इष्टकी ओर ही है। भोजन करे तो भोजन ठीक किया, कही कानमे उसने ग्रास नही रखा, मुखमे ही रखकर खाया। जैसे और लोग चबाते हैं वैसे ही चबाया लेकिन उसकी रुचि और दृष्टि तो उस इष्ट पुरुषमे है। भोजनमे तो है ही नही। उसे कही घूमने ले जाइए, घूमता है बागमे और और भी वचनव्यवहार करता है किन्तु रुचि और दृष्टि तो उस इष्टकी ओर है। ऐसे ही समझिये कि इस ज्ञानी जीवको अपने इष्टका परिचय हुआ है, इसका इष्ट है सहज ज्ञानस्वभाव, चैतन्यस्वभाव, शुद्धस्वरूप। और साथ ही उसे यह भी समझमे आया है कि मेरी ही चीज और मुझसे अलग सी बनी हुई है, प्रकट नही हो रही है, इसका वियोग है तो ऐसा वह ज्ञानी पुरुष इस व्यवहारधर्मको करता हुआ भी क्योकि जिसे इस इष्टका परिचय हुआ है उसकी प्रवृत्ति पापरूप नही हो सकती। उसका मन, वचन, काय गदा नही हो सकता। सो व्यवहारधर्ममे लग रहा है फिर भी रुचि है चैतन्यस्वरूपकी ओर। अन्तस्तत्त्वकी रुचि जिसने नही पायी है वह केवल व्यवहारका ही आलम्बन करता है और कभी वह किसीमे रुचि रखता है, कभी कुछ विकल्प बनाता है, कभी कुछ आचरण करता है। यह उनकी स्थिति है दर्शन ज्ञान और चारित्रके पालनेके प्रसगमे जब कि ज्ञानी जीव की रुचि एक स्वभावकी ही है।

एकत्वकी रुचिमे कर्तव्यपरायणता—ज्ञानी जीवका विकल्प एक स्वभावज्ञानके लिए ही है। ज्ञानी जीवका आचरण एक स्वभावविकासके लिए ही है। ज्ञानी जीवके दर्शन, ज्ञान और चारित्रका प्रयोग केवल एकके लिए हो रहा है और अज्ञानी जीवका श्रद्धान ज्ञान और आचरणका प्रयोग भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे विषयोपर चल रहा है। इससे भिन्न साध्य और साधन समझने वाले व्यवहारावलम्बी पुरुषको निरन्तर खेद रहता है, वह निर्वाण नही पा सकता है। हम आप इस कथनसे यह शिक्षा ले, एक ही निर्णय बनाये कि शान्तिका उपाय अपने सहज ज्ञानस्वभावकी रुचि करना है, इसमे ही मग्न होना, यह ही शान्तिका उपाय है। इसके सिवाय अन्य कोई भी प्रयत्न शान्तिका उपाय नही है।

व्यवहारावलम्बनमे दर्शनाचारका प्रवर्तन—जो केवल व्यवहारावलम्बी है उन्हे यह विदित हुआ है कि ससारके सकटोसे दूर होनेके लिए मोक्ष ही एक अद्वितीय स्थान है और उस मोक्षमे पहुचनेके लिए ५ प्रकारके आचरण करने होते है—दर्शनाचार, ज्ञानाचार,

चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार । अत दर्शनाचारका आचरण करनेके लिए वह प्रशम सम्वेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणोको धारण करते है, कभी समता रखते है, किसी घटनाओमे किसी पक्षमे न जानेकी एक प्रवृत्ति बनाते है । कभी वैराग्यदर्शक प्रवृत्तिको करते है । सबसे अलग रहना, किसीसे राग न बढाना, यो वह सम्वेग गुणको बढाते है, कभी अनुकम्पाका भाव लाते है । दुःखी जीवोको देखकर दयाकी प्रवृत्ति करते है, कभी आस्तिक्यका बोझ ढोते है । देव, शास्त्र, गुरु है, ७ तत्त्व है, धर्मके पर्व है, धर्मकी क्रियायें है इन सबका जैसा आस्तिक्य बने उस प्रकार प्रवृत्ति करते है ।

व्यवहारावलम्बनमे सम्यग्दर्शनकी दोषनिवृत्तिका यत्न—केवल व्यवहारावलम्बी सम्यग्दर्शनके जो दोष है उन दोषोके टालनेका यत्न रखते है । जिनेन्द्र भगवानके वचनोमे शका न करना इस ख्यालको रखते हुए जो आगममे बातें आयी है, शास्त्रोमे जो कथन निकलता है उसपर श्रद्धान रखते है । उसके खिलाफ कुछ बात सुनना नही चाहते है । चाहे कुछ तत्त्वके विरुद्ध है या अविरुद्ध, इस ओरका कुछ निर्णय नही लिया । शास्त्रमे जो लिखा है वह ठीक है, जो शास्त्रमे नही लिखा है वह ठीक नही है । यो शका दोषोंसे भी बचनेका वे यत्न रखते है, विषय भोगोकी चाह नही रखते, नीरस भी भोजन करते है, किसी भी इन्द्रियके विषयोमे प्रेम नही रखते । गुणी जनोकी सेवामे, पूज्य पुरुषोकी सेवामे निरतर सावधान भी रहते है । उनकी सेवा करते हुए ग्लानि नही करते । अमूढदृष्टिपना होनेके लिए भी अपनी कमर बराबर कसे रहते हैं । कोई बात ऐसी न बन जाय, कही कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुको हाथ न जुड जायें, यह मस्तक देव, शास्त्र, गुरुके चरणोमे ही लगे ऐसा सावधान भी रहते है । दूसरोंके दोषको ढाकना, गुणियोके गुणोको प्रकट करना, धर्मसे च्युत होने वालेको फिरसे धर्ममे स्थिर करना, धर्मात्माओसे वात्सल्य रखना और अपने आचरणोसे धर्मकी प्रभावना करना—इन सब बातोमे बारम्बार उत्साह भी बढाते रहते है । ये सब बातें भली है, लेकिन अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना शान्तिलाभ नही होता है ।

मौलिक तत्त्वके अपरिचयमे दृष्टिका बहिर्भ्रमण—आत्माका शुद्धस्वरूप क्या है और इसकी शुद्ध क्रिया क्या है और सहजवृत्ति कैसी है ? इसका स्पर्श नही हुआ तब दृष्टि केवल इससम्यग्दर्शनके आचरणके प्रसगमे बाह्य बनी रहा करती है । यो केवल व्यवहारका आलम्बन रखने वाले सम्यग्दर्शनके आचरणमे बहुत-बहुत यत्न श्रम रखते है, फिर भी एक मोक्षमार्गका मौलिक नुक्सा न मिल पानेसे वे बाहर ही बाहर डोलते रहते है । इस लोकमे सर्वोत्कृष्ट अबाध, हितकर तत्त्व क्या है, इसकी पहिचान हुए बिना हम कभी विश्राम नही पा सकते । हम अपने आपके स्वरूपसे विमुख होकर कही भी बाहर किसी प्रकार लगे, किन्तु वहाँ लगने का विषय परपदार्थ होनेसे वह स्थानपर जम नही सकता ।

व्यवहारज्ञानाचारमे कालिक स्वाध्यायका आचरण—केवल व्यवहारावलम्बी पुरुप ज्ञानाचारमे भी बडी सावधानी सहित प्रवृत्ति भी रखते है। देखो स्वाध्यायके समयमे ही स्वाध्याय करना ऐसा ही वे यत्न रखते है। जिन कालोका निपेध किया गया है—सामायिक के कालमे स्वाध्याय न करना, कोई नगरमे बडा उपद्रव हो रहा हो उस कालमे स्वाध्याय न करना, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहणके समय जो लोगोमे एक क्षोभ मची हुई सो वृत्ति रहती है उस कालमे स्वाध्याय न करना, जब अपने सगसे कोई इष्ट गुरु पुरुप जा रहा हो, विहार कर रहा हो उस कालमे स्वाध्याय न करना अपने सघके निकट कोई महापुरुष गुरु आ रहे हो उस कालमे स्वाध्याय न करना। बहुत-बहुत स्वाध्यायके योग्य कालोकी निगरानी है और योग्य कालोमे ही स्वाध्याय करते है। बात ठीक है सो प्रवृत्ति सहज बन जाना चाहिए। जैसे मान लो नगरमे तो कोलाहल मचा है किसी उपद्रवके कारण और यह सिद्धान्त ग्रन्थोको लेकर बैठ गये है तो इसे लोग एक कठोर दिल वाला बतावेंगे, और किसी गुरुजनोका आना अथवा जाना हो रहा हो और यह धर्मके नामपर एक कोनेमे बैठकर सिद्धान्त ग्रथ पढने लगे तो इस प्रवृत्ति को तो लोग न जाने क्या कहेगे ? ये ज्ञानाचारकी बातें होनी तो चाहिएँ, पर ये बातें व्यवहारावलम्बीके सहज नही बनती है, ख्याल कर करके बनती है।

व्यवहारज्ञानाचारके अन्य अङ्गोका पालन—ज्ञानाचारमे बताया है कि बहुत-बहुत प्रकारसे अपनी विनयप्रवृत्ति रखें, विनय बिना धर्म नही होता। जैसे लोकके अनेक काम घमड करके भी किए जा सकते हैं, क्या आत्मानुभवका काम, प्रभुभक्तिका काम घमड करके किया जा सकता है ? यह भक्तिजल, यह आत्मानुभवामृत नम्र मार्ग पाये तो ढल सकता है। इस ज्ञानसमुद्रमे तो नम्रता और विनयकी ज्ञानाचारमे प्रवृत्ति बतायी है, इस अगको भी बहुत अच्छी तरहसे निभा रहे हैं। केवलव्यवहारावलम्बी साधु कठिन-कठिन उपधानोको भी कर रहे है। ज्ञानाचारकी सेवामे ऐसा उपधान ठान लिया जाता है कि जब तक इस ग्रन्थका स्वाध्याय न कर लिया जाय तब तक अमुक आहार आदिका त्याग रहेगा या सिद्धान्त कार्य के पूर्ण हो चुकने पर कुछ उपधान, विशिष्ट सयम ग्रहण किया जाता है। उसमे भी इसकी प्रवृत्ति सही चल रही है। अपने ज्ञानी जनोका बहुत-बहुत मान भी करता है। ज्ञानाचारमे बताया है कि अपने गुरुका नाम न छिपाना सो इस ज्ञानाचारके अगकी पूर्तिके लिए समय-समयपर गुरुनामको भी प्रकाशित करते रहते है। यह भी सोचकर कि मैं बहुत समय तक गुरु नाम न बताऊँ तो ज्ञानाचारमे दोष लगेगा। इसलिए जरूरत भी न हो बतानेकी तो भी ख्याल कर करके गुरुनामको भी प्रकाशित करते हैं। शब्द शुद्ध पढना, अर्थ शुद्ध समझना इन ज्ञानाचारके अगोमे भी निरन्तर सावधान रहते है। ये बातें ज्ञानाचारके अग हैं, इन्हे करना चाहिए। किन्तु व्यवहारावलम्बी पुरुषको अपने उपयोग को टिकानेका निजमे स्थान नही

मिला है और धर्मकी उसे आकाक्षा है तब इन बाह्य अगोमे प्रवृत्ति बनाये रहता है।

स्वविधिसे ही शान्तिलाभकी सुगमता—जैसे कोई छोटी गोलीका एक खेल आता है ना, उसको हिलाते रहे, एक निशान है कही बीचमे, जितनी बडी गोली है उतना ही बडा छिद्र है। ढुलकते-ढुलकते गोली उस छिद्रमे पहुच जाय ऐसा कोई प्लास्टिकका खेल है। बहुत-बहुत हिलाते है, पर वह गोली कहीकी कही चली जाती है। यत्र-तत्र भ्रमरण कर रही है। उसमे बडा बल लगाया, बहुत-बहुत हिलाया, उससे कुछ सिद्धि नही होती। गोली यदि आसानीसे कभी ठीक विधि बैठ जाय तो धीरेसे ही वह अपनी गल्लमे प्रवेश करती है। ऐसे ही यह उपयोग अपने आपके स्वरूपमे प्रवेश करता है। इसके लिए बडे श्रम और बडे उद्योग भरे प्रयत्न क्रियाकाड ये भी उस कार्यमें समर्थ नही हो पाते है। यह उपयोग जब कभी ठीक विधि बन जाय शान्तिकी योगकी, यहाँ श्रमकी भी आवश्यकता नही, किन्तु श्रम दूर करके योग दूर करके, कषाय दूर करके, जब कभी विधि बने तो धीरेसे शान्तिपूर्वक यह उपयोग अपने स्वरूपमे क्षरण एकको प्रवेश कर लेता है। ऐसी शान्तवृत्तिकी विधि जिसने नही पायी वह धर्मके अगके लिए ऐसे बडे बडे यत्न करता है, तब भी मोक्षमे जिस प्रकार आनन्द है उस आनन्दकी जातिका आनन्द यहाँ नही पा सकता है। भैया! आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान-स्वरूप आत्माका जो भी यत्न होगा वह यत्न यदि ज्ञानमय होगा तो ज्ञानस्वरूपसे मिल सकता है, मिलता रहेगा, और यदि बाह्यदृष्टि करके अज्ञानमय यत्न होगा तो अन्तस्तत्त्वका मिलन नही हो सकता है।

व्यवहारचारित्राचारमे व्रत समितिका पालन—केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष चारित्र आचरण करनेके लिए बहुत सावधान बने रहते है। चारित्रके अग १३ है। ५ महाव्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति—इन १३ अगोमे ये व्यवहारावलम्बी पुरुष बडी निष्ठा रखते हुए प्रवृत्ति करते है। हिसाका त्याग, झूठका त्याग, कही कुछ झूठ न बोला जाय, कभी किसी जीवकी हिंसा न हो सके, कदाचित् देख-भालकर चलनेपर भी किसी जीवकी हिसा हुई हो ऐसा ख्याल आ जाय या मालूम पडे तो वे उसका बडा प्रायश्चित लेकर अपनेको शान्त बनाना चाहते है। चोरीका त्याग, कुशीलका त्याग, परिग्रहका त्याग। इन ५ पापोसे बहुत बहुत-बहुत बचकर रहना, इस व्रतको रक्षाके लिए जो बातें बतायी गई है उनका पालन करना इससे बहुत सावधानी रहती है। ५ प्रकारकी समिति ईर्यासमिति, भाषासमिति, देख-भालकर चलना, हितमित प्रिय वचन बोलना एषणासमिति आहारचर्या निर्दोष विधिसे हो, गृहस्थोकी एक-एक वृत्ति बडे निर्दोष ढगसे देख-भालकर आहार लेना, सामानको देख-भालकर धरना उठाना, पिच्छिकासे कमण्डल पोछकर उसे साफ स्थानपर धरना, बडी सावधानीसे आदान-निक्षेपण सहित चीजोका धरना उठाना, प्रतिष्ठाना समितिमे भी बडी सावधानी है। कभी

खकार थूक, नासिकासे मल आ जाय तो पहिले जमीनको पिछीसे शुद्ध करना या देखभाल लेना तब मल डालना, ऐसे ही हर दशाओमे बडी सावधानी रहा करती है।

व्यवहारचारित्राचारमे गुप्तियोका पालन—गुप्तियोंके पालन करनेका ये व्यवहारावलम्बी पुरुष साधुजन बडा यत्न रखते हैं। मनमे कोई दूसरी बात सोचनेमे न आये, मौन रहे, चित्तमे भी शब्दजाल न उठने पायें, शरीर रच भी हिले डुले नही, बोले नही, लक्कडकी तरह ज्योका त्यो पडे रहे, बैठे रहे—यो कायगुप्तिमे भी बडे सावधान है। ऐसे १३ प्रकारके चारित्रके अगोका सावधानीसे पालन करते रहते है। यदि वे केवल व्यवहारावलम्बी साधु है अर्थात् उन्हे अपने स्वरूपका परिचय नही है, स्वरूपमे विश्राति पानेकी विधि नही आती है, आपके इस निराले अमूर्त चैतन्यस्वरूपमे वे एकत्वको प्राप्त नही कर पाते, निराकुल स्थिति का अनुभवन नही कर पाते तो यो बाह्यमे बहुत-बहुत सावधानी रखनेपर भी वे बाह्यमे डोलते ही तो रहते है। बात इतनी ही तो अन्तरमे है कि अशुभोपयोगी पुरुष अशुभ विषयो मे डोलते है, किन्तु ये साधुजन केवल व्यवहारावलम्बी सत एक शुभ विषयोमे डोल रहे है, लेकिन बाहरमे किसी भी जगह डोला जाय अतस्तत्त्वसे तो वह अत्यन्त वचित है ना, तो यो केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष चारित्राचारमे भी बडी प्रवृत्ति रखते है, फिर भी मोक्षमार्गका लाभ नही पा रहे है।

व्यवहारतपाचारका अवलम्बन—तपाचारके नामपर चूंकि तपाचारसे मुक्ति मिलती है इसलिए इसमे बहुत विशेपरूपसे उद्यमी रहना चाहिए। इस भावनासे अनशन-उपवास करना, भूखसे कम खाना, व्रतपरिसख्यान-चर्याके लिए उठते हुए अनेक प्रकारके अटपट आखडी लिए रहना जिससे अपने कर्मोका परीक्षण भी होता रहे कि अब कैसे-कैसे पापकर्म मेरे है या कम अधिक है, अथवा भोजन करनेके लिए विशेष इच्छा नही रखते है, इस कारण अटपट आखडी ले लेते है। मिल जाय तो मिले नही तो नही। यो व्रत परिसख्यान तपसे निपटते है, रसोका परित्याग करते है। एकान्त स्थानमे सोये, बैठें, उठे, गर्मीमे पर्वतोपर तपस्या करें, सर्दियोमे नदीके किनारे तपस्या करे, बरसातमे पेडोके नीचे तपस्या करे, और भी अनेक प्रकारके कायक्लेश करते है। इन तपश्चरणोको करते है और इनकी वृद्धिमे उत्साह भी रखते है। ये सब काम करनेके है, किया जाना चाहिए, परन्तु केवल व्यवहारावलम्बी पुरुपोको अपने उस चैतन्यस्वरूपका अनुभव नही होता जिसमे तपा जाना चाहिए। अपने उपयोगको उस शुद्ध ज्योतिस्वरूपमे रमाना चाहिए, इस तपस्याकी विधि नही विदित हुई, अनुभूति नही हुई, अतएव इन बाह्य तपश्चरणोमे बहुत-बहुत यत्न रखकर भी ये साधु पुरुष अपने आपमे शान्तिलाभ नही ले पाते है। इसी प्रकार अन्तरङ्ग तपश्चरण प्रायश्चित करना, विनय करना, साधुजनोकी सेवा करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना, इनमे भी अपने मनको

लगाया करते है, अकुशकी तरह सयमन यह मन यहाँसे हटे नही बडा उद्यम रखते है। इतने विविध तपश्चरण करनेपर भी एक अपने अन्तरङ्गका नुक्ता परिचयमे न आये तो ये शान्तिलाभके पात्र नही हो पाते।

व्यवहारावलम्बनमें वीर्याचारका आचरण—पच आचारोमे अन्तिम आचार है वीर्याचार। सर्व प्रकारके आचरणोमे अपनी शक्ति न छुपाना, अपनी पूर्ण शक्तिके साथ उन व्रत और तपश्चरणोमे लगना इसका नाम है वीर्याचार। ये साधुजन अपनी शक्ति नही छिपाते है। और उन समस्त आचरणोमे अपनी पूरी शक्तिके साथ व्यापार रखते है। यो वे वीर्याचारका भी निष्कपट व्यापार करते है, किन्तु केवल व्यवहारका आलम्बन जिनके है वे कर्मचेतनाप्रधानी है। धर्म करो, धर्म करो, धर्म करना चाहिए, धर्म करनेका बहुत बडा उत्साह जगे। करना क्या ? धर्म किया जाता है कि हुआ करता है ? इस नुक्तेका परिचय नही है। वे क्रियाके करनेमे अपने उपयोगको फसाये रहते है।

व्यवहारपालन करते हुए भी परमार्थपरिचयसे शान्तिपथ गमन—यद्यपि इन क्रियाकाण्डोका एक लाभ तो यह है कि इससे अशुभ कर्मोंकी प्रवृत्ति बहुत दूर चली गई है, अशुभ कर्मोंकी प्रवृत्तिका निवारण हो गया। लौकिक जनोकी नाईं विषय कषायोमे ये नही लग रहे, शुभ कर्मोंकी प्रवृत्ति नही बन रही है, किन्तु जिन्हे उस ज्ञानतत्त्वकी तो जरा भी सम्भावना नही हो रही है जो ज्ञानचेतना समस्त क्रियासमूहोके आडम्बरसे परे है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकताकी परिणतिरूप है, जो केवल ज्ञान ज्ञानको ही चेते, अन्त ही कुछ किया जानेको पडा है इसका समाधान उनके नही हो पा रहा है, सो बहुत पुण्य मिला ना उन्हे। उस पुण्यके भारसे उनका चित्त मन्द हो गया है, अलसिया गया है। मोक्षमार्ग जैसे मिलता है उस विधि से चित्तको ज्ञानको न प्रवर्तानेका नाम प्रमाद है, आलस्य है। उस प्रमादसे उनका चित्त मथरित हो गया है, सो उस पुण्यके फलमे सुरलोक मिल जायगा, देवगति प्राप्त हो जायगी, कोई बडा धनिक राजपुरुष हो जायगा, किन्तु वहाँ रहकर भी क्लेशको पा-पाकर उस परम्परामे वह अपने समारसागरमे ही भ्रमण करेगा, ससार ही बढायेगा। इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हम भी अपने पदमे पदके योग्य व्यवहार धर्मको करते हुए भी कुछ अन्तःचिन्तन करते रहे, यह मैं क्या हू और कैसा यह सहज रहा करता है, इसका चिन्तन और अभ्यास करना है। इस अतस्तत्त्वके परिचयसे हमे शान्तिका मार्ग मिलेगा।

कर्मकाण्डप्रधानियोके चरणकरणके सारकी अनभिज्ञता—जो पुरुष व्यावहारिक सत् आचरणके करनेमे ही सावधान रहा करते है, आचरणके करनेको ही जिन्होने प्रधान कर्तव्य मान लिया है वे पुरुष चूकि स्वसमय और परमार्थके स्वरूपके न जाननेके कारण निजमे अन्तरग कुछ व्यापार नही रखते हैं, अपने आत्माके स्वरूपकी सुध नही लेते है। अत. ससारसागर

मे भ्रमण करते है। वे पुरुष ससारसागरमे क्यो भ्रमण करते है ? इसका कारण यह है कि वे इस बातको नही जानते है कि समस्त आचरणोके करनेका सार है आत्मानुभव। निश्चय शुद्ध जो वृत्ति है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, निज ज्ञायकस्वभावका अनुभव करके परम आनन्दरसमे तृप्त रहना, यही है आचरणके करनेका सार। तो व्रत, तप, समिति आदि आचरणोका जो सार है, लक्ष्य है, उस शुद्ध स्वरूपको न जाननेके कारण इतना बडा व्रत तपश्चरण करके भी वे ससारसागरमे भ्रमण करते है।

केवल निश्चयावलम्बीकी परिस्थिति—जिस प्रकार व्यवहारका आलम्बन करने वाले निश्चय तत्त्वसे विमुख रहकर मोक्षमार्गसे भ्रष्ट रहते है इस ही प्रकार केवल निश्चयनयका आलम्बन रखने वाले व्यवहार आचरणसे तो छूटे हुए रहते ही है और निश्चय मर्मकी बात से भी अनभिज्ञ है, सो वे भी मोक्षमार्गसे भ्रष्ट रहा करते है। केवल निश्चयनयका ही उन्होंने आलम्बन लिया है। आलम्बन क्या लिया है केवल शुद्धताके नामपर बात, गप्प, बकवाद करते है। यदि कोई निश्चयनयका वास्तविक मायनेमे आलम्बन ले तो जब तक उसकी निम्न दशा है अर्थात् वह वीतराग नही हुआ है, विकल्प चलते है तब तक उसकी प्रवृत्ति व्रत सयमके पालनमे ही तो रहेगी, असयमका आदर तो न होगा। जो लोग निश्चयनयकी बात तो करते है, किन्तु उसका भान नही है, परिचय नही है, अनुभव नही जगा, ऐसे केवल निश्चयनयके अवलम्बी अर्थात् निश्चयाभासी पुरुष समस्त क्रियाकाण्डोंके आडम्बरसे विरक्त बुद्धि वाले है, वे व्रत तपश्चरणको आदर नही देते है बल्कि उन व्रत तपश्चरणोको हेय बताकर स्वय उससे दूर रहा करते है और निश्चयनयके शुद्ध बुद्धकी कथनी करते हुए ऐसी मुद्रा बताते है, आधे नेत्र बन्द है आधे खुले नेत्रोसे चर्चा करें। दूसरोकी दृष्टिमे यह बडा शान्त प्रतीत हो, बडी शुद्ध तत्त्वकी चर्चा करने वाला है, बडे शुद्ध मिजाजका है, ऐसा प्रदर्शन करते है और अपनी कल्पनाके अनुसार अपनी बुद्धिसे जिस किसी भी तत्त्वको निरखकर बडे सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते है, ठहरते है, उनकी क्या स्थिति है ? सीधे शब्दोमे यो कह लीजिए कि भिन्न साध्यसाधन भावका तो उन्होने तिरस्कार ही किया था, व्रत तपस्या सयम नियम इनका तो उन्होंने तिरस्कार ही कर दिया और अभिन्न साध्यसाधन भाव अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभवन उन्होने पाया नही तो यो स्थिति ही होती है उनकी जिसे कहते है व्यवहारिक आचरणसे भी भ्रष्ट होता है और आन्तरिक आचरणसे भी भ्रष्ट होता है।

निश्चयाभासीकी एक घटना—एक घटना महाराजजी सुनाते थे कि एक निश्चय एकान्तके वेदान्तके अभ्यासी कथन करने वाले पढाने वाले गुरुजी किसी शिष्यको पढाते थे। तो उस कथनमे तो यही सिखाया जाता कि आत्मा नित्य शुद्ध है, मलिनतासे रहित है, उसमें रागद्वेष नही है, रागद्वेष प्रकृतिमे होते है अथवा कुछ जैनसिद्धान्तके निमित्तप्रकरणका आड लेने

वाले यो कह सकते कि रागद्वेष तो कर्ममे होते है, आत्मामे नही होते, आत्मा तो सदाकाल शुद्ध है, यही निश्चय एकान्तकी शिक्षा है। इस दृष्टिमे इसका बहिरङ्गरूप लोग नही निरखते है कि आखिर वर्तमान परिणमन कैसा है ? तो उन गुरुजी की व्यावहारिक स्थिति बडी विचित्र थी। जहाँ चाहे खायें, पियें, जैसा चाहे खाये, अनाप-सनाप व्यवहार था। शिष्य था समझदार। उसने कई बार निवेदन किया, गुरुजी आप यह क्या करते है, जिस चाहेकी दूकानदार म्लेच्छ की मासाहारीकी दूकानपर । गुरु कहता है क्या है, आत्मा तो शुद्ध है। एक बार मासाहारी म्लेच्छकी दूकानपर गुरुजी रसगुल्ले खा रहे थे। निश्चयएकान्ती गुरुकी बात सुना रहे है। शिष्यको उस समय और कुछ न सूझा, गुरुजी के दो तमाचे जड दिए। गुरुजी बोले—अरे यह क्या कर रहे हो ? शिष्य बोला—आप एक मासाहारीकी दूकानमे रसगुल्ले क्यो खा रहे है ? गुरुजी कहने लगे कि ये रसगुल्ले तो शरीरमे गए, आत्मा तो शुद्ध है। तो शिष्य कहता है—महाराज ये तमाचे भी शरीरमे लगे, आत्मा तो आपका शुद्ध है। कुछ भला होनेपर था कि बात समझमे आई। ओह ! तुम ठीक कहते हो बीतती तो सारी बात इस आत्मापर ही है।

निश्चयाभासमे उभयभ्रष्टता—जो निश्चयएकान्तकी बात करता है, व्यवहारआचरण को अत्यन्त हेय कहता है, उसकी प्रवृत्तिसे दूर रहता है और सुखपूर्वक जिसमे लौकिक बडप्पन मिले, जिसमे आराममे भी दखल न आये, इसी प्रकारसे रहता है उसकी यह स्थिति है कि इतो भ्रष्ट. ततो भ्रष्ट.। ये व्रत तपस्या आत्मासे भिन्न स्थितिया है, आत्मा तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, ये हेय है, यह तो माना और जिसकी चर्चा कर रहे है उस अभिन्न ज्ञानतत्त्वका आत्मस्वरूपका उसके अनुभव नही जगा, तब वे बीचमे ही इतो भ्रष्ट ततोभ्रष्ट. बन गए, वे प्रमाद की मदिराके मदसे आलसी चित्त वाले बन गए। पागल पुरुषोकी भाँति यथातथा आचरण कर रहे अथवा मूर्छित पुरुषोकी भाँति बेसुध है, अपने आपके भीतरका भी प्रकाश नही मिला और बाह्य आचरणको तो हेय बता ही रहे है। यो वे मूर्छित हुए की तरह अथवा सोये हुए की तरह है। जैसे सोया हुआ पुरुष बेकार पडा हुआ है, उसे कुछ अपना भान नही है, ऐसे ही केवल निश्चयाभासी पुरुषको अपने कर्तव्यका भान नही है, किन्तु जैसे लोकमे धनकी तृष्णा वाले धन पानेके लिए ही उत्सुक रहा करते है अथवा नेतागिरी अर्थात् सरकारी ओहदो के पानेकी तृष्णामे ही चित्त फसाये रहते है, ऐसे ही शुद्ध बुद्ध आत्माकी चर्चा करके लोगोमे अपना आत्मसौन्दर्य समझने वाले सुखपूर्वक इस ही भ्रममे बने रहा करते है। जैसे कोई बहुत घी मिश्री गरिष्ठ भोजन गरिष्ठ खीर पायस गरिष्ठ भोजनको खाकर जैसे आलसी हो जाते है, चित्त पड़े रहते है, बेकाबू हो जाते है इसी प्रकार ये निश्चयाभासी पुरुष भी प्रमादके भारसे यो बेहोश हो गए है।

भ्रष्टाचरणीका व्यामोह—भ्रष्टाचरणीका मन भयानक होता है। मुद्रा तो शान्तिकी

है, पर चित्तमे करुणा नही है। करुणारहित पुरुष सयम नही पाल सकता है। सयमका मूल ही दया है। जिन्हे अपने आपकी भी अनुकम्पा नही, परजीवोकी भी अनुकम्पा नही, केवल एक चर्चाका व्यसन लगा है ऐसे उस भयानक मनके कारण उनका तो मोह दृढ हो रहा है। जैसे कोई पुरुष शारीरिक वेदना न सही जानेके कारण मरण पसद करे, उसको आप मोही कहेगे या नही ? मोही है और कोई पुरुष धनका टोटा पडनेके कारण मरण पसद करे तो उसे आप मोही कहेगे कि नही ? शायद उससे भी ज्यादा मोही कहेगे जो शारीरिक रोगकी वेदना न सह सकने से मर रहा हो। उससे भी आप अधिक मोही उसे कहेगे जो धनके नुकसानके कारण मर रहा है और कोई पुरुष लौकिक यश न बढनेसे दुःखी होकर या किसी प्रकार लौकिक यशमे घात हो जानेसे दुःखी होकर मरे तो उसे मोही कहेगे या नही ? सम्भव है कि आप धनके पीछे मरने वालेसे भी अधिक मोही यशघातसे मरने वाले को कहेगे और कोई पुरुष कुछ बात चर्चा करता हो और लोग उसकी बातको न मानें तो मेरी बात नही मानी गई, मेरी बात टाल दी गई, इतनी बातपर कोई मरे तो उसे मोही कहोगे या नही ? उसे भी मोही कहोगे और कोई पुरुष धर्मकी चर्चा करके, आत्माके स्वरूपकी शुद्धताकी कथनी करके, उस कथनीके विकल्पोसे अपनेको महत्वशाली समझकर उस चर्चासे इतनी प्रीति रखे कि लोगोके बडप्पनका कारण, सुखका कारण एक उस कथनीको ही मान लिया ऐसी कथनीमे आत्मत्वकी बुद्धि रखने वाला, कथनीके विकल्पमे आत्मत्वकी बुद्धि रखने वाला पुरुष मोही कहलायेगा अथवा नही ? मोही है।

आत्मभ्रष्टकी जडता—जैसे कोई पुरुष बहुत गरिष्ठ भोजन करके बेकाबू बनकर लेटा रहे, आलसी रहे, इसी प्रकार गरिष्ठ मलाई आदिक भोजन करके, रस रसायन खा-खाकर जो बडे पहलवान बनकर शरीरके अभिमानसे जडसे बन रहे है दिखनेमे वे बडे काम कर रहे है, वे भी मूढ है, जड है, ऐसे ही जो केवल एक शुष्क केवल शुद्धस्वरूपकी चर्चामात्रसे ही अपना कर्तव्यपालन पूर्ण समझते है वे तो उस आलसी की तरह है और जो इस कथनीका प्रसार करके, प्रसार जानकर अपनेको बडा पुरुषार्थी समझकर उस वातावरणसे अपनेको महान मान रहे है वे इस देहबल वाले पहलवानकी तरह जड हैं। बडे भयानक भावसे वे अपने आपके साथ छल कर रहे है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट होनेसे विक्षिप्त हो गयी और जैसे चेतनासे रहित बनस्पति पेड जैसे खडे बेकार है इसी प्रकार व्रत तपस्या सयम नियम यम इन सभी को हेय मानकर केवल एक अपने शरीरको ही सुखपूर्वक रखकर चर्चासे एक अपनी प्रशसा लूटकर जो रहे है वे वनस्पतियोकी तरह एक भाररूप खडे हुए है। अपने लिए तो भार है ही। ऐसे निश्चयाभासी पुरुष मुनीन्द्रोके द्वारा आचरण किए जाने वाले व्यवहारधर्म कर्मचेतनसे अत्यन्त दूर रहते है।

देखिये जैसे निश्चयशुद्ध आत्माके ज्ञानसे रहित होकर कोई केवल क्रियाकाण्ड करे तो वे भी सुधबुधसे रहित है, इसी ही प्रकार व्रत तपस्याओंसे रहित होकर और रहित ही नही किन्तु उनको हेय कहकर ग्लानिसे देखकर केवल एक चर्चामात्रसे ही अपनेको सुखपूर्वक रखे है वे भी शुद्ध शिवपथसे भ्रष्ट हैं और कोई व्रत तपश्चरण न करे उससे पुण्य बध जायगा। पुण्यबध बुरा है, ऐसी बात मनमे रखकर उससे दूर ही रहा करते है और भीतरमे ज्ञानतत्त्वका कुछ अनुभव है नही तो उनकी दशा भी वही है जैसी केवल व्यवहारावलम्बी पुरुषकी है। ये भी ससारसागरमे भ्रमण करते है।

कर्मयोग और नैष्कर्म्यका स्थान—किसी प्रकारका कर्म न करें, कर्मोंके मायने यम, व्रत, नियम, प्रतिज्ञा कुछ न करें। हाँ कुछ न करे, बिल्कुल ठीक है, पर यह इनके लिए ठीक है जहाँ कोई किया कर्म नही है, ऐसे नैष्कर्म्य ज्ञानस्वरूपमे जो मग्न हो गए है, यह स्थिति तो पायी नही और व्यवहारिक सत् आचरणोको हेय मानकर पुण्यबंधके भयसे उनसे दूर रहा करते है। सीधी भाषामे यो कह लो कि पुण्यबधके कामको बुरा समझकर उससे तो अलग रहते है और यह साहस उनके नही है कि पाप कर्मोका त्याग कर दे। तब यही निर्णय समझिये उनमे प्रकट और अप्रकट सर्वप्रकारके प्रमाद कषायें भरी हुई है। वे वर्तमानमे भी कर्मफलचेतनाको भोग रहे है और भावी कालमे ऐसी स्थिति भी पा लेंगे कि जहाँ केवल कर्मचेतना भोगनेकी ही प्रधानता हो। ऐसे स्थावरो तकमे जन्म ले ले। इस प्रकारके अलसियाये हुए ये निश्चयावादी पुरुष केवल पापोका ही बध करते है। इस प्रकरणमे बात यह दिखाई गई है कि करने योग्य बात यह है कि लक्ष्य बनाये अपना शुद्धस्वभावमे मग्न होनेका और इसीके लिए प्रयत्न करें। इसके अपात्र बन जायें, ऐसी कोई परिणति न करें। पापोमे लगनेकी परिणति आत्मानुभवकी अपात्रताका निर्माण करती है। पापोसे दूर रहे वही हो गया सयम, वही हो गया नियम, वही हो गया व्रत।

निश्चय व व्यवहारके विरोधमे अलाभ—निश्चय और व्यवहार दोनोका विरोध न रखकर जब-जब जिस पदमे जितना व्यवहार रहता है उस व्यवहारमे रहते हुए निश्चय शुद्ध तत्त्वकी मुख्यता और लक्ष्य रखते हुए धर्मका आचरण करे, किन्तु जो इन दो बातोमे से केवल व्यवहारका ही एकान्त रखते हैं, न उनको शान्तिलाभ है और जो व्यवहार आचरणका विरोध करके केवल एक चर्चा कथनीका ही अनुराग रखते है, न उन्हे शान्तिलाभ है। निश्चयका आलम्बन करने वाला अगर निश्चयसे निश्चयको जान रहे है तब तो उनसे महान और कौन है, पर निश्चयसे निश्चयको जान तो नही रहे है, उस तत्त्वका अनुभव तो नही किया है, किन्तु एकान्त निश्चयका आलम्बन बना लें, वे उन आचरणोके करनेका तो नाम भी नही लेते, बाह्य आचरणोमे आलसी बने रहते है तो वे वास्तविक जो आध्यात्मिक आचरण है

उसका भी विनाश कर डालते है।

आत्मतत्त्वके अपरिचयीका कथनप्रसंग—जैसे किसी पुरुषने मिश्री नही खायी है, उसके स्वादका परिचय नही है, किन्तु साहित्यिक कला उसकी ऐसी है कि उस मिश्रीके स्वादका बहुत-बहुत वह वर्णन कर सकता है। देखो भाई मिश्री बहुत मीठी होती है, कैसी मीठी होती है ? देखो—तुमने गन्ना तो चूसा ही होगा ना ? हाँ हाँ। गन्नेके चूसनेमे जो स्वाद आता है उससे अधिक स्वाद रस पीनेमे आता है और रसको गाढा कर लिया जाय तो उसमे अधिक मिठास है, और रसका मैल हटाकर गुड बनाया जाय तो देखो उस मीठेपनका बाधक मैल था, वह मैल निकाल दिया तो उसमे मीठापन बढा ना ? हाँ बढा। उस गुडके मैलको भी निकालकर शक्कर बना ली जाय तो उसमे और ज्यादा मीठापन है, और उस शक्करका भी मैल निकालकर मिश्री बना ली जाय तो वह तो सबसे अधिक मीठी है। सुन-सुनकर इतनी बातें कर लेनेपर भी जिसने मिश्रीका स्वाद आज तक भी नही लिया तो कथनीके करनेसे मिश्रीके स्वादका अनुभव तो न हो जायगा। ऐसे ही जिसकी अनन्तानुबधी कषायें शिथिल नही हुई है, उपशान्त नही हुई है, अतएव पर्यायकी पकड जिनकी नही गई है, जिस किसी भी अनात्मतत्त्व मे यह मैं हू, मै अमुक ही नाम वाला तो हू, इतने ही बच्चोका बाप तो हू, अमुक नगरीका रहने वाला ही तो हू, और मैं कौन हू ? जिस किसी भी पर्यायमे आत्मबुद्धि जिसकी बनी हुई है, आत्मतत्त्वका कभी अनुभव नही किया वह अपनी साहित्यिक कलाके बलसे उस आत्मतत्त्व का कितना ही वर्णन कर ले युक्तिसे, अनुमानसे, फिर भी आध्यात्मिक आचरण, स्वरूपाचरण आत्मानुभूति तो उनके नही जगती।

आवश्यक ज्ञान और आचरण—भैया ! जिसे छूटना है सकटोसे उसका छूटा हुआ ही स्वभाव है ऐसा जब तक अनुभवमे न आये तब तक छूटनेका उपाय कैसे बनेगा ? तब जैसे केवल व्यवहारके आलम्बनमे शान्तिलाभ नही है ऐसे ही केवल निश्चयनयके आलम्बनमे भी शान्तिलाभ नही है। अतः निश्चय और व्यवहारका विरोध न करके धर्मके आचरणमे चले तो उस प्रवृत्तिमे वीतरागता बनेगी और वीतरागता होनेसे ही ये ससारके समस्त सकट दूर होगे। एतदर्थ अविरोधपूर्वक अपना ज्ञानार्जन और आचरण दोनोमे बराबर यत्न होना चाहिए। गृहीतमिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ व इन्द्रियोंके विषयोकी वाञ्छा व अन्य अभिलाषाओसे विरक्त होना—यह तो सदाचरण करना ही चाहिये। इसमे तो व्यवहारव्यवस्था भी है और आत्मविशुद्धि भी है। इन आचरणोके करनेपर भी अपने आपके सहजस्वरूपकी रुचि व आचरण करना मौलिक कर्तव्य है।

निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्गकी एकाधिकरणता—मोक्षमार्गमे चलने वाले पुरुषोकी पद्धति दो तरहकी होती है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरी व्यवहारमोक्षमार्ग।

कही इसका मतलब यह नही है कि निश्चयमोक्षमार्ग भी मोक्षको देता है और व्यवहार-मोक्षमार्ग भी मोक्षको देता है। यह भी अर्थ नही है कि कोई पुरुष व्यवहारमोक्षमार्गसे गुजरे बिना केवल निश्चयमोक्षमार्गसे चलकर मोक्ष पहुचे या केवल व्यवहारमोक्षमार्गसे चलकर मोक्ष पहुचे, पुरुष वह एक ही है और उसका अन्तरङ्गमे निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व निश्चयसम्यक्‌चारित्रका आविर्भाव होनेसे वह मोक्षमार्गी है, किन्तु साथ ही ऐसे उस निश्चयमोक्षमार्गका आरम्भ करने वाले पुरुषके पूर्वबद्ध रागका अवशेष है, अतः उस रागके उदयमे रागमयी प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति किस तरह होती है ? उस रागके समयमे यह ज्ञानी पुरुष श्रद्धानका किस प्रकार प्रयोग करता, ज्ञानका किस प्रकार प्रयोग करता और चारित्रका किस प्रकार प्रयोग करता है, बस इस विशेषताका नाम है व्यवहारमोक्षमार्ग। इसी कारण इन दोनोका परस्पर अविरोध रखकर जो ज्ञानी मोक्षमार्गमे चलता है वह अपने उद्देश्यमें सफल होता है।

पक्षाद्रह व निष्पक्षताका अधिकारी—जो कोई केवल व्यवहार एकान्त मानकर चलते है उनकी क्या परिस्थिति होती है, यह दिखा दी गई और जो केवल निश्चय एकान्तपर चलते है उनकी क्या परिस्थिति होती है, वह भी बतायी गयी है। ये दोनो ही एकान्ती ससारसागर मे भ्रमण करते है, परन्तु जो पुरुष अपुनर्भवके लिए अर्थात् फिर भव धारण न करना पडे ऐसी परिस्थिति पानेके लिए नित्य उद्योगशील है अतएव महाभाग है, पुण्य पुरुष है वे निश्चय और व्यवहार इन दोनोमे से किसी एकका आलम्बन न लेनेसे अर्थात् किसीको प्रधान न बनाने से अत्यन्त मध्यस्थीभूत है, और वे ज्ञानी पुरुष निश्चय व्यवहारके अविरोधपूर्वक आचरण करके मुक्तिको प्राप्त कर भी लेते है और जो किसी एकान्तमे अपना उपयोग फसाये है, जैसे मान लो कोई व्यवहार एकान्तवादी है तो उसके समक्ष निश्चयतत्त्वकी चर्चा रखे तो उसे बडी कडवी लगती है, सुनना नही चाहता है, क्रोध करने लगता है। हालाकि जो बात निश्चयनयसे रखी जायगी वह गलत नही है, किन्तु व्यवहारएकान्तका परिणाम होनेसे उसे सही बात सुहाती नही है, और कभी-कभी तो यह जानकर भी कि ये सब बातें सत्य हैं, तत्त्व यही है जानते हुए भी उसके विरुद्ध बोलना पडता है और उसका निराकरण करता है। इतने विकट पक्षकी स्थिति बन जाती है। व्यवहारैकान्तपक्षकी तरह जो निश्चयएकान्तको पसद करते है, निश्चयएकान्ती है वे व्यवहारके व्रत तपकी क्रियाएँ सुनकर या व्रत तपका कोई आचरण करता हो तो उससे घृणा करते हैं, ऐसे विकट पक्षकी स्थिति निश्चयएकान्तवादियो के भी हो जाती है, मध्यस्थता नही आ पाती है। व्यवहारवादीको भी देख सके, सुन सके, निश्चयवादीको भी देख सके, सुन सके, ऐसी मध्यस्थ स्थिति नही हो पाती है।

अपुनर्भवके उद्यमीकी भावना—जो वास्तवमे अपुनर्भवके लिए उद्यमी हुए है, ईमान-

दारीसे अपने अतःकरणसे जो अपने आत्मकल्याणके लिए उद्यमी हुए है उन्हे किसीका पक्ष नही सुहाता है। उन्हे आत्मकल्याण ही चाहिए। वे जानते है कि यह पुरुष मायारूप है, कुछ क्षणको इसका समागम है, अन्तमे यह भी विघट जायगा, हम भी विघट जायेंगे। इस समुदायमे हमे क्या सुनना, क्या पक्ष रखना ? इनमे अपनी बात मनानेका क्या हठ करना ? जब यह मै मनुष्य स्वय न रहूगा तब इतने दुर्लभ अवसरको कहाँ एकान्तके विपमे ढालकर बरबाद करना ? उसके आत्मकल्याणकी भावना रहती है। वह हम सब पुरुषोमे मध्यस्थ- रहता है। यह आत्मकल्याणार्थी पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वमे स्थिर रहनेके लिए सावधान रहा करता है।

अपुनर्भवार्थीकी अन्तर्बाह्यवृत्ति--एकान्तियोकी दृष्टि बाहर ही रहा करती है, वे अतस्तत्त्वका स्पर्श नही करते, किन्तु यह मध्यस्थ पुरुप, यह आत्मकल्याणार्थी पुरुष चैतन्य- स्वरूप आत्मतत्त्वमे स्थिर रहनेके लिए लालायित रहता है और इसी कारण जब कभी प्रमाद की परिणति जगती है तो उस प्रमाद भावको दूर करनेके लिए शास्त्रकी आज्ञानुसार क्रिया- काडोको भी करता है। किसी भी प्रकार मेरा आत्मा पवित्र लक्ष्यकी ओर बना रहे, इसकी सिद्धिके लिए व्यवहारिक क्रियाकाडोको भी ग्रहण करता है। कही यह प्रमाद और रागभाव हमे उल्टे मार्गमे न ले जाय उन सब उपद्रवोसे बचनेके लिए यह ज्ञानी व्यवहारचारित्रका भी पालन करता है और इन क्रियाकाण्डोके पालनके माहात्म्यसे उन प्रमादभरी वृत्तियोको दूर करता है।

आत्महितार्थीकी धुन---इस आत्महितार्थीके तो केवल यही धुन समायी है कि मेरा यह ज्ञानस्वरूप यथार्थरूपमे रहा करे, मुझे और कुछ न चाहिए, मुझे लोगोमे कुछ नही जचाना है, ऐसे विशुद्ध भावोसे निश्चय और व्यवहार इन दोनोके अविरोधके कारण यह ज्ञानी जीव, कल्याणार्थी जीव मध्यस्थ बना हुआ है। उसका निरन्तर उद्योग यही रहता है कि समस्त योग्यता समस्त शक्तिको लेकर निज आत्माको आत्माके द्वारा आत्मासे ही सचेतन करनेका उद्यमी रहा करे। विकल्प टलें, निर्विकल्प स्थिति बने, इसके लिए यह अन्तरङ्गमे देखता भी रहता है। यह ज्ञान अपनी ओरमे आये। अपने मूलमे कितना आ रहा है, आने दो और यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो जाय, इस तरहकी वृत्तियोको वह तकता रहता है और यत्न करता रहता है कि यह ज्ञान अब अपने आपमे मग्न होने वाला है, उसका ही एक मौन यत्न करना है। यह उसके भीतरमे स्थिति रहती है।

अपुनर्भवके उद्यमीके पुरुषार्थका आरम्भ---अपुनर्भवका उद्यमी पुरुष अपने अत. प्रयत्न के द्वारा स्वतत्त्वमे विश्राम करता है। जैसे-जैसे उसका निज ज्ञानस्वरूपमे विश्राम होता है, पक्ष मिटता है, रागद्वेषकी वृत्तिया समाप्त होती है, अपने आपमे ज्ञानानुभव करता है, विशुद्ध

स्वाधीन आनन्द लगता है वैसे वैसे ही उनके कर्मोंका भी वह निर्जरण करता रहता है। १४ गुणस्थान जो बताये गये हैं वे सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी विशेषताकी स्थिति बताया करते हैं। संसारके प्रायः सभी जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें पड़े हुए हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके किसी भी प्रकारके कर्मोंका संवर नहीं होता और मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जरा भी नहीं होती। हाँ यह मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सम्मुख होता है तो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंमें लगनेपर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामके समय इसके बहुतसे कर्मबन्ध रुक जाते हैं। यद्यपि इस बन्धनके रुकनेका नाम संवर नहीं है, लेकिन यह संवरकी तरह है। सम्यक्त्वकी सम्मुखताका भी इतना बड़ा माहात्म्य है जिन प्रकृतिका संवर छठे गुणस्थान तकमें हुआ करता है, ७वें गुणस्थान तकमें हुआ करता है। प्रायः कई उन प्रकृतियोंका संवर नहीं, किन्तु बन्धनिरोध यह मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वके सन्मुख होनेपर कर डालता है।

मोक्षमार्गी आत्माके संवरकी विशेषता—दूसरा गुणस्थान मिथ्यात्वके बाद नहीं आया करता, किन्तु उपशम सम्यक्त्वसे गिरनेपर आया करता है। किन्तु उपशम सम्यक्त्वके समय जीवके संवर निर्जरा चल रही थी, सो गिरनेके बाद दूसरे गुणस्थान तक भी कुछ प्रकृतियोंका संवर चलता रहता है। जो संवर दूसरेमें है वह तथा और भी विशेष संवर तीसरेमें है, फिर ज्यों-ज्यों गुणस्थान बढ़ते हैं त्यों-त्यों संवर भाव बढ़ता है और निर्जरा बढ़ती है। वह क्या है? जैसे-जैसे यह आत्मा निज ज्ञानस्वरूपमें विश्राम लेता रहता है वैसे ही वैसे कर्मोंका झड़ना बढ़ता जाता है। सब माहात्म्य अपने आपका अपने आपके स्वरूपमें मग्न करनेका है। मोक्षमार्गी पुरुषकी ऐसी आन्तरिक वृत्ति होती है।

अन्तर्दृष्टि व बाह्यदृष्टिके रुचिया—मिथ्यादृष्टि जन बाहर ही बाहर अपनी दृष्टि लगाये रहते हैं। किसी भी क्षण वे अपने आपको छूते भी नहीं। कभी धर्म करनेकी धुन बने तो भी बाहर-बाहरकी दृष्टि लगाये रहते हैं। धर्मपालनके नामपर देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा भी बहुत करते हैं, भक्ति और पूजा भी बहुत करते हैं, पर किसी क्षण ऐसा ही स्वरूप तो मेरा है, ऐसा अनुभव नहीं कर पाते। बाहरी क्रिया-कलापोंसे हमारा उत्थान होगा—यह ही दृष्टि रहा करती है, किन्तु ज्ञानी जीव व्यवहारभक्ति करते हुए भी लक्ष्यमें यही बनाये हुए हैं कि इस ही की तरह मेरा स्वरूप कब विकसित हो जाय ऐसी उनकी दृष्टि होती है।

चैत्यवन्दन—प्रभुमूर्तिके दर्शनके प्रसंगमें भी ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिका अन्तर देखिये—ज्ञानी पुरुष मूर्तिके समक्ष दर्शन करते हुए भी किसकी यह मूर्ति बनायी है, स्थापना की है ऐसे वे प्रभु तीर्थंकर समवशरणमें विराजमान हैं, उनकी इस-इस प्रकारकी घटनाओंको व गुणोंको स्मरण करते हुए वन्दन करते हैं, नमन करते हैं वह अन्तःस्वरूप उपासकोंके .... प्रतिमा .... हैं .... ही प्रभु हैं, वे ही भगवान हैं, ऐसा भेद-.........

उस ही पर रुचि करते है और खुश होते है। वह एक मुद्रा है और जिस मुद्राकी स्थापना की है इस स्थापित मुद्राको देखनेसे उस मुद्राका भान होता है तो जिनकी स्थापना है उनके गुणो के स्मरण सहित वन्दन नमन हो वह तो ज्ञानीकी वृत्ति होती है और अज्ञानीकी वृत्ति मूर्तिके नाप-तौलमे अटक जाती है। जैसे बालक भी जानते है ये बडे भगवान है, ये छोटे भगवान हैं। छोटी मूर्तिको बच्चे छोटे भगवान कहते है बडी मूर्तिको बच्चे बडे भगवान कहते हैं। अरे मूर्ति तो एक मुद्रा है, भगवान न छोटे है, न बडे हैं, सब एक समान है। भगवत्स्वरूपका परिचय हुए बिना कितनी ही विडम्बनाएँ बन जाती है।

परमस्वार्थ—एक ज्ञानी पुरुष जिसे यदि वह कहा जाय कि यह परमस्वार्थी है तो इसमे कुछ अत्युक्ति नही है। यह परम जो स्वमे स्वरूप है उसकी ही निरन्तर चाह करता है। जिसे कहते है खुदगर्जी वह खुदगर्जी परमस्वार्थियोके पास फटक नही पाती है। जो स्वरूपार्थी अपने देह इन्द्रिय विषयोके लिए भी रुचि नही रखते वे किसी प्रकारकी आशा खुदगर्जी क्या कर सकेगे, जिसमे दूसरे पुरुषोको हानि हो, कष्ट हो। ऐसा यह परमस्वार्थी परमविवेकी परमतत्त्वज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमे विश्राम करता है और उस विश्रामके अनुसार क्रमसे कर्मोंका परित्याग करता है।

निष्प्रमादता व निर्भया मुद्रा—अब ये ज्ञानी पुरुष अपने आत्मामे मग्न होनेरूप परमपुरुषार्थमे परम क्रियामे निष्प्रमाद हो गए है। विषयोमे रुचि जगना, विषयसाधन कमानेके लिए भाग-दौड करना, ये सब प्रमाद है और मन, वचन, कायकी क्रियावोको रोककर ज्ञानको अपने ज्ञानस्वरूपमे समा देना, यही निष्प्रमाद अवस्था है। यह पुरुष पूर्ण रूपसे निष्कम्पमूर्ति बन जाता है। इसको अगर वनस्पतियोसे उपमा दें तो कदाचित् किसी मूडमे दे सकते है। वृक्ष भी कही भागते नही है, ये ज्ञानी पुरुष भी दौड-धूप नही मचाते है, लेकिन वनस्पति तो कर्मफलका अनुभव करते है, किन्तु यह ज्ञानी कर्मफलोका अनुभव नही करता है। और वनस्पतियोमे सचेतन वनस्पतियोको उपमा न दें, किन्तु कोरे खडे हुए ठूठोसे उपमा दें। ये ऐसे निष्कम्प रहते है तो यह उपमा और चोखी रहेगी। देखो ना भैया! तभी तो बनोमे ध्यानस्थ मुनिके शरीरको हिरण पत्थर समझकर उनसे ही खाज खुजाने लगते हैं। किसी साधु पुरुषसे न कोई पशु डरे, न पक्षी डरे, न अबोध बालक डरे।

ज्ञानीकी बाह्यनिरुत्सुकता—ये ज्ञानी पुरुष कर्मोंके अनुभव करनेमे निरुत्सुक रहते हैं। इनकी दृष्टि केवल स्वयकी ओर है, सुख दुःख इष्ट अनिष्ट मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ इनकी ओर रुचि नही है। ज्ञानियोकी रुचि है अपने आपको अपने आपमे मग्न करनेकी। य ज्ञानी पुरुप जो अपुनर्भवकी प्राप्तिके लिए उत्सुकता रखते है वे केवलज्ञानकी अनुभूतिसे उत्पन्न हुए तात्त्विक आनन्दसे भरे-पूरे रहा करते है। सभी जीव कुछ न कुछ अनुभव किया करते हैं,

लेकिन कोई तो इन्द्रियज सुखका अनुभव करते है और कोई इन्द्रियज दु खका अनुभव करते है, किन्तु यह मोक्षगामी पुरुष, पूज्य पुरुष मात्र ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है। अनुभवन करनेका तात्पर्य है प्रकर्ष रूपसे किसीको जानते रहना। इसका जब जाननका काम है तो न जाना बाह्यपदार्थोंको, अपने आत्मस्वरूपको ही जानने लगे तो क्या ऐसा नही जानेगा? जान लेगा। न जाने बाह्य अर्थोंको, मै किस रूप हू, इस स्वरूपको ही जानने लगे वहाँ ज्ञानकी अनुभूतिहोती है। किसी बाह्यको जाननेसे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा, मुझे शाति न मिलेगी, ऐसा निश्चय होनेके कारण ये ज्ञानी पुरुष बाह्यको जाननेमे निरुत्सुक है।

शाश्वत शब्दब्रह्मफलका भोक्तृत्व—ज्ञानी पुरुष बहिस्तत्त्वको जाननेमे नितान्त निरुत्सुक है अत अपने आपके जाननेके लिए ही वे उद्यमी रहा करते है। अतएव वे शुद्ध आनन्द रससे परिपूर्ण रहा करते है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुष बहुत ही जल्दी इस ससारसमुद्रसे तिरकर इस शब्दब्रह्मका फल जो ज्ञानब्रह्म है, शाश्वत है उस ज्ञान ब्रह्मस्वरूपके भोक्ता हो जाया करते हैं। सभी चीजें ३ रूपोमे बाँटी जा सकती है—शब्द, अर्थ और ज्ञान। जैसे पुत्रको तीन रूपो मे बाँटे–शब्दपुत्र, अर्थपुत्र और ज्ञानपुत्र। आप पुत्रसे प्रेम करते है तो यह बताओ कि शब्दपुत्र से प्रीति कर सकते हैं या अर्थपुत्रसे प्रीति कर सकते है या ज्ञानपुत्रसे प्रीति कर सकते है? पु और त्र ऐसे दो अक्षर लिख दिये जाये उन अक्षरोका नाम है शब्दपुत्र। कोई इन दो अक्षरोसे प्रेम करता है क्या? जो दो हाथ पैर वाला घरमे पुत्र है उसे अर्थपुत्र कहते है। क्या आप अर्थपुत्रसे प्रीति निभा सकते है? वह जुदा पदार्थ है, आप जुदे पदार्थ है, आपकी कुछ भी परिणति अन्य पदार्थोंमे नही पहुचती, किन्तु उस अर्थपुत्रको विषय करके जो कल्पनामे समाया हुआ है वह है ज्ञानपुत्र। कल्पनामे परिणत आप उस कल्पनासे प्रीति करते है। ब्रह्मको भी तीन रूपोमे बाँटो—शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म और ज्ञानब्रह्म। आत्माके स्वरूपका नाम है ब्रह्म। ब्रह् और म——ये अक्षर लिख दिये जाये इसका नाम है शब्दब्रह्म अथवा इस शब्दब्रह्मको बतानेके लिए जितने भी ये आगम बने हुए है ये सब है शब्दब्रह्म। और जो आत्मा है वह अर्थब्रह्म है और उस आत्माके सम्बधमे जो ज्ञान चलता है वह ज्ञानब्रह्म है। शब्दब्रह्मका तो यह भोक्ता होता नही और अर्थब्रह्म यह स्वय है। तब ज्ञानब्रह्म द्वारा इस अर्थब्रह्मको विषय कर-करके ज्ञानी पुरुष अर्थब्रह्मको भी भोगता है, ज्ञानब्रह्मको भी भोगता है, क्योकि ये दोनो अभिन्न हैं और निजकी [illegible] है अर्थात् इस तरह ज्ञानमार्ग द्वारा बढ-बढकर यह जीव मोक्षके आनन्दको प्राप्त करता है।

अन्तिम शिक्षण—जिन्हे निर्वृत्ति चाहिए उनका कर्तव्य है कि वे वीतराग बनें, और वीतरागता पानेके लिए निश्चय और व्यवहारका विरोध न करके मोक्षमार्गमे बढते रहे, इससे हम आप सब ससारके सकटोसे छूट सकते है। यह गाथा पञ्चास्तिकायकी उपान्त्य गाथा है।

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गका विवरण करके श्री कुन्दकुन्द देवने कर्तव्यपालनकी प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि जो निर्वृत्तिकी, निर्वाणकी, अपुनर्भवकी इच्छा करते हैं अर्थात् जो ससारके बन्धनोसे छुटकारा चाहते है वे समस्त पदार्थोंमे मोह, राग व द्वेष न करें, क्योकि वीतराग आत्मा ही भवसागरसे तिरता है। वीतरागताका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका पुरुषार्थ है। अतः सर्वप्रयत्नपूर्वक रत्नत्रयकी, अन्तस्तत्त्वकी आराधना करो।

मग्गप्पभावणट्ठ पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसार पचत्थियसगह सुत्त ॥१७३॥

ग्रन्थनसमाप्ति सूचना—यह गाथा पचास्तिकायकी अन्तिम है। इसमे ग्रन्थकारकी क्रियासमाप्तिकी सूचना है और साथ ही ग्रन्थ समाप्त कर देनेके कारण जो एक विश्राति और शान्ति प्राप्त होती है उसका भी इसमे दिग्दर्शन है। ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्द देवाचार्य कहते है—प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मेरे द्वारा मार्गकी प्रभावनाके लिए पचास्तिसग्रह नाम का प्रवचनसार सूत्र कहा गया है।

कर्तृवाच्य और कर्मवाच्यके प्रयोगका अन्तर—बोलनेके वाक्य दो प्रकारके होते है—एक कर्तृवाच्य और एक कर्मवाच्य। जैसे मैं पुस्तकको लिखता हू यह कर्तृवाच्य है। मेरे द्वारा पुस्तक लिखी जा रही है यह कर्मवाच्य है। दोनो प्रकारके कथनमे भावोका अन्तर है। कर्तृवाच्य तो कुछ गर्व और अहकारकी ध्वनिको बताता है और कर्मवाच्य अहकारकी शिथिलताको बताता है। जैसे कहा जाय कि मैने यह काम बनाया है और इसही को यो कहा जाय कि मेरे द्वारा यह काम बन गया है। अन्तर हुआ भावोमे और यह कहा जाय कि मेरे निमित्तसे काम बन गया और अधिक अन्तर आ गया। इस गाथामे ग्रथकार कर्मवाच्यका प्रयोग करके कह रहे हैं—मेरे द्वारा यह पचास्तिकायसग्रह कहा गया है।

ग्रन्थयोजनाका कारण परमागमभक्तिकी प्रेरणा—क्यो कहा इस सूत्रको ग्रथकर्ताने ? तो ग्रथकर्ता अपना एक विशेषण यो कह रहे हैं कि जिससे निरहकारताकी और सिद्धि हो जाय। परमागमकी भक्तिसे प्रेरित होकर यह सूत्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसमे कितनी ही ध्वनिया लगाते जायें। मैं एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकर्ता भोक्ताके विकल्पोसे परे यह मै ज्ञाताद्रष्टा आत्मतत्त्व क्या करूँगा, इसका कुछ भी करनेका बोलनेका स्वभाव नही है, किन्तु इस आत्मा मे लगे हुए रागद्वेष विकारोसे प्रेरित होकर इस जीवकी चेष्टाएँ चलती रहती है। किसीका राग शुभ विषयसम्बधी होता है, किसीका राग अशुभ विषय सम्बधी होता है, पर प्रेरणा दोनोमे बसी हुई है। शुभ रागसे भी प्रेरणा चलती है और अशुभ रागसे भी प्रेरणा चलती है। प्रवचनकी भक्तिसे यह मैं प्रेरित हू।

प्रवचन और प्रवचनभक्ति—प्रवचन कहते हैं प्रमाणिक वचनोको। प्रवचन कहो या

परमागम कहो दोनो एक ही वात है । मै क्यो प्रेरित हुआ प्रवचनपरमागमसे, इसे **सुनिये**—ससारमे अनादिकालसे भटकते हुए मुझ आत्माको अब तक अनन्तकाल जो व्यतीत हुआ है, अब तक शान्तिके मार्गका पता नही पा सका था और अनादिमलिनतावश विषयोमे सुख है, हित है, ऐसी बुद्धि कर-करके इन विषयोमे ही लगा रहा था कि जिन विषयोकी प्रीति अत्यन्त असार है, विषय भी पानीके बबूलेकी तरह अथवा स्वप्नकी तरह एक दिखावट मायारूप है, और विपयोकी चाह भी मायारूप स्वप्नवत् एक विकार आया है । न विषय रहेगे, न यह इच्छा रहेगी, किन्तु विपयोकी इच्छा कर जो भोग प्रसगमे विकार लगाया है उससे जो वासना बनी, पापबध हुआ, वह भविष्यमे बहुत काल तक चलेगा । इन विपयोके प्रसगमे जीवको लाभ नही हुआ, न होता, हानि ही हानि सदा रही आयी । अब सौभाग्यवश उत्तम कुल पाया, उत्तम धर्मकी सगति मिली, ऐसे प्रकृष्ट वचन पढने और सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उससे ज्ञाननेत्र खुले और जिस विपदा विडम्बनामे बहे जा रहे थे, हमको इस आगमका सहारा मिला, इस कारण प्रवचनकी प्रकृष्ट भक्ति उत्पन्न हुई है ।

परमागमसे आत्महितकी प्रेरणा—इस परमागममे यथार्थ वस्तुस्वरूपका निरूपण है । कोई भी वैज्ञानिक, कोई भी अन्वेपक खूब युक्तिपूर्वक खोजकर निरख ले प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्त्वसे सहित है, अतएव अपने ही स्वरूपसे है, अपने ही परिणमनसे परिणमता है । किसी एक पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ रच सम्बन्ध नही है । इस मोही अथवा मोहभावसे तो यह जड ही अच्छा है जिसको किसी प्रकारका आकुलताका विकार तो नही उत्पन्न होता । इस मोहीने अब तक वस्तुके स्वरूपके विमुख बन-बनकर कष्ट ही कष्ट सहा । इन अनन्तानन्त प्राणियोमे से जब कभी किसी भी भवमे जिस किसी भी दो-एक जीवोको अपना सब कुछ मानकर चला, फल क्या निकला ? कोई कभी होता तो है नही अपना । किसी परवस्तुको अपना मान लें तो भले मान लो, किन्तु परवस्तु अपनी बनकर रहती नही, अपनी इच्छासे परिणमती नही तब केवल क्लेश ही क्लेशका अनुभव होगा । जैसे आप किसी पुरुषको अपना मित्र समझ ले और उसपर प्रीति बढा लें, विश्वास कर लें और कभी भी अपने प्रतिकूल बन जाय तो खेद होता है । क्यो खेद हो ? यो तो प्रतिकूल सारा जगत है । खेद यो हुआ कि हमने उसे अपना माना और अपने विरुद्ध वह रहा तो यही बात सर्वत्र घटा लीजिए । कुटुम्बको हम अपना मानते है पर कुटुम्ब अपना होकर रहता नही । उसका जैसा परिणमन है उस अनुरूप होता है तब यह कष्ट सहता है कल्पनाओका ।

परमागमके प्रसादसे ज्ञाननेत्रका उन्मीलन—इस परमागमके प्रमाणीक वचनोने हमारे ज्ञाननेत्र खोल दिये । मेरा तो देह तक भी नही है । कोई क्षण जल्दी ही आनेको तो है ना कि इस देहसे भी न्यारा होकर हम चले जायेंगे । जब देह तक भी मेरा नही है तो देहमे

उत्पन्न हुए इन्द्रियोके विकारमे हम क्यो उपयोग फसायें ? और देह तो यही रहेगा, हम पापी बनकर आगे अपनी कुयात्रा करेगे। तत्त्वकी कौनसी बात है ? इस प्रवचनके प्रसादसे मेरे ज्ञाननेत्र खुले अतएव इसमे तीव्र भक्ति होती है। उस भक्तिमे प्रेरित होकर मेरे द्वारा यह पचास्तिसग्रहसूत्र कहा गया है।

मार्गप्रभावना—इस ग्रन्थको कहनेका प्रयोजन भी केवल मार्गकी प्रभावना है। मार्ग मायने है परमेश्वरकी परम आज्ञा। भगवान अरहत परमेश्वर उनकी जो परम आज्ञा हुई है, दिव्यध्वनिमे जो शासन प्रकट हुआ है उसे कहते है मार्ग। यह मार्ग उत्कृष्ट वैराग्य करानेमे समर्थ है। जिन-आगमकी सारभूत बात यह है कि जो राग करेगा सो कर्मोंसे बधेगा और दुःखी होगा। जो राग न करेगा वह कर्मोंसे छूटेगा और सुखी होगा। गृहस्थोमे सद्गृहस्थ वह है जो गृहस्थीके प्रसगमे मध्यमे रहकर भी सदा अपना यह ज्ञान जागरूक बनाये रहते है कि मेरा तो जब यह देह भी नही है तो ये मिले हुए समागम मेरे क्या होगे ? घरमे रहना तो जैसे अज्ञानीका बना रहता है, ऐसे ही ज्ञानीका बना रहता है, किन्तु भावोकी दृष्टिके भेदसे ज्ञानी और अज्ञानी गृहस्थमे बडा अन्तर है। जिसका ज्ञान विशुद्ध है उसे आकुलता नही हो सकती, जिसका ज्ञान अपने इस विविक्त ज्ञानस्वरूपकी जानकारीसे दूर है वह सदा आकुलित रहता है। तो प्रभुकी परम आज्ञा यही है कि निर्मोह बनो, वीतराग बनो और अपने आपके स्वरूपमें बसे हुए परम आनन्दका भोग करो, आनन्दमय बनो।

परमेश्वरकी परम आज्ञा—भैया ! क्यो व्यर्थमे कष्ट सहा जा रहा है। कुछ मिलता भी नही, कुछ साथ भी नही, सब न्यारे-न्यारे काम है, फिर क्यो परवस्तुवोसे अनुराग किया जा रहा है, मोह किया जा रहा है ? सबसे विविक्त केवल एक निज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करें और प्रसन्न हो। परमेश्वरकी यह परमआज्ञा है। उसकी प्रभावना करनेके लिए यह पचास्तिसग्रहसूत्र बताया गया है। मार्गकी प्रभावना अर्थात् जिनेन्द्रदेवने क्या हुक्म दिया है, उनका शासन घोषित क्या है उसकी प्रभावना करना हो तो उसका यह ही तरीका है कि खुद ज्ञानी बनकर अपनी ही प्रमाणिक विशुद्ध परिणति बनाकर ख्यापन करें कि भगवानकी जिन-आज्ञा यह है अथवा यथाशक्ति जिन-आज्ञाका पालन करते हुए वस्तुके स्वरूपको बताते रहना यह भी मार्गकी प्रभावना है। सन्मार्गकी प्रभावनाके लिए ही यह पचास्तिसग्रहसूत्र बनाया गया है। इस ग्रन्थका नाम तो पचास्तिकाय सग्रह है, पर विश्लेषण दिया गया प्रवचनसार अर्थात् समस्त वस्तुके तत्त्वोका सूचक होनेसे प्रवचन तो बहुत विस्तृत होता है, पर समागम द्वादशाग रूप है, किन्तु उसका यह सारभूत है।

प्रवचनके सारकी आवश्यकताका कारण—जैसे बहुत-बहुत बातें होनेके बाद सुनने वाला कहता है कि अब समय थोडा है, इसके निचोडकी बात बताइए। तत्त्व क्या है, क्या

करना है ? अब हमे इस प्रकार परमागम तो बहुत विस्तृत है, पर हे प्रभो ! जीवन थोड़ा है हमे तो सारकी बात बताओ कि तत्त्व क्या है और हमे करना क्या है ? जीवनकी बात देखो तो मानो ८० वर्षकी उम्र हो तो बहुतसा हिस्सा तो बचपनमे निकल जाता है और आधा हिस्सा तो वैसे ही सोनेमे यो निकल जाता है। अन्तका बुढापेका हिस्सा व जवानीमे बनाये गए सस्कारोंके अनुसार चलता है। यदि जवानीमे धर्मसाधन न किया, अज्ञानभावसे रहे तो बुढापेमे भी वह अज्ञान-वासना और बढकर चलेगी। जवानीमे धनकी तृष्णामे समय बिताया तो बुढापेमे यह तृष्णा कई गुनी बढ जाती है। जिसने अपनी यौवन अवस्थाको ज्ञान और धर्मकी साधनाके लिये, सन्तोषके लिये महत्व दिया उसके बुढापेमे ज्ञान और धर्मकी साधना भी बढ जाती है। तो बुढापेमे स्वतन्त्रतया कुछ बात नही बनती। जो इसने जवानीमे भाव बनाया बस उसका फल बुढापेमे मिलता है। अब सोच लीजिए हमे धर्म कर्म करनेका एक कितना-सा मौका मिलता है ?

कर्तव्यके शीघ्र कर्तव्यकी प्रेरणाके लिये एक किंबदन्तीका दृष्टान्त—एक किम्बदन्ती है कि ब्रह्माने ४ जीव बनाए—मनुष्य, गधा, कुत्ता और उल्लू और सबको जिन्दगी मिली ४०-४० वर्षकी। सबसे पहिले उल्लूसे कहा—जावो तुम्हे पैदा किया।·· महाराज हमारा काम क्या होगा ?···अधे बने बैठे रहना, कुछ मिल जाय तो खा लेना। महाराज उम्र कितनी ? ४० वर्ष। महाराज उम्र कम कर दीजिए। अच्छा बीस वर्षकी उम्र कर दी। सो २० वर्ष काटकर तिजोरीमे रख लिया और २० वर्ष दे दिया। कुत्तेसे कहा—जावो तुम्हे पैदा किया। · महाराज काम ? जो तुम्हे टुकडे दे उसकी भक्ति करना, पूछ हिलाना। ·· महाराज उम्र ? · ४० वर्ष। उम्र कम कर दीजिए। · अच्छा २० वर्ष काटकर २० वर्ष की रक्खी। गधेसे कहा—जावो तुम्हे पैदा किया। महाराज काम ? दूसरोका बोझ ढोना और जो सूखा-रूखा भुस मिल जाय उसे खा लेना महाराज उम्र ? ४० वर्ष। उम्र कम कर दीजिए। · अच्छा २० वर्ष काटकर २० वर्ष रख दिये। मनुष्यसे कहा—जावो तुम्हे पैदा किया। ··महाराज मेरा काम ? खूब खेलना, खाना, सब पर हुक्म चलाना और परिवारका सुख लूटना। महाराज उम्र ? ४० वर्ष। उम्र कम है महाराज, उम्र और दीजिए। ··बस, ४० वर्ष ही रहने दीजिए।···नही महाराज, और बढ़ा दीजिए। · अच्छा देखता हू, यदि तिजोरीमे बची रखी होगी तो और बढा देगे। देखा तो वह तीनोकी कटी हुई ६० वर्षकी उम्र बची रखी थी। सो वह ६० वर्षकी उम्र भी मनुष्यको दे दी। अब हो गयी १०० वर्षकी उम्र। सो देखो—जब मनुष्य पैदा होता है तो ४० वर्ष तो उसके ईमानदारीके होते है, सो ४० वर्ष तो बडे अच्छे कटे। चिन्ता करे तो पिता। नया सम्बध हो, नये पुत्र पैदा हो, बहुत मौज माना। इसके बाद लगी फिर वह गधाकी २० वर्षकी उम्र। इसमे केवल एक

रहस्य लेना है। वहाँ गधे कुत्तेसे और कुछ मतलब नही है। जब गृहस्थीका बहुत बोझ हो गया तो लादना पडा, कमाना पडा, अब चैन नही मिलती। जब जहाँ भोजन मिला, खा लिया, भाग-दौड मच रही। ६० वर्षके बाद फिर हुई कुत्तेकी कटी हुई २० वर्षकी बाकी उम्र। ६० वर्षके बाद चार-छः लडके हो गए। जिस लडकेने ज्यादा प्रेमसे रक्खा उसके गीत गाने लगा, उसकी प्रीति बनने लगी। फिर ८० वर्षके बाद उल्लूकी कटी हुई उम्र मिली। तो आँखो नही दिखता, चलते नही बनता, जिसने जैसा खिला दिया, खा लिया। यह स्थिति बनती है। इसमे सारकी बात कहनेकी यह है कि जब तक बल है, जब तक बुढापा नही आया, जब तक आसक्ति नही आयी तब तक ज्ञान और धर्मके लिए जितना भी यत्न बन सके कर लेना चाहिए।

वर्णनसमाप्ति और विश्रान्ति—इस ग्रन्थमे प्रवचनका सारभूत वर्णन चल रहा है। प्रवचन तो अतिविस्तारमे है वह है द्वादशाङ्गमय परमागम। उसके सारमे ७ तत्त्व और ९ पदार्थोंका निश्चय और व्यवहारकी पद्धतिसे यहाँ वर्णन किया, जिससे इस आत्माको यह प्रेरणा मिली कि समग्र वस्तुएँ अत्यन्त भिन्न हैं, मेरा समग्र परवस्तुवोमे अत्यन्ताभाव है। किसीसे मुझमें कोई परिणति नही आती। किसी अन्य समागमसे कोई हित अथवा सुख नही है। मेरा सब कुछ मैं हू। मेरा स्वरूप ही स्वय सहज ज्ञान और आनन्दमय है। अपने इस स्वरूपको देखते रहनेकी दृष्टि मिले, यह प्रकाश इसके इस परमागमसे पाया तो परमागममे विशेष भक्ति उत्पन्न हुई। जो हितकी बात बताये, जो हितमे लगाये उसमे भक्ति विशेष जगती है तो उस प्रवचन भक्तिसे प्रेरित होकर यह पचास्तिकायसग्रहग्रथ बनाया गया है। लो मेरे द्वारा यह कहा गया। ऐसी समाप्तिकी बात यहाँ कही है। जैसे कोई बडा काम कर चुकनेपर एक विश्राति मिलती है। शास्त्रकारने यह भी सूचित कर दिया कि जो इस तरह किया हुआ काम है उसकी जब पूर्ति हो जाती है, अन्त हो जाता है तो कृतकृत्य होकर परमनैष्कर्षरूप जो आत्माका शुद्ध स्वरूप है उसमे विश्रान्ति होती है, यो ये शास्त्रकार भी विश्रात हो गए।

महापुरुषोकी निरहङ्कारता—इस ग्रन्थकी आत्मख्याति टीका पूज्य श्री अमृतचन्द्र सूरिने की है। वे टीकाकी समाप्ति करनेपर अपने भाव प्रदर्शित यो कर रहे है कि मैने क्या किया ? यह व्याख्या जो की गई है वह मेरे द्वारा नही की गई है। जो शब्द अपनी ही शक्तिसे वस्तुके तत्त्वकी सूचना करते हैं उन शब्दोके द्वारा यह ग्रन्थ बना, यह व्याख्या बनी। यह मैं तो स्वय गुप्त एक परमार्थदृष्टिसे देखा गया ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वय गुप्त हू। इस स्वरूप गुप्त मुझ आत्माका क्या कर्तव्य है ? बाहरमे कुछ भी नही है। इस प्रकार अपने निरहकारता का प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकारने ग्रन्थकी समाप्तिकी सूचना दी है।

ग्रन्थसे सारभूत शिक्षण—हम इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह शिक्षा लें कि हम अन्त-

र्वृत्ति ऐसी बनायें कि हम जिस किसी भी वस्तुको निरखें तो उसका स्वरूपस्वातंत्र्य हमारी निरखमे रहे। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे सत् है। मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे ही मेरा सत्त्व है, अन्यत्र मेरा कही कुछ नही है। न कोई मित्र, न कोई शत्रु, न कोई वैभव, न यह देह और की बात तो जाने दो, मेरेमे जो कल्पनाएँ उठती है, रागवृत्तियाँ जगती है, विकार भाव बनता है ये भी मेरे नही हैं। मै तो शाश्वत एक चैतन्यस्वरूपमात्र हू। उस शाश्वत परमार्थ निज तत्त्वकी हमारी दृष्टि अधिकाधिक रहे। बाह्यपदार्थोंमे दृष्टि न फसे, इसका महत्व हम समझें, ऐसी श्रद्धा, ऐसी वृत्ति हमारी बने तो हम प्रभुके वास्तवमे भक्त है। भगवानकी पूजा, भक्ति, उनके उपदेशको सुनकर क्या करना है? सही मायनेमे भक्ति तभी कह सकते है जब ससार, शरीर और भोगोसे वैराग्य प्रकट हो और हमे निज शाश्वत स्वरूपकी दृष्टिकी उमग जगे।

मोक्षमार्गी शिष्यका निरूपण—यह पञ्चास्तिकाय सग्रह नामका ग्रंथ है। इसकी समाप्ति पर कुछ थोडा इस विषयपर ध्यान देना है कि कुन्दकुन्ददेवने यह ग्रथ शिष्योके सम्बोधनके लिए बनाया है। शिष्य किसे कहते है? जो शिक्षा ग्रहण करे उसे शिष्य कहते है। शिक्षा योग्य पुरुष कौन होता है? उस शिष्यकी कब कब क्या स्थिति बनती है? उस शिष्य के स्वरूप विवरणके लिए जो परमतत्त्वके आराधक पुरुष है उनकी अब परिस्थितिया बतायी जा रही है। पुरुष कैसे दीक्षा लेते है, कैसे शिक्षा ग्रहण करते है और कैसी व्यवस्थासे रहते है—ये सब बाते काल भेद करके समझनी चाहिएँ। शिष्यके ६ काल होते है। काल कहो, परिस्थिति कहो, जिस समयमे जो परिस्थिति हो उस परिस्थितिको यहा काल कहा गया है। एक दीक्षाका काल, दूसरा शिक्षाकाल, तीसरा गणपोषणकाल, चौथा—आत्मसस्कार, ५ वा सल्लेखना और छठा उत्तमार्थकाल। एक उन्नतिका चाहने वाला पुरुष कैसे-कैसे भावोसे बढ़ते हुए उन्नतिकी चरम सीमा प्राप्त कर लेता है? यह वर्णन इन छहो कालोमे है।

दीक्षाकाल—प्रथम तो कोई आसन्नभव्य जिसका होनहार निकट कालमे ही भला होनेको है भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रयसे युक्त किसी आचार्यके समीप जाता है अर्थात् जो यथार्थ तत्त्वका श्रद्धानी है, यथार्थ तत्त्वका ज्ञानी है और यथार्थ आत्माका जिसके आचरण है, जो ससार, शरीर, भोगोसे विरक्त है, जिसे किसी परवस्तुसे कुछ प्रयोजन नही रहा, ऐसे आचार्यके समीप जाता है। वहाँ जाकर अपने आत्मतत्त्वकी आराधनाके लिए समस्त बाह्य आभ्यतर परिग्रहोको त्याग देता है, जिनदीक्षा ग्रहण करता है वह तो है इसका दीक्षाकाल। जिस समयसे मोक्षमार्गमे इसका प्रयत्न विशेष चलने लगे वह प्रारम्भिक काल है और वह दीक्षासे पहिले शुरू नही होता। आत्मतत्त्वकी आराधना करने वाले शिष्य कैसे हुआ करते है, इस सम्बन्धमे इस कालमे वर्णन है।

शिक्षाकाल—इसके पश्चात् आता है शिक्षाकाल। बहुतसे लोग यो सोच सकते है कि ठीक तो यह जचता है कि पहिले शिक्षा ग्रहण की जाय, फिर दीक्षा ली जाय। यहाँ क्रममे बता रहे है कि पहिले दीक्षा होती है, फिर दीक्षा चलती है। यह कैसा श्रम है ? इसके समाधानमे इतना ही समझिये कि किसी भी प्रकारकी शिक्षाका आरम्भ होनेसे पहिले दीक्षा नियम से सबकी हो ही जाती है। उस दीक्षासे जो कि इसमे बताया है मुनि दीक्षा ले उससे पहले जिस शिक्षाकी जरूरत है उस शिक्षाकी बात नही कह रहे है। उस शिक्षाके लिए उस योग्य दीक्षा ली जाती है। बच्चोको देखा होगा जब उन्हे अ इ उ शुरू करते है तो विद्या आरम्भकी दीक्षा दिलाई जाती है। दीक्षाका अर्थ इस समय साधुपनेसे न ले, किन्तु जिस विषयका कार्य कराना है उस विषयका सकल्प कराना, लोगोको हो जाता है—यह दीक्षा है। किसी भी प्रकारकी शिक्षा हो वह दीक्षापूर्वक हुआ करती है। पहिले समयमे यह विशेष परिपाटी थी और कुछ-कुछ आज भी होगी, शुरू शुरूके दिन प्रारम्भिक दिनोमे जब बच्चोको अ इ उ सिखानेमे लिए पाठशालामे भेजते है तो साथ ही कुछ मिठाई बताशे आदि चीजें साथ ले जायी जाती हैं कुछ बच्चोको बाँटनेके लिए। वह अ इ उ की शिक्षाकी दीक्षा है और उस दिनसे यह प्रकट हो गया कि अब यह बालक रोज-रोज पढने लगेगा। इस तरह सभी प्रकारकी शिक्षाओं मे किसी न किसी रूपमे आप दीक्षा पायेंगे।

दीक्षापूर्वक शिक्षा—जिस शिष्यको एक ऐसी शिक्षा दिलाते हैं जो मोक्षमार्गमे ही बढाये और ज्ञानकी बात सिखाये ऐसी उत्कृष्ट शिक्षाके लिए क्या तैयारी करनी चाहिए शिष्य को, उस तैयारीका नाम यह मुनिदीक्षा है। दीक्षाके बाद निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय और परमात्मतत्त्वके परिज्ञानके लिए विशुद्ध तत्त्वका प्रतिपादन करने वाले अध्यात्मशास्त्रमे जब यह शिक्षाको ग्रहण करता है तो वह है शिक्षाकाल। इसमे मोक्षमार्गकी विद्या बताते है तो उसके अनुरूप ही ये ६ काल कहे जाते है।

गणपोषणकाल—शिक्षाके बाद गणपोषणकाल होता है, केवल दीक्षा और शिक्षासे काम नही चला। अपने साथमे रहने वाले मित्रजन, इस ही मोक्षमार्गकी शिक्षा दीक्षामे लगे हुए सधर्मीजन, उनमे चर्चा करना, परमात्मतत्त्वके बतानेकी बात करना यही हुआ गणपोषण काल। जैसे थोडी देरको इस ओर ध्यान दें जब यहाँ लोगोने जीवस्थानचर्चा पढी थी, कोई दिन मुकर्रर किया था ना कि इस दिनसे यह प्रारम्भ होगा और उस दिन लोग सकल्प ले करके आये अबसे यह कक्षा चलेगी लघुजीवस्थानचर्चाकी और उस तैयारीके साथ बैठे हुए थे कि नाम लिखाये, सकल्प हुआ, अध्ययन करेंगे, यह अध्ययन करेंगे, यह हुई उस कक्षाकी दीक्षा और उसके बाद फिर शिक्षा चली, लोगोने पढा, पर केवल इतना पढने मात्रसे काम नही निकला तो किसी समय या अन्य समय या रात्रिके समय थोडा उसे दुहराने लगे, बताने

लगे, वह हुआ गणपोषणकाल । दृष्टान्तमे जिन्हे शिक्षा द्वारा मोक्षमार्गमे स्थित कराया अथवा उसकी चाह करने वाले भव्य पुरुषोको उस परमतत्त्वके बतानेसे उनके आत्माका पोषण करना है वह है यही गणपोषणकाल । लौकिक विद्यामे और मोक्षमार्गकी विद्यामे कुछ अन्तर है, लौकिक विद्या पढनेके बाद दृष्टि बाहर रहनेका ही काम है करीब-करीब । पर मोक्षमार्गकी विद्याको पढ़े और उसे अपने ऊपर घटाये तो उसका विशद ज्ञान होता है ।

आत्मसंस्कारकाल—गणपोषण तो हुआ अर्थात् ज्ञानवृद्धिका आदान-प्रदान, पर इतने से काम नही निकला मोक्षमार्गमे, तो उसके बाद जो निज परमात्मतत्त्व है उसमे शुद्ध सस्कार बनानेका यत्न होता है । गणको छोडकर अर्थात् फिर अपने सधर्मीजनोपर भी दृष्टि न रखकर केवल निज शुद्ध आत्मस्वरूपमे सस्कार बनाना वह है आत्मसस्कारकाल । अब यहाँ कुछ ऐसी दृष्टिसे सुनते जाइये कि दीक्षा बिना काम नही चला, शिक्षा बिना भी नही चला, गणपोषण भी आवश्यक हुआ और अब गणको त्यागकर, अपने उन सहयोगी सतजनोके ख्यालको छोड-कर एक निज परमात्मतत्त्वमे, निजस्वरूपमे मग्न होनेका यत्न करना, उसकी दृष्टिका अभ्यास बनाना यह हुआ आत्मसस्कारकाल । यहाँ तक बात बनी ।

सल्लेखनाकाल—आत्मसस्कार कालके बाद उस आत्मसस्कारको स्थिर बनानेके लिए जो क्षण-क्षणमे उठ रहे रागादिक विकल्प है उनका सल्लेखन करना होगा । एक बार ज्ञान प्राप्त होने पर भी और आत्मसस्कारमे लग जाने पर भी काम अभी रागके खतम करनेका पडा हुआ ही है । तो रागादिक भावोसे रहित अनन्तज्ञानादिक गुणसम्पन्न परमात्मपदार्थमे स्थित होकर रागादिक विकल्पोका सल्लेखन करना इसका नाम है सल्लेखना काल । कषायो की सल्लेखना की, इस तरह शिष्यकी ये ५ परिस्थिति बताई ।

उत्तमार्थ काल—सल्लेखनाकालके बाद शुद्ध ज्ञान चारित्र और तपकी प्रयोगात्मक उत्कृष्ट आराधना होनी चाहिए, क्योकि सब कुछ करनेका प्रयोजन यही था । दीक्षा लेनेका क्या प्रयोजन था ? यह कोई सिद्धिका रूप है ? शिक्षा लेना, अभ्यास लेना, प्रयत्न करना यह कोई सिद्धिका रूप है ? सिद्धिका रूप तो आराधना है और ऐसी आराधना, जिस आराधनाके फलमे मुक्ति अवश्यभावी है. ऐसी विशुद्ध पद्धतिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी उपासना करना यही है उत्तमार्थकाल । जो उत्तम अर्थ है, आत्माका जो उत्कृष्ट प्रयोजन है उस प्रयोजनकी सिद्धि करना । यह आत्मा शुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी है । जैसे किसी चीजकी परीक्षा करना है तो उसमे यह निर्णय करना कि यह बना कैसे ? इसका स्वरूप क्या है ? इसमे चीज क्या क्या है ? ऐसा आत्मामे सोचिये—प्रत्येक प्राणी मैं मैं का प्रत्यय कर रहा है । मैं हू, मैं हू, जिसमे अहभावना उठ रही है वह मै किमात्मक हू ? अपने-अपने अतरङ्गमे उसकी खोज कीजियेगा । मैं आत्मा क्या हू, कैसा हू ? अत झुकाव करनेसे ही इसका समाधान मिलता

है। बाहरी समस्त वस्तुवोको भूल जानेपर जो एक सहज विश्राम मिलता है, उसमे इसका समाधान मिलेगा। वह समाधान मिलेगा मैं एक ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव वाला हू। इस मुझ आत्माका काम है और क्या ? मात्र जानन देखन। तो विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाव वाले अपने आत्मद्रव्यका सही श्रद्धान होना, ज्ञान होना और इस ही स्वरूपमे रम जाना, समस्त बाह्यद्रव्यो की इच्छाका विघात कर जाना, यही है दर्शन आराधन, ज्ञान आराधन, चारित्र आराधन और तप आराधन। ऐसी उत्कृष्ट आराधना होना याने अपने स्वरूपके कुछ सन्निकट होना जिस परिस्थितिके बादमे भवसे मोक्ष हो जाय वह है उत्तमार्थ काल।

षट्कालोका योग्यतानुसार नियमन—जो परमशिष्य है, निकटभव्य है, तद्भवमोक्षगामी है, उसके जीवनमे ये ६ परिस्थितियाँ आती है, किन्तु केवल यह पूर्ण नियम नही बनाना कि क्रमसे ये ६ काल सबके आते ही है तब मोक्ष होता है यह भी प्राय नियम है। जैसे प्रायः यह नियम है कि कोई मुनि बने और फिर इस तरह आहारको निकले, इस तरह चले उठे, आदान निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापनासमिति, इस प्रकार बोले, इस प्रकार आहार ग्रहण करे, ५ समितियोका यो पालन करे, तपश्चरण करे, ध्यान करें, उसके कर्मोकी निर्जरा होती है और उसका मोक्ष होगा। कोई यो पूछे—क्योजी बाहुबलि स्वामीका फिर क्यो मोक्ष हो गया ? उन्होने न एषणासमिति पाली, न आदाननिक्षेपणसमिति पाली। उन्होने दीक्षा ली वही खडे रहे एक वर्ष तक। पश्चात् उन्हे मोक्ष हो गया। तो ये सब क्रियायें एक मार्गकी है। कितनी अनेक बातोसे धर्मका प्रयोग करें और मोक्ष हो जाय, पर यह न होगा कि बहुत काल रहे और बिना व्यवहार प्रयोगके वह अपनी साधना बना सके। ये ६ प्रकारके काल कहे गये है। इनमे कोई दीक्षा लेनेके बाद ही उत्तमार्थकाल प्राप्त कर ले, न शिक्षा ले, न गणपोषण करे, जैसे भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेनेके बाद ही उन्हे केवलज्ञान हो गया, पर यह एक प्राय करके जैसा नियम न होना चाहिए वह बताया गया है। किसीका भाग्य प्रबल हो, आँखोसे न दिखता हो और उसे ठोकर लग जाय और ठोकर लगनेसे, पत्थर निकालनेसे धन मिल जाय तो ऐसा सब व्यापारी तो न करने लगेंगे कि अधे बन जाये, आँखोमे पट्टी बाँध लें और लाठी लेकर अधेकी तरह चलें, कोई पत्थर पहिलेसे देख ले, इसमे हम अपने पैरकी ठोकर मारेंगे और फिर खोदेंगे और धन निकलेगा, तो यो तो धन नही निकलता। ऐसा हो गया किसीको। तो ऐसे ही जिसकी योग्यता विशेष है वह दीक्षाकालके बाद ही उत्तमार्थकाल प्राप्त कर सकेगा। कोई शिक्षा गणपोषणके बाद कर ले पर नियम ऐसा ही है, किन्तु जो अपनी साधना लम्बी बनाये तो उसके जीवनमे ये ६ प्रकारकी परिस्थितिया आती है।

प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगीकी योग्यता—इससे तात्पर्य यह समझना कि ध्याता २ प्रकारके होते है—एक प्रारब्धयोगी, एक निष्पन्नयोगी। जो शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना

प्रारम्भ करते है उनके सूक्ष्म विकल्प चलते रहते है और वे अपनी ध्यानसाधनासे उन विकल्पो से निवृत्त होनेका यत्न कर रहे है वे सब प्रारब्धयोगी है। और जब ही वे निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्वकी अवस्थामे पहुचते है, निर्विकल्प समाधिभावमे आते है तो वे निष्पन्नयोगी कहलाते है। तो जो आरब्धयोगी है उनकी इस प्रकार ६ परिस्थितिया होती है और फिर वे निष्पन्न योगी बनकर उत्कृष्ट सम्वर और निर्जरा करते है। जब आत्महितमे लगनेसे आत्महितमे ये शिष्यजन जुटते है तो पहिली स्थिति उत्कृष्ट स्वाधीन आत्मीय आनन्दके अनुभवकी स्थिति बनती है। मोक्षमार्ग आनन्दसे तो प्रारम्भ होता है और आनन्दमे ही समाप्त होता है। मोक्षमार्ग न कष्टसे प्रारम्भ होता है और न कष्टसे समाप्त होता है। जिसे मोक्षमार्ग मोक्षकी योग्यता, मोक्षका पात्र यह सब कुछ यथार्थ ध्यानमे जचा है वही पुरुप अपने उपयोगका प्रयोग अपने शुद्ध स्वरूपपर करता है और आनन्दका अनुभव किया करता है। उस आनदमे जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे ही वैसे ध्यानकी साधना बढती है। फिर निर्विकल्पस्वसम्वेदन ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसकी वृद्धि होती है। फिर उसके जीवनमे ऋद्धियाँ उत्पन्न होती है, ऋद्धियोकी वृद्धि होती है। उन्हे स्वय यह विदित नही रहता कि मुझे अमुक सिद्धि हुई है, पर आत्मविकासकी पद्धति ही ऐसी है कि वे सब समृद्धियाँ होती रहती है।

आनन्दमे धर्मका प्रारम्भ व धर्मकी परिपूर्णता—यह शिवार्थी अन्तमे इस विशुद्ध ध्यानके फलमे शाश्वत असीम आनन्दकी प्राप्ति कर लेता है। यह मोक्षमार्गका कदम आनन्दसे ही तो शुरू होता और आनन्दमे ही समाप्त होता है। जो मनुष्य ऐसा सोचते है कि मुझे धर्म करते हुए बहुत दिन हो गए, कोई आनन्द नही मिला, दरिद्रता ज्योकी त्यो रही और विपदायें भी आती रही, यह क्या मामला है ? मामला क्या है ? मामला यही है कि उसने धर्म किया नही। धर्म आनन्दसे शुरू होता है और धर्मकी परिपूर्णता आनन्दमे हुआ करती है। अपने निर्विकल्प ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्माका स्पर्श करना, यही है धर्म। यह धर्म आनन्दभाव को लिए हुए ही रहता है।

षट्कालोका व्यावहारिक निरूपण—ये ६ काल आते है, उनसे यह हमे ज्ञान होता है कि जो मोक्षमार्गमे उत्कृष्ट शिष्य है उसको किस-किस प्रकारसे चलना चाहिए ? मोटे रूपमे व्यवहाराचरणके रूपमे, आगमकी भाषामे उन्हे यो समझ लीजिये कि कोई भी पुरुष निर्दोष पचाचारका आचरण करने वाले आचार्यके पास पहुचकर परिग्रहरहित होता है वह तो दीक्षा है। दीक्षाके बादमे जो प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग—चार प्रकारके ग्रन्थोका अध्ययन करता है वह है शिक्षाकाल और शिक्षाकालके बाद इन अनुयोगोके व्याख्यान से जो शिष्यसमूहका पोषण करते है उनके आत्मामे उत्साह और मोक्षमार्गकी दिशा दिखती है। इस स्थितिका नाम है गणपोषणकाल। गणपोषण होता है भावनासे। तपश्चरणकी भावना

होना, विषय-कषायोके विजयकी भावना होना, आगमके अभ्यासकी भावना होना, इन सब भावनाओंसे आत्माका संस्कार बनाया जाता है। उस आत्मसंस्कारके पश्चात् अर्थात् ऐसी जिन्दगीभर साधना की, उसके बाद अन्तमे जब मरण निकट होता है, शरीर शिथिल हो जाता है तो वे शरीरको बलिष्ट बनानेका यत्न नही रखते, किन्तु आहार आदिकका त्याग रखते है। वह सल्लेखना है और पश्चात् समाधिभावसे देहका विसर्जन करना सो उत्तमार्थकाल है। इस तरह अपनेको यो ज्ञानके पोषणमे लगाने वाले शिष्य निर्वाणके निकट पहुचते है।

आत्मकर्तव्य—इस समग्र परिभाषणमे हम आपको यह ध्यानमे लाना है कि ये समागम ही सब कुछ नही हैं, ये तो भिन्न ही है। हमे अपने आत्मामे ज्ञानसंस्कार बनाना है कि अधिक समय दृष्टि हमारी ज्ञानस्वभावपर रहे और उस दृष्टिके प्रसादसे हम आकुलतावोसे दूर रहे और अपने आनन्दस्वरूपका अनुभवन करते रहे। भैया! यह अतीव दुर्लभ धर्मसमागम पाया है, ज्ञानावरणका भी विशेष क्षयोपशम पाया है। इस समस्त धर्मसामग्रीका सदुपयोग कीजिये। श्रद्धावान् होकर ज्ञानका अर्जन करके निज ज्ञानस्वरूपमे मग्न होनेका यत्न कीजिये। इस ही पुरुषार्थसे अपना यह समय सफल होगा।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"पञ्चास्तिकाय प्रवचन" का यह षष्ठ भाग सम्पन्न हुआ।

Bhartiya Shruti-Darshan Kendra
JAIPUR